

श्रीमद्-बहुभाष्यार्थ-महाप्रभु-विरचित-घोडश-ग्रन्थान्तर्गतो-अष्टमो

विवेकधैर्याश्रयः

(समस्त चार संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, गुर्जरानुवाद, श्लोकार्थ, ग्रंथसार एवम्

आलोका

(टीका सहित)



: संपादक व लेखक :

गोस्वामी राजकुमार

: प्रकाशक :

गोस्वामी राजकुमार नृत्योपालजी

"चरणाट" बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. • दूरभाष : २८८४ ६५०६
वि. सं. २०६० • बहुभाष्य ५२६

प्रति : १०००

श्रीगद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-घोडश-ग्रन्थान्तर्गतो-अष्टमो

विवेकधैर्याश्रयः

अनुक्रमणिका

क्रमांक	पृष्ठसंख्या
१. विवेकधैर्याश्रय (मूल पाठ).....	१
२. श्लोकार्थ (गुजराती).....	३
३. श्लोकार्थ (हिंदी).....	५
४. ग्रंथसार (गुजराती).....	७
५. ग्रंथसार (हिंदी).....	१२
६. श्रीरघुनाथानां दीपिका.....	१७
७. श्रीगोपीशानां विवृतिः.....	३४
८. श्रीगोकुलोत्सवानां विवृतिः.....	७३
९. श्रीब्रजरायाणां विवृतिः.....	११९



विवेकधैर्याश्रयः ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करियति ॥ १ ॥

प्राथिते वा ततः किं स्यात् स्याम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

विशेषतश्चेदाङ्गा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषेणेत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोऽन्यं समाख्याते धैर्यं तु विनिस्त्रप्यते ॥ ५ ॥

त्रिदुःखसहनं धैर्यमासृते: सर्वतः सदा ।

तक्षवैद्यवद्वायं जडवद्वोपमार्पवत् ॥ ६ ॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धथेनाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायचाड्मनसा त्वजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतस्हनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निस्त्रप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिकं परलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामायपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रेष्टे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहंकाराकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्वेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्था शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं चाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेषपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा वाधकस्तु सः ।

ब्रह्मात्मचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

यथाकथंचित्कार्याणि कुर्यादुचावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्वरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलो भक्त्यादिमार्गां हि दुःखाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीब्रह्माभार्यविरचितो विवेकधैर्याश्रयः समाप्तः ॥

इलोकार्थ

५४४

विवेकैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

'विवेक' एवं 'धैर्य' की सतत रक्षा करनी संभाल रखनी चाहिए, उसी प्रकार आश्रय की भी रक्षा करनी संभालना चाहिए । 'विवेक' तो यह है कि, "हरि सभी कुछ अपनी इच्छा से करेंगे" ।

प्रायिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

भगवान से प्रार्थना करने से क्या होगा ? कुछ भी नहीं, व्यौकि हमारे स्वामी-भगवान का अभिप्राय हमारे विषय में क्या है, यह जानना संदिग्ध है (अर्थात् हम जान नहीं सकते) । अतः सर्वत्र सभी कुछ हरि का ही है और वे सर्वसामर्थ्यवान हैं ।

अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

"हम हमारे स्वामी के अधीन हैं" ऐसी भावना रखते हुए अभिमान का भलीभौति त्याग करना चाहिए ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषणत्यादि भाव्यं विनां तु दैहिकात् ।

यदि कभी भगवान की कोई विशेष-आज्ञा हमारे अन्तःकरण में सुरित हो, तब अपनी देह से, परिवारजन से एवं लौकिक कार्यों से अलग कोई प्रभुसुख के निमित्त अलौकिक-आज्ञा को ही स्वीकार करके तदनुसार मन में भावना करके कार्य करना चाहिए ।

आपद्रत्यादिकार्येणु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माप्रदर्शनम् ।

आपत्तिकाल में हठ का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । धर्म और अधर्म का ध्यान रखते समरत लौकिक कार्यों में अनाग्रह रखना चाहिए ।

विवेकोऽयं समाख्यातो वैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त वाक्यों से 'विवेक' का स्वरूप कह दिया गया, अब 'धैर्य' का स्वरूप निरूपण कर रहे हैं ।

त्रिदुर्लभसहनं वैर्यमामृतः सर्वतः सदा ।

तक्रवदेहवद्वायं जडवद्वेषभाव्यत् ॥ ६ ॥

सभी प्रकार से, सदा तीन प्रकार के दुःखों को सहन करना 'धैर्य' है । छाल की तरह, देह की तरह, जड़भरतजी की तरह और गोपिकाओं की तरह धैर्य रखना चाहिए ।

प्रतीकारो वद्वच्छातः सिद्धश्चेनाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येपासमतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदि भगवदिच्छा से अपनेआप ही दुःख दूर हो जा रहा हो तो फिर दुःख सहन करने का आग्रही नहीं होना चाहिए । पत्नी, अन्य परिवारजनों एवं अन्य दुष्टजनों का आक्रमण भी सहन कर लेना चाहिए ।

स्वयमिद्विकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अश्वेषणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

इदियों के विषयक कार्यों को हमें स्वयं काया-वाणी-मन के द्वारा त्याग देना चाहिए । ऐसा करने में निर्वत व्यक्तियों को भी भगवान के प्रति खुद की असर्थता की भावना करते हुए इन कार्यों को त्याग देना चाहिए ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

अशक्य परिस्थितियों में हमारे सभी कुछ हरि ही हैं और उनका आश्रय करने से सभी कुछ सिद्ध हो जाता है ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निस्त्वयते ॥ ९ ॥

इस प्रकार से सभी कुछ सहन करने के द्वारा 'धैर्य' का स्वरूप कह दिया गया है । अब 'आश्रय' का स्वरूप निरूपित कर रहे हैं ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेशतिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

लौकिक कार्यों को पूर्ण करने में, अलौकिक कार्यों को पूर्ण करने में सर्वथा हरि ही हमारी शरण हैं । दुःख दूर हो जाय, पाप से छुटकारा पाना हो, भयमुक्त होना हो, कामनाओं की पूर्ति न हुई हो, हमसे किसी भक्त का द्रोह हो जाय या कोई भक्त हमसे द्रोह करे, हममें भक्ति न हो, कोई भक्त हमारा अनादर करें इत्यादि संभव-असंभव सभी परिस्थितियों में सर्वथा 'हरि' ही हमारी शरण हैं ।

अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्वेबास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धो सर्वथा शरणं हरिः ।

हम जीवस्वभाववश परिवारजनों का पालनपोषण करने में अहंकार कर रेठें, परिवारजन हमारा अनादर करते हों, हमारे शिष्य हमारा अनादर करते हों या मन को अलौकिक करना हो इत्यादि समस्त परिस्थितियों में 'हरि' ही हमारी शरण हैं ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं बाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार से चित्त में सदा 'हरि' की शरणभावना करनी चाहिए एवं वाणी से उनका कीर्तन करना चाहिए ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

हमारे पुष्टिप्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भजनं, स्वयं इच्छा करके उनके पास जाना इत्यादि सभी कुछ त्वाग देना चाहिए । किसी भी कार्य के लिए अन्य देवताओं से प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिए ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्वचातकौ भाव्यौ प्राप्तं संवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

भगवान पर अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सर्वथा बाधक है । भगवान पर अविश्वास करना बाधक है- यह 'ब्रह्मास्व' वाले उदाहरण से एवं विश्वास फलदायी है- यह 'चातकपक्षी' के उदाहरण से समझना चाहिए । इन दोनों की भावना करते हुए जो प्राप्त हो जाय, उसमें ममतारहित होकर प्रभुसेवा करनी चाहिए ।

यथाकथंचिन्कार्याणि कुर्यादुच्चाबचान्यपि ।

किं वा प्रोकेन बहुना शरणं भारयेऽरिम् ॥ १६ ॥

छोटे-बड़े जो जैसे कार्य हों, उन सभी में हरि की शरणभावना करनी चाहिए, इससे अधिक और क्या कहें ?

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

इस प्रकार 'आश्रय' का स्वरूप कह दिया गया है, जो सभी के लिए सर्वदा हितकारी है क्योंकि कलियुग में अन्य भक्ति-आदि मार्ग तो बड़े कठिन हैं - यह मेरी मति है ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
 श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
 श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
 श्रीमदस्पृभूमण्डलाचार्यबर्यश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीरघुनाथचरणप्रकटिता दीपिका ।

ॐ औऽहं

स्वगोकुलपरित्राणसम्भवेषोद्धृताचलम् ।

क्रीडद्वापाङ्गनापाङ्गसङ्गिगोपालमाश्रये ॥ १ ॥

मन्मानसेऽस्तु सततं श्रीविद्वलपदाम्बुजम् ।

संसारभयमीतानां यत्स्मृतिर्भयनाशिनी ॥ २ ॥

पोताना गोकुलने तारवा सहस्रा उच्ची लीघो गिरिपर क२,

आवी कीडा क२वा वाणा, व्रजगोपीओना कटाक्षसंगी “गोपालने” छुं हुं शरणे ॥ १ ॥

भारा भनयां हले सहा श्रीविद्वलपदकभल;

के तेमनी स्मृति संसारभयलीतोनी भीतीनो करे नाश ॥ २ ॥

अपने गोकुल का कल्याण करने के लिए जिन्होने सहसा ही प्रियर्वत उठा लिया;

ऐसे क्रीडा करते हुए, गोपांगनाओं के कटाक्ष के संगी ‘गोपाल’ की मैं शरण लेता हूँ ॥ १ ॥

मेरे मन में श्रीविद्वल के चरणकमलों की स्मृति सतत बनी रहे,

जो स्मृति संसार से भयमीतों की भयनाशिनी है ॥ २ ॥

अथ भगवन्मार्गप्रवृत्तानामेकान्तिकभक्तानां भक्तिं सिसाथयिषुणां तत्साधनोपायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षण-लक्षितान् विवेकुमादौ तानसाधारणस्वशब्देन निर्दिशन्ति ।

विवेकधैर्यं सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

रक्षणीये स्वीकार्ये । तत्र विवेकादयः कीदृशा इति स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमोद्दिष्टस्य विवेकस्य फलितस्वरूपमाहुर्विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति । तुशब्दः प्रसिद्धियोतनार्थः । अन्यथाऽप्रमाणिकत्वं स्यात् । हरति त्रिविधमपि भक्तुः समितिन्युत्पत्ता सकलदुर्घटहारिसमिव्याहारिहरिदेन, ‘भगवान् करिष्यति वे’त्यविश्वासो निरस्तो वेदितव्यः । हरिपदनिर्वचनन्तु महाभाते सुटम् । तदथा, ‘हराम्यधं हि स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिचेष्टस्माद्विरहं स्मृत्’इति । सर्वमैहिंक पारलौकिकं निजेच्छातो जीवाद्यप्रयत्नादिनिरपेक्षालौकिकस्वेच्छात इत्यर्थः । एवं वाक्यार्थानुसन्धानेन स्थेयमितितत्पर्यम् ।

हुवे, भगवह-मार्गामां प्रवृत्त थयेला ऐकातिक भक्त, जेओ भक्तिनी साधना क२वा भांगे छे, ते भक्तिने साधनाना उपाय विवेक-धैर्य-आश्रयनु निझपाण क२वा मां आवी रह्युं छे. आम तो ते उपायो खोत-पोताना असाधारण लक्षणो थी लक्षित थई ९ जय छे परंतु आशार्थयरणो सर्वप्रथम येमने साधारणउपर्युक्ती खोताना शब्दो द्वारा कही रह्या छे.

‘रक्षणीये’ शब्दनो अर्थ थाथ छे, स्वीकारवुं-अर्थात् विवेक-धैर्य ने अनुसार रहेयुं लेईअ. परंतु विवेक-वगेरे केवा/शुं छे ? आवी विवेक वगेरेनां स्वप्नप नी लज्जासा थवा पर अहीं पहेला कहेवामां आवी रहेला विवेकनुं फलितस्वप्नप (अर्थात् अेवुं स्वप्नप के जेनुं ज्ञान थया पछी ते फल आपवानो आरंभ करी हे) “विवेकस्तु.....करिष्यति” वगेरे शब्दोथी आशार्थयरणो कही रह्या छे. अहीं ‘तु’ शब्द “हरि सर्वं कांઈ खोतानी ईच्छाथीज करे छे” आ वाक्य नी प्रसिद्ध भतावथा भाटे छे. नहीं तो ते अप्राभाविक थई जशे. “ने भक्तोना ग्रंथ प्रकारनां दुःखो-आधिभौतिक, आध्यात्मिक अने आविदेविक्ने

हरी ले छे, तेमने “‘हरि’” कहे छे—“‘हरि’” शब्दना आ अर्थ द्वारा संयुक्तरूपे आ समस्त दुःखोनुं हरण ‘हरि’ शब्द द्वारा थर्ड ज्यय छे तेथी “‘भगवान् करशे के नहीं” ऐवो अविश्वास दूर थर्ड गयो ऐम ज्ञानी लेवुं ज्ञेष्ठाचे. “‘हरि’” पदनो अर्थ तो महाभारतमां स्पष्ट रीते वाख्यविलो छे. त्यां हरि-पद आटे, “‘माझे स्मरण करवा वाणा ना पाप अने यशो मां आपवामां आवधी आहुतिनुं हुं हरण करी लर्ड लर्ड छुं, तेथी माझे नाम ‘हरि’ छे,” ऐम कहेवामां आव्युं छे. “निजेच्छातः करिष्यति” नो अर्थ ए छे के लौडिक-अलौडिक समस्त कार्ये ने भगवान् पोतानी ईच्छाधी एटलेके लुप्तना भाष्य डे प्रयत्न वगेरेनी अपेक्षा न राखता, पोतानी अलौडिक ईच्छाधी करशे. आ वाक्य ना अर्थनुं अनुसंधान राखता राखता रहेवुं ज्ञेष्ठाचे, ऐवो अर्थ छे.

अथ भगवद्-मार्ग में प्रवृत्त हुए एकांतिक भक्त, जो भक्ति को साधना चाहते हैं, उस भक्ति को साधने के उपाय विवेक-धैर्य-आश्रय का निरूपण किया जाता है। यों तो ये अपने-अपने असाधारण लक्षणों से लक्षित हो ही जाते हैं परंतु आचार्यचरण रावग्रन्थम इहें साधारणरूप से अपने शब्दों द्वारा कह रहे हैं।

रक्षणीये शब्द का अर्थ होता है, स्वीकारना अर्थात् विवेक-धैर्य के अनुसार रहना चाहिए। परंतु विवेक-आदि कैसे/क्या हैं? ऐसी विवेक-आदि के स्वरूप की जिजासा होने पर यहाँ प्रथमतया उद्घित हुए विवेक का फलितस्वरूप अर्थात् ऐसा स्वरूप जिसका ज्ञान हो जाने पर वह फल देना आरंभ कर दे विवेकस्तु.....करिष्यति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ ‘तु’ शब्द “‘हरि सभी कुछ अपनी इच्छा से ही करते हैं” इस वाक्य की प्रसिद्धि बताने के लिए है अन्यथा ये अप्रामाणिक हो जायेगा। “जो भक्तों के तीन प्रकार के दुःखों आधिदैविक, आधिमौतिक, आध्यात्मिक को हर लेते हैं, उनको ‘हरि’ कहते हैं” “हरि” शब्द के इस अर्थ के द्वारा संयुक्तरूप से इन समस्त दुःखों का हरण “हरि” पद के द्वारा हो जाता है अतः “भगवान् कर्गे या नहीं” इस प्रकार का अविश्वास निरस्त हो गया जान लेना चाहिए। “हरि” पद का अर्थ तो महाभारत में स्पष्टतया वर्णित है। वहाँ हरि पद के लिए—“मेरा स्मरण करने वालों के पाप एवं यज्ञों में दी जाने वाली आहुति का मैं हरण कर लेता ले लेता हूँ, अतः मेरा नाम ‘हरि’ है”—इस प्रकार से कहा गया है। ‘निजेच्छातः करिष्यति’ का अर्थ यह है कि लौकिक-अलौकिक समस्त कार्यों को भगवान् अपनी इच्छा से अर्थात् जीव के भाष्य एवं प्रयत्न-आदि की अपेक्षा न रखते हुए अपनी अलैकिक इच्छा से करेंगे। इस वाक्य के अर्थ का अनुसंधान रखते हुए रहना चाहिए, यह तात्पर्य है।

‘ननु लोके भगवद्भक्तानामपि प्रौढुःखदूरीकरणार्थं भगवान् प्रार्थनीय एव। तस्मादशक्यार्थोपदेश एवायं पङ्गार्गीरिलङ्घनविदेशोकोपदेश इत्यत अहुः।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

. सर्वत्र तस्य सर्वे हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

वेति विकाये विवेकास्मूर्तिदसायाम् । ततः प्रार्थनातः किं स्यान् किमपीत्यर्थः । कुत इत्येषायां, स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । स्वामी प्रभुः, तस्याभिप्रायस्य चिकिर्षितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् संशयो भवत्येव । यत्र ‘फलानुमेया: प्रारम्भा: संस्काराः प्रारूपनाः इत्यादिषु लौकिकप्रभावितायोपि पूर्व ज्ञातुमशक्यसतत्र किं वाच्यमलैकिकप्रभोभिप्रायस्येति ।

परंतु अहीं एक शंका ये थाथ छे के, लोकमां ले भगवद्-भक्तो होय छे तेओं पश पोताना भोटा दुःखो ने दूर करवा भाटे भगवानने प्रार्थना करता ज होय छे तेथी आ उपदेशनुं पालन करवानुं असंभव ज छे. आ विवेकनो उपदेश तेओं ज छे जेम कोई विकलांग व्यक्तिने पर्वत ओणंगवानुं कुलेवामा आवे— आवी शंका थाय तो तेनुं समाधान आचार्यचरणो आगणना श्लोक द्वारा करी रह्यां छे.

अहीं “‘वा’” शब्द विकल्पनी परिस्थिति भतावी रहो छे अर्थात् ज्यारे स्वयंभां विवेक स्फुरित न थयो होय. (अहीं टीकाकार ऐम समलवी रह्यां छे के “‘वा’” शब्द वैकल्पिक परिस्थितिने भतावी रहो छे. अर्थात् जे कोઈने पहेला कहेलो उपदेश के, “‘भगवान् ले कांઈ करशे, ते पोतानी ईच्छाधी करशे”, तेना उपर जरेसो न होय तो तेओं प्रार्थना करशे तो प्रश्न थयो शुं? कंठी ज नहीं. टीकाकार आनेज समलवयानी ईच्छा राखे छे के ऐवी प्रार्थना नो विकल्प त्यारेज लेवो पडेछे ज्यारे लुवमां उपर कहेल ग्रकारनो विवेक स्फुरित न थयो होय, ऐवो अर्थ छे.) “‘ततः’” शब्दनो अर्थ ए छे के प्रार्थना करवाधी शुं थशे? कांઈ पश नहीं. केम नहीं थाय? तो आ प्रश्नो उत्तर आचार्यचरणो “‘स्वाम्यभिप्रायसंशयात्’” वगेरे शब्दोथी आपी रह्यां छे. प्रभु आपणा स्वामी छे, तेमाहे आपणा भाटे जे विचार्यु छे ते ज्ञानवुं आपणा भाटे संभव नथी तेथी आपणने संशयो थाय ज छे. ज्यां “‘पुरातन संस्कार नो प्रारंभ थवाथी ज इणनुं अनुभान थाय छे” वगेरे वाक्यो द्वारा लौकिकस्वामी नो पश

अभिप्राय भाषणे शक्य नथी, त्यां अलौकिक प्रबु ना अभिप्रायामे भाषणा विशेष शुं कहेवुं ? (टीकाकार उपर्युक्त उदाहरण द्वारा ऐम समज्ञवाच मांगे छे के, कोई पाणि कार्यना प्रारंभधी तेना इन्हनु अनुभान लगावी शक्य छे अने कार्य पाणि प्राचीन संस्कारोने कारणे प्रारंभ थाय छे परंतु ते कार्यना इपानु अनुभान लगावी शक्य छे. योक्तुक्त अप्यथी नथी कही शक्तातुं. आ वात थी टीकाकार ऐम कही रह्या छे के ज्यां लौकिक कार्योमां पाणि केवण अनुभान लगावी शक्य छे, त्यां भगवानना अलौकिक अभिप्राय विशेष कार्य पाणि निवित्तपै कहेवुं तो केवी रीते शक्य छे, ऐसो अर्थ छे. आ कारणावीज टीकाकार कहे छे के प्रार्थना कर्वी व्यर्थ छे.)

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, लोक में जो भगवद्-भक्त होते हैं, वे भी अपने बड़े दुःखों को दूर करने के लिए भगवान से प्रार्थना करते ही हैं अतः इस उपदेश का पालन करना असंभव ही है। इस विवेक का उपदेश वैसे ही है जैसे किसी विकलांग व्यक्ति को पर्वत ताँगने को कह दिया जाय। ऐसी शंका होने पर इसका समाधान आचार्यचरण अग्रिम श्लोक द्वारा कर रहे हैं।

यहाँ 'वा' शब्द विकल्प की परिस्थिति बता रहा है अर्थात् जब स्वयं में विवेक स्फुरित न हुआ हो। यहाँ टीकाकार यह समझाना चाह रहे हैं कि 'वा' शब्द वैकल्पिक परिस्थिति का घोटन कर रहा है। अर्थात् यदि किसी को पूर्व में कहे "भगवान जो कुछ करेंगे, वह अपनी इच्छा से करेंगे" इस उपदेश पर भरोसा न हो तो आचार्यचरण आगे की पंक्ति लिख रहे हैं जिसका अर्थ यह बनता है कि, भगवान अपनी इच्छा से ही करेंगे अथवा यदि इस उपदेश पर भरोसा न हो तो उनसे प्रार्थना करने पर भी क्या होगा ? कुछ भी नहीं। टीकाकार इसी को समझाने हुए कहना चाह रहे हैं कि ऐसा प्रार्थना का विकल्प तब ही लेना पड़ता है जब जीव में उपर कहे प्रकार का विवेक स्फुरित न हुआ हो, यह अर्थ है। ततः शब्द का अर्थ यह है कि प्रार्थना करने से क्या होगा ? कुछ भी नहीं। क्यों नहीं होगा ? तो इस प्रश्न का उत्तर आचार्यचरण स्वाम्यभिप्रायसंशयात् इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। प्रभु हमारे स्वामी हैं, उन्होंने हमारे लिए जो सोचा है वह जानना हमारे लिए संभव नहीं है अतः संशय तो होता ही है। जहाँ "पुरातन संस्कार प्रारंभ होने पर ही फल का अनुमान होता है" इत्यादि वाक्यों द्वारा लौकिकस्वामी का ही अभिप्राय जानना शक्य नहीं है, वहाँ अलौकिक प्रभु के अभिप्राय को जानने में क्या कहना ? टीकाकार उपर्युक्त उदाहरण द्वारा यह समझाना चाह रहे हैं कि, किसी भी कार्य के प्रारंभ से उपरके फल का अनुमान लगाया जा सकता है एवं वह कार्य भी प्राचीन संस्कारों के कारण प्रारंभ होता है परंतु उस कार्य के फल का अनुमान ही लगाया जा सकता है, ठोसरूप से नहीं कहा जा सकता। इसी बात से टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि जहाँ लौकिक कार्यों में भी केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है, वहाँ भगवान के अलौकिक अभिप्राय के बारे में कुछ भी ठोसरूप से कहना तो कैसे संभव है, यह अर्थ है। इसी कारण टीकाकार कहते हैं कि प्रार्थना करसी व्यर्थ है।

ननु भक्तेज्ञापूरणाय भगवानशक्यमपर्याप्त सम्पादयति, तज्ज्ञ बहायासाध्यमस्मदादिवद्भगवतोपि कदाचित् स्यादिति तदर्थं पुनः पुनः प्रार्थनया भगवान् स्मायते। (भगवतसत्त् कार्यं स्मायते) इत्यत आहुः सर्वत्रेति। सर्वस्मिन् काले देशे च यत्किञ्चिद्दस्तुमात्रं तत्सर्वं तस्य भगवत एवेत्यर्थः। द्विशब्दः प्रसिद्धोऽपि। सा च 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभव' इत्यादिषु द्वया। ननु भक्तार्थं भगवतोप्यकालवस्तुसम्पादनमायासासाध्यं भविष्यतीति चेतत्राहुः सर्वसामर्थ्यमेव चेति। न हि भगवतोपि कालमपेश्वैव कार्यकरणं सम्भवति, प्रत्युत कालवैयैव भगवद्धीनत्वाज्जन्मत्वाच तत्सोपेष्टत्वम्। चकारात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमपि द्योत्यते। २॥

अहीं प्रश्न ए थाय छे के, द्वीक छे, भले प्रार्थना न कर्वी न्योर्धये भरंतु भक्तोनी ईश्वा पूरी करवा भाटे तो भगवान असंभव वस्तु पाणि आपापी हे छे अने ऐवी दुर्लभ वस्तु जेना भाटे आपापी जेभ भगवाने पाणि भोटा भोटा प्रथत्नो करवा पडता होय तो तेना भाटे तेमने वासंवार डेवण स्भरण करावी देवाभां शुं खोउं छे ? स्मरण करवायुं कार्य प्रार्थना थोड़ी छे, तो ऐनो उत्तर आचार्यरेणो "सर्वत्रं" वगेरे शब्दोधी आपी रह्या छे। आ पक्षितनो अर्थ ए छे के बधाज्ज सम्भवां, बधाज्ज स्थानो पर ने कार्य पाणि वस्तु छे ते बधी भगवाननी ज छे तेथी तेमने कोई वस्तु प्राप्त करवाभां शुं प्रथत्न तो करवो पडे भरो ? आवो अर्थ छे। "हि" शब्द भगवाननी आज प्रसिद्धिने भताप्यामा भाटे छे, आवो प्रसिद्धि "हुं समस्त जगतनी उत्पत्तिनुं कारण छुं (भ. गी. १०/८)" वगेरे लाक्ष्यो द्वारा समझ लेई छे, होय शंका अहीं ए थाय छे के भक्तो भाटे अकालवस्तु (ऐले ने वस्तु तेना अनुकूण भमयामां न होय, दा. त. केरी केवण शीघ्रमतुमां भ्राम थाय छे तो तेने शीतकाळाभां न्योर्धये तो ते अकाल वस्तु छे) देवाभां भगवानने पाणि थोड़ो-धशो प्रथत्न तो करवोज पडतो हरे ? तो ऐनुं समाधान "सर्वसामर्थ्यमेव" शब्दोधी आचार्यरेणो कही रह्या छे, आनो अर्थ ए छे के, भगवानने पोतानुं काम करवाभां कोई कालनी। अपेक्षा नथी, पाणि वजी काल पोतेज प्रभुने अधीन छे तेथी ते काल भगवानथी उत्पन्न थयेतो होवाथी स्वयं तेमनी अपेक्षा

राखे छे. “‘च’ शब्दथी भगवाननुं कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथा कर्तुम् सामर्थ्यं पश्च भतावथाभां आपी रह्यु छे। ॥ २ ॥

यहाँ प्रश्न यह होता है कि, ठीक है, भले प्रार्थना नहीं करनी चाहिए परंतु भक्तों की इच्छा पूर्ण करने के लिए तो भगवान असंभव वस्तु भी दे देते हैं और ऐसी दुर्भव वस्तु जिसके लिए हमारी तरह स्वयं भगवान को भी बड़े प्रयत्न-यत्न करने पड़ते हों तो उसके लिए उन्हें वारंवार केवल स्मरण दिलाना प्रार्थना करना थोड़े ही है। तो इसका उत्तर आचार्यचरण सर्वत्र इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि सभी काल में, सभी स्थानों पर जो कुछ भी वस्तु है वह सब भगवान की ही है अतः उन्हें जिसी वस्तु को प्राप्त करने में क्या हानि है? स्मरण दिलाना प्रार्थना करना थोड़े ही है। तो इसका उत्तर आचार्यचरण सर्वत्र इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि सभी काल में, सभी स्थानों पर जो कुछ भी वस्तु है वह सब भगवान की ही है अतः उन्हें जिसी वस्तु को प्राप्त करना पड़े सकता है? यह अर्थ है। ‘हिं शब्द भगवान की इसी प्रसिद्धि को बताने के लिए है। वैसी प्रसिद्धि ‘मैं समर्त जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ (भ. गी. १०/८)’ इत्यादि वाक्यों द्वारा समझ लेनी चाहिए। अब शंका यह होती है कि भक्तों के लिए अकालवस्तु अर्थात् जो वस्तु उसके अनुकूल काल में न हो। उदा. के लिए आप केवल ग्रीष्मऋतु में ही प्राप्त होते हैं यदि उन्हें शीतकाल में प्राप्त करना हो तो वह अकालवस्तु है देने में भगवान को भी धोड़ा-बहुत प्रयत्न तो करना ही पड़ता होगा? तो इसका समाधान सर्वसामर्थ्यमिव शब्दों से कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, भगवान को अपने कार्य करने में किसी काल की अपेक्षा नहीं है, अपिनु काल ही खुद भगवान के अधीन है एवं उनसे ही उत्पन्न दुआ होने के कारण स्वयं उनकी अपेक्षा रखता है। ‘च’ शब्द से भगवान की कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् सामर्थ्य भी बताई जा रही है। ॥ २ ॥

कदाचिदत्यन्तापेक्षितमपि कार्यं भगवान करोति, तेन भक्तमनस्यभिमानो भवेन्मया भजनार्थमपि प्रयत्नो न कर्तव्य इति, तत्र कार्यमित्याहुरभिमानश्च सन्त्याज्य इति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्यभावनात् ।

विशेषतश्चेदाद्वा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपद्रत्यादिकार्येणु हस्तस्याज्यश्च सर्वया ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

चकारात् कार्यानिष्पत्तिनिमित्तगलानिरपि। समित्यनेन बाह्याभ्यन्तरभेदराहित्येन त्यागः सूचितः। ततो हेतुः, स्वाम्यधीनत्यभावनादिति। सर्वसनिवेदनेनान्तःकरणमपि निवेदितमेव। अभिमानशान्तःकरणर्थमः। स च सुतां न कार्यं इतिभावः। एवं स्वतः कार्यमात्रं न कर्तव्यमिति प्राप्ते भगवदाद्वायां विशेषमाहुर्विशेषतश्चेदाद्वा स्यादिति ।

हुवे कदाचित् अभे पश्च शर्ते छे के आपशुः भटे छे अति आवश्यक कार्य होय ते पश्च भगवान पुङ् न करे, तो भक्तना भननां “हुवे हु भजन भाटे पश्च प्रयत्न नहीं कइँ” अप्या प्रकारनुं अभिमान आपी जरुं होय तो, अवुं न करुं ज्ञेर्ये, ते आचार्यरथरशो “अभिमानश्च सन्त्याज्यः” वगेरे शब्दोधी कही रह्या छे।

अहीं अभिमान शब्दनी ज्ञेरे “‘च’ शब्द भूकेलो छे, लेनो अर्थ ए छे के अभिमानतो न ज करुं ज्ञेर्ये परंतु कार्यनी निष्फलतानी ज्ञानी पश्च न राखवी ज्ञेर्ये, “सन्त्याज्यः” पदमां “सम्” उपसर्गनो प्रधोश छे, (“सन्त्याज्यः” शब्दनो अर्थ थाय छे, भव्यी रीते त्यागवु) लेनो अर्थ ए छे के बाह्य अने आंतर (अर्थात् शारीरिक अने भानसिक भने प्रकारनो त्याग) जरुङी छे। आवुं शा भाटे करुं ज्ञेर्ये? ऐनुं काराणः “स्वाम्यधीनत्यभावनात्” वगेरे शब्दोधी आचार्यरथरशो कही रह्या छे। सभलु वेलु ज्ञेर्ये के सर्वस्वनुं निवेदन करेलुं होयाथी अन्तःकरणनुं पश्च निवेदन थयेलुं ज छे। अने अभिमान अन्तःकरणनो धर्म छे, ते तो कोईपाल रीते न करुं ज्ञेर्ये, एवो अर्थ छे। आ प्रभाषो हुवे आगण आचार्यरथरशो एम कही रह्या छे के पोतानी जाते ज भनक्षेपे तेवी रीते कोई कार्य न करुं ज्ञेर्ये परंतु विशेष भगवद्-आशा प्राप्त थवा पर ज करुं ज्ञेर्ये, आ वात “विशेषतश्चेदाद्वा स्यात्” वगेरे शब्दोधी कही रह्या छे।

अब कदाचित् यह भी हो सकता है कि हमारे अत्यंत आवश्यक कार्य भी भगवान पूरे न करें, तो इससे भक्त के मन में “अब मैं भजन के लिए भी प्रयत्न नहीं करूँगा” इस प्रकार का अभिमान आ जाता हो तो, ऐसा नहीं करना चाहिए, यह आचार्यचरण अभिमानश्च सन्त्याज्यः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ अभिमान पद के संग ‘च’ शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ यह है कि अभिमान तो नहीं ही करना चाहिए परंतु कार्य की निष्फलता की खानि भी नहीं करनी चाहिए। ‘सन्त्याज्यः’ पद में सम् उपर्युक्त का प्रयोग है ‘सन्त्याज्यः’ शब्द का अर्थ होता है, भलीभाँति

त्याग देना जिसका अर्थ यह है कि बाहरी-भीतरी अर्थात् शारीरिक पृथ्वे मानसिक दोनों प्रकार का त्याग दोनों प्रकार का त्याग आवश्यक है। ऐसा क्यों करना चाहिए? इसका कारण स्वाम्यधीनत्वमावनात् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। समझना चाहिए कि, सर्वेव निवेदन करने के द्वारा अन्तःकरण भी तो निवेदन ही हो गया है। और अभिमान अन्तःकरण का धर्म है, वह तो विशेषरूप से ही नहीं करना चाहिए, यह भाव है। इस प्रकार से अब आगे यह बता रहे हैं कि स्वयं ही मनचाहे ढंग से कोई कार्य नहीं करना चाहिए, परंतु विशेष भगवद्-आज्ञा प्राप्त होने पर ही करना चाहिए, वह विशेषतश्चेदाज्ञा स्यात् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

देहसम्बन्धि देहनिर्बाहक कार्य दैहिकमित्युच्यते। तच् सर्वदायनिषिद्धमेव। विशेषतो विशेषनिमित्तात् विशेषकार्यकरणार्थमिति यावत्। सापि न बाह्यतः, किञ्चन्नान्तःकरणगोचरोन्तःकरणपूर्विका यदि स्यात्, तदैव दैहिकाद्विन्नं विशेषगत्यादि भाव्यं कार्यगत्यर्थः। गतिपदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते। आदिपदेन प्रार्थनमपि कार्यमये कृतिसम्भवति चेत् तत् कर्तव्यमेवेति सूच्यते। ननु विशेषाङ्गायामपि यद्यपि आपत्कालादिवशाद् भगवदाङ्गसमितिकृत्वा प्राणादिभयं सोढवापि हेतेनाशक्यमपि कार्यं कर्तव्यमेवेति नेति प्राप्त आहुरापद्गत्यादिकार्येभ्येति। भगवदीयानामेवंविशेषशामासौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाङ्गलङ्घनदोषोपि न भवतीतिज्ञेयम्। 'गति'शब्देन प्राप्तिसूच्यते। 'आदि'पदेनाशक्यार्थं उच्यते। तेनाऽपत्कालीनाशक्यकार्येभ्यषि सर्वेषु हठ आप्तः सर्वथा सर्वप्रकारेण त्याज्यः। चकारादापनिवृत्तौ पुनराग्रहः स्वीकार्यं एवत्यर्थः।

शरीरथी संबंधित, शरीरनो निर्वाण करवा लाया कार्योने “दैहिक” शब्दथी कहेवामां आवी रह्या छे. अने ते करवानो निषेध नदी परंतु जे कोई विशेष कार्यने करवा माटे अथवा कोई विशेष हेतु जाटे भगवाननी कोई विशेष आज्ञा थर्ई लय, तो ते आज्ञा नुं पालन करवा माटे आ आवश्यक छे के ते आज्ञा बाह्य उपभान न थर्ईने “अन्तःकरणगोचर”-आपुणा अन्तःकरणमां सुरित थयेली होवी ज्ञेईये. अने ते आज्ञा जे अन्तःकरणमां सुरित थयेली होय “तदा”! अने जे ते दैहिक कार्यों थी “लिङ्गं” भिन्न होय त्यारे ज तेने “विशेषगत्यादि” विशेष-आज्ञा छे तेम सभलु अने ते कार्य करवुं ज्ञेईये तेवो अर्थ छे. “गति” शब्द नो अर्थ ए छे के ते आज्ञा क्रियावत् करी लेवी ज्ञेईये. “विशेषभगत्यादि” पद भान जे “आदि”शब्द ज्ञेउलो छे, तेनो अर्थ ए छे के भगवद्-आज्ञा अनुसर आवुं कोई कार्य करवामां जे प्रभुने कोई प्रार्थना करवी पडे, तो ते प्रार्थना करवी ज्ञेईये. परंतु अहीं एक प्रक्ष ए थाय छे के जे कोई आपत्काल वगेरे ने कारणे भगवद्-आज्ञा द्वारा आपेलु कार्य पूर्ण न थयुं होय, तो पाण डेखे “आ भगवाननी आज्ञा छे तेथी आ कार्य करवुं ज्ञेईये” एवं भानीने ग्राण-वगेरेनो भय पाण सहन कीरे हठपूर्वक सुं अशक्य कार्य पाण करवुं ज्ञेईये? तो तेनी आर्थात्यरराणो “आपद्गत्यादि कार्येषु” वगेरे शब्दीथी ना पाडी रह्या छे. केम्के भगवदीयोनी आवी अटपटी-मूँछवाण भरेली परिस्थिति मां पाण कारण तो भगवान ज छे, तेथी भगवद्-आज्ञानुं उद्धवंन करवामां पाण दोय नदी, ए जाणी लेवुं ज्ञेईये. “गति” शब्द नुं तात्पर्य आज्ञ आपत्कालीन परिस्थिति छे. “आदि” शब्दथी आवा असंभव कार्यों भत्तावामां आवी रह्या छे. आनाधी ए सभलय छे के आपत्कालीन आवा सभस्त अशक्य कार्यों मां बधी ज रीते “हठ” आग्रह छोडी देवो ज्ञेईये. “थ” शब्दथी तो आपत्कालीन परिस्थिति दूर थर्ई ग्रया पाणी फैशी तेज कार्य करवानो आग्रह स्वीकार्य ज छे तेवो अर्थ छे, (अर्थात् ज्ञयारे आपत्कालीन परिस्थिति दूर थर्ई लय त्यारे फैशी तेज कार्य करवा माटे फैशी आग्रह पाण राखवो ज्ञेईये. हठाग्रहनो त्याग केवण आपत्कालीन परिस्थिति भुझीज छे, तेवो अर्थ छे.)

देह से संबंधित देह का निर्वाह करने वाले कार्य ‘दैहिक’ शब्द से कहे जा रहे हैं और वे करने निषिद्ध नहीं हैं परंतु यदि किसी विशेष कार्य को करने के लिए अथवा किसी विशेषनिमित्त भगवान की कोई विशेष आज्ञा हो जाय, तो उसका पालन करने के लिए आवश्यक है कि वह आज्ञा वाह्यरूप में नहीं होनी चाहिए अपितु अन्तःकरण में सुरित होनी चाहिए। और, यदि वह आज्ञा अन्तःकरण में होती हो और दैहिक कार्यों से भिन्न हो तब ही उसमें विशेष-आज्ञा की भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है। ‘गति’ शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि वह आज्ञा क्रियावत् कर लेनी चाहिए। विशेषगत्यादि पद में जो ‘आदि’ शब्द जुड़ा हुआ है, उसका अर्थ यह है कि भगवद्-आज्ञा के अनुसार ऐसे किसी कार्य को करने में यदि उनसे कोई प्रार्थना करनी पडे, तो वह करनी ही चाहिए। किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि किसी आपत्काल के कारण भगवद्-आज्ञा द्वारा दिया गया कार्य पूर्ण न हुआ हो, तब भी क्या “यह भगवान की आज्ञा है अतः करनी ही चाहिए” इस प्रकार से मानकर प्राण-आदि का भय भी सहन करके हठपूर्वक क्या अशक्य कार्य भी करना ही चाहिए? तो मना करते हुए आचार्यचरण आपद्गत्यादिकार्येषु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। क्योंकि भगवदीयों की ऐसी असमंजसता वाली परिस्थिति में भी कारण

तो भगवान ही हैं, अतः भगवद्-आज्ञा का उल्लंघन करने में भी दोष नहीं है, यह जान सेना चाहिए। 'गति' शब्द का तात्पर्य यही आपत्कालीन परिस्थिति है। 'आदि' पद से ऐसे असम्भव कार्य बताए जा रहे हैं। इससे यह ज्ञान होता है कि आपत्कालीन ऐसे समस्त अशक्य कार्यों में हठाग्रह सभी प्रकार से त्याग देना चाहिए। 'च' शब्द से तो आपत्कालीन परिस्थिति दूर हो जाने के पश्चात् पुनः उसी कार्य का आग्रह तो स्वीकार्य ही है, यह अर्थ है। अर्थात् जब आपत्कालीन परिस्थिति दूर हो जाय तब पिर उसी कार्य के लिए पुनः आग्रह भी रखना चाहिए। हठाग्रह का त्याग केवल आपत्कालीन परिस्थिति तक ही है, यह अर्थ है।

यद्या, आपद्वितिरादियेषु कार्येषु कृतेषु भवति तेष्वाग्रहो न कार्य इति । भगवदनुकेष्वपि कार्येष्वनापद्यपि सृष्टा न कार्येत्याहुरनायथश्च सर्वत्रैति । कर्तव्यान्तरमप्याहुर्धर्माधर्मग्रहदर्शनमिति । धर्मशार्थमश्च तयोरां पर्यवसितफलं तद्वश्नमप्यमादेन तदनुसन्धानम् । विहेत्पि कार्ये यस्मिन् कृते स्वधर्मत्यागः सम्भाव्यते, तत्र कार्यम्, स्वधर्मत्यागस्याधर्महेतुत्वात् । स्वधर्मविरोधिनश्च धर्महेतुत्वात् तत्कार्यमितिभावः ॥ ४ ॥

अथवा ऐवो अर्थ करी लेईच्छे के ले कार्यों मां अथवा कृतियोभां आपी आपत्कालीन परिस्थिति आपी ज्यु छे, ऐवा कार्यों ने करवाने आग्रह न राख्यो ज्ञेईच्छे, भगवाने ले कार्य ने करवानी आज्ञा नहीं आपी, तेमां भलेने कोई आपति न आपती होय तो पाण ते कार्य ने करवानी ईच्छा न करवी लेईच्छे, आ "अनाग्रहश्च सर्वत्रैति" वगेरे शब्दोथी आचार्यराष्ट्रोच्चे कह्युं छे. अन्य वीजनं कर्तव्योने आचार्यराष्ट्रो "धर्मधर्मांत्र-दर्शनम्" वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. धर्म अने अधर्म; आ बनेनुं परिषाम ध्यानपूर्वक विचारीने प्रभादरहित थर्थने तेमां इणनुं अनुसंधान करवुं लेईच्छे. भलेने कोई कार्य विहित होय (ऐटलेके सामाजिक अथवा धार्मिक दृष्टिथी करवुं उचित हो.) छितां पाण ले ते करवाथी आपाणो पुष्टिधर्म न निभावी शकातो होय तो ऐवुं कार्य न करवुं लेईच्छे. डेम्के पोताना स्वधर्मनो त्याग करवो अधर्म छे. ले कार्य आपाणा स्वधर्मनो विरोधी न होय, तेज धर्म छे तेथी तेज कार्य करवुं लेईच्छे, ऐवो भाव छे ॥ ४ ॥

अथवा यों अर्थ कर से कि, जिन कार्यों में अथवा कृतियों में ऐसी आपत्कालीन परिस्थिति आ जाती है, ऐसे कार्यों को करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए। भगवान ने जिस कार्य को करने की आज्ञा नहीं दी है, उनमें भले ही कोई आपति न आती हो तथापि उनको करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, यह अनाग्रहश्च सर्वत्रैति इत्यादि शब्दों से कहा गया है। अन्य दूसरे कर्तव्यों को आचार्यचरण धर्मधर्मांत्र-दर्शनम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। धर्म और अधर्म, इन दोनों का परिणाम ध्यानपूर्वक देखते हुए प्रभादरहित होकर इनके फल का अनुसंधान करना चाहिए। भले ही कोई कार्य विहित हो अर्थात् सामाजिक या धार्मिक दृष्टि से वैध हो तथापि यदि उसको करने पर अपना पुष्टिधर्म न निभता हो तो ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि अपने स्वधर्म का त्याग करना अर्थम् है। जो कार्य अपने स्वधर्म का विरोधी न हो, वही धर्म है अतः वही करना चाहिए, यह भाव है ॥ ४ ॥

उपसंहरन्ति-

विवेकोयं समाख्यातः

क्रमप्राप्तं पैर्यं निरुपयन्ति--

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवद्वेषवद्वाव्यं जडवद्रोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणां दुःखानां समाहारविदुःखम् । दुःखस्य त्रिविधत्वं त्वाधिभौतिकादिभेदेन कायिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैर्वा । तस्य सहनं तत्पत्रीकारं विनानुभवः । तदप्यमृतेः । मृतिर्मरणं वर्तमानदेहत्यागः, तं भर्यदीकृत्य । तदपि न यत्किञ्चित् परिगणितानिभित्तात्, किन्तु, सर्वतो भगवदिङ्गातो यद्युपस्थितं तत्तत्सर्वं सोऽव्यमेवेतिभावः । तदपि न कालनैयत्येन, किन्तु सर्वदा । आमृते'रित्यनेन सार्वकालीनत्वे सिद्धेषि सर्वदेति पुनः स्पष्टार्थं वचनम् ।

आ प्रकारे "विवेकोयं समाख्यातः" शब्दोथी आचार्यराष्ट्रो विवेक नो उपसंहर- सभापि करी रह्या छे अने हवे क्रमपूर्वक "धैर्यन्तु विनिरूप्यते" वगेरे शब्दोथी धैर्यना निरुपयनो आरंभ करी रह्या छे.

त्रष्ण प्रकारना दुःखोने संयुक्तज्ञपथी त्रिदुःख कहेवामां आपी रह्या छे. आ त्रष्ण प्रकारनां दुःखो आधिभौतिक- आध्यात्मिक-आधिदैविक अथवा भानसिक- कायिक-वाचिक अथवा तो काल-कर्म-स्वभावना भेदधी भानी शकाय छे. आ

दुःखोने सहन करवानो अर्थ ऐ छे के तेमनो प्रतिकार न करीने तेमनो अनुभव करता रहेवुं. ते पण “आमृते:” - भरणपर्यन्त. मृति नो अर्थ छे भरवुं अर्थात् वर्तमान शरीरनो त्याग; आ भयांदा सुधी सहन करवुं ज्ञेये. ते पण थोडा गुणांठचा दुःखोने नहीं पण भगवद्विषयांशी जे जेवुं दुःख आवी पडे, ते व्याधांज दुःखोने सहन करवाव ज्ञेये, एवो भाव छे. तेमां पण थोडांक समय भाटे नहीं पण “सर्वदा” सहन करता रहेवुं ज्ञेये. लेके भरणपर्यन्त कही देवाथी एतो सम्बर्ज जय ज छे के मृत्युपर्यंत सहन करवुं ज्ञेये इतां पण फ्रीशी व्याधांज स्पष्ट करवा भाटे आचार्यथरणोन्ये “सर्वदा” इहुं छे।

इस प्रकार विवेकों समाख्यातः शब्दों से आचार्यचरण विवेक का उपसंहार समाप्ति कर रहे हैं और अब क्रमपूर्वक धैर्यन्तु विनिरप्यते इत्यादि शब्दों से धैर्य का निरूपण आरंभ कर रहे हैं।

तीन प्रकार के दुःखों को संयुक्तरूप से निदुःख कहा जा रहा है। ये तीन प्रकार के दुःख आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक अथवा मानस-कायिक-वाचिक अथवा तो काल-कर्म-स्वभाव के भेद से माने जा सकते हैं। इन दुःखों को सहन करने का अर्थ यह है कि इनका प्रतिरोध न करते हुए इनका अनुभव करते रहना। वह भी मरणपर्यंत। मृति का अर्थ है मरना अर्थात् वर्तमान देह का त्याग; उस मर्यादा तक सहन करना चाहिए। वह भी कुछ निगेनाए दुःखों को नहीं अपितु भगवदिच्छा से जो जैसा दुःख आ पडे, उन सभी दुःखों को सहना ही चाहिए, यह भाव है। तिस पर भी कुछ समय तक के लिए नहीं अपितु सर्वदा सहन करते रहना चाहिए। यद्यपि मरणपर्यंत कह दिया होने से यह ज्ञात तो हो ही जाता है कि मृत्युपर्यंत सहना चाहिए तथापि पुनः अधिक स्पष्ट करने के लिए आचार्यचरणों ने ‘सर्वदा’ कहा है।

नन्वनवरतनःखसहनेन शरीरशोषाप्त तनाशोषिप्यात् तनोचितमिति न दुःखं सोढव्यमिति चेत्त्राहुस्तक्रवद्वहस्त्वमिति । देहाननौ शोको न कार्य इत्यर्थे प्रात्कर्तनं दृष्टान्तत्रयं व्येयम् । तच त्रयं, तक्रवज्जवद्वोपार्थवदिति । अन्वयस्तु, देहवता भाव्यं देहवद्वात्यम् । तच देहवता पुरुषेण शरीरादिकमेवामीथल्वेन भाव्यमनुसंधेयं दृश्यते, तादृशन्तु न कार्यम् । तत्र कीद्यग्नुसन्धानं कार्यमित्यपेक्षायां तक्रादिषु यथा तेषामनुसन्धानं तथा स्वदेहपि कार्यमित्यर्थः । तक्राल्यायिका तु, “हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजद्वद्य देशान्तरे विधिवशादृणिकापि जाता । पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमय तक्रम्” इत्यादै प्रसिद्धा ।

परंतु अहीं एक प्रश्न ऐ थाय छे के “आ प्रकारे निरंतर दुःख सहन करता रहेवांथी ते हुः ख शरीरनुं शोषण करी ले छे अने शरीरनो नाश थर्थ ज्य छे. अेवुं करवुं तो उचित नथी तेथी दुःखसहन नहीं करवुं ज्ञेये”, जे आवीं शंका होय तो अनु समाधान आचार्यथरणो “तक....भाव्यं” वगेरे शब्दोंथी आपी रहां छे. देहनुं आ प्रकारे शोषण थवा पर पण शोक न करवो ज्ञेये-आमां त्रास प्राचीन दृष्टांतोने समलू लेवा ज्ञेये. आ त्रास दृष्टांत “तक्वत्”, “जडवत्”, “गोपभार्यवत्” आ प्रकारे छे. लेघो देहधारी छे, तेमधो आ त्रास दृष्टांतोनी भावाना फरवी ज्ञेये, आ “देहवद्वात्यं” शान्दनो अर्थ छे. डेमडे देहधारियेने पोतानां शरीर-वगेरेज आत्मीय होय छे तेथी तेमने केवण पोताना शरीरनीज चिंता - अनुसंधान रहे छे परंतु अेवुं न करवुं ज्ञेये. तो पछी शेवुं अनुसंधान करवुं ज्ञेये? तो आचार्यथरणो कही रह्या छे के, पेली ज्वालिनीनुं लेवुं अनुसंधान तेनी छाशा-तक्कां हातुं, तेवुं अनुसंधान स्वयंना शरीरभां पण राखवुं ज्ञेये, अपावे अर्थ छे. ज्वालिनी अने छाशानी कथा तो “हत्वा.....तक्भ्” श्लोकी प्रसिद्ध छे. आ कथानुं अनुसंधान करवुं ज्ञेये. (आ श्लोकनुं विवरण आगां श्रीगोकुलोत्सवज्ञाए झेवुं छे तेथी तेमनी टीकामां ज्ञेये)

किंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि-“इस प्रकार निरंतर दुःख सहने से वह दुःख शरीर का शोषण कर लेता है एवं शरीर का नाश हो जाता है। ऐसा करना तो उचित नहीं है अतः दुःखसहन नहीं करना चाहिए”-यदि ऐसी शंका हो तो इसका समाधान तक.....भाव्यं इत्यादि शब्दों से दिया जा रहा है। देह का इस प्रकार शोषण होने पर भी शोक नहीं करना चाहिए, इसमें तीन प्राचीन दृष्टांत जान लेने चाहिए। ये तीन दृष्टांत ‘तक्वत्’, ‘जडवत्’, ‘गोपभार्यवत्’ इस प्रकार से हैं। जो देहधारी हैं, उन्हें इन तीनों दृष्टांतों की भावना करनी चाहिए, यह देहवद्वात्यं शब्द का अर्थ है। चौके देहधारियों को अपने शरीर-आदि ही आत्मीय होते हैं अतः उन्हें केवल अपने देह की ही चिता अनुसंधान रहता है, परंतु ऐसा नहीं करना चाहिए। तब फिर कैसा अनुसंधान करना चाहिए? तो कह रहे हैं कि, उस ज्वालिनी का जैसा अनुसंधान उसकी छाल तक्रु में था वैसा अनुसंधान स्वयं की देह में भी रखना चाहिए, यह अर्थ है। ज्वालिन एवं छाल की कथा तो “हत्वा.....तक्रम्” श्लोक से प्रसिद्ध है। इस कथा का अनुसंधान करना चाहिए। इस श्लोक का विवरण आगे श्रीगोकुलोत्सवज्ञी ने किया है अतः उनकी टीका में देख लें।

जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चमस्कन्धतोऽवगन्तव्या । गोपैर्भिर्यते धार्यते वेति गोपभार्यां, (देहः) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः प्राकृतो देहस्तदगमे यथा गोपीनां न शोकस्तथा स्वदेहपि कार्यमित्यर्थः । अत्र गोपभार्याशब्दे उच्चमाने पुंचङ्गावानुपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

“जडवत्” ना दृष्टांतमां श्रीभद्रभागवतना पंचम-स्कन्धमां जडभरतश्चनी कथा ज्ञेवी ज्ञेत्रिये, एमना ज्ञेवुं धैर्यं राख्युं ज्ञेत्रिये एतो अर्थ छे, अने आयणनी पंक्तिमां टीकाकार “गोपभार्य” शब्दनो अर्थ करी रह्या छे. गोपो ज्ञेमनु भराणपोषणा करी रह्या छे तेओ “गोपभार्य” छे. आ गोपियोनो भगवद्संबंध थया पहेला ऐ प्राकृत देह हतो, ते न रहेवा छातां पाण ज्ञेम एम एमने शोक न थयो, तेम स्वयं ना शरीरमां पाण आज भावना करवी ज्ञेत्रिये, आवो अर्थ छे. अने, अहीं “गोपभार्या” नु कहीने आचार्यचरणोये “गोपभार्य” शब्दनो प्रयोग कर्यो छे. ते आ कारणाथी के- केमें गोपभार्या स्त्रीलिंग शब्द छे अने ते ‘देह’ शब्द केमें पुरुषिंगशब्द छे; तेनु विशेषण बनी शक्तो नथी. (अहीं टीकाकार “गोपभार्य” शब्दना सिंगनो विचार करी रह्या छे. तेओ कहेछे के श्रीमहाप्रभुल्लये “देहमां केवी रीते धैर्य ने धारणा करवुं ज्ञेत्रिये” ऐ पक्ष ने समझलव्या भाटे त्राण उदाहरणो आपेता छे “तक्षवत्”, “जडवत्” अने “गोपभार्यवत्”, ज्ञेमनो कमशः अर्थ थाय छे- तक (छाश) नी ज्ञेम, जड (जडभरतल) नी ज्ञेम अने गोपोनी पत्नियोनी ज्ञेम देह मां धैर्य धारणा करवुं ज्ञेत्रिये. अहीं समझे के संस्कृत-व्याकरणाना नियमानुसार विशेषण अने विशेष्य समान लिंग नां होवां ज्ञेत्रिये. ज्ञेम कहेवामां आवे के “आ काली गाय छे.” तो अहीं ‘काली’ शब्द गायनुं विशेषण अने ‘गाय’ विशेष्य छे. आ बने शब्दो स्त्रीलिंगछे, तेथी नियमानुसार भरोभर छे परंतु आज वाक्यने “आ कालो गाय छे” ऐ प्रकार नथी कही शकातुं. भरोभर एब रीते अहीं पाण समझे. उपरनां त्रिषेय दृष्टांतो देहनां विशेषणो छे. तेथी ‘देह’ शब्द विशेष्य थयो अने आ दृष्टांतो विशेषण थयां. देह पुरुषिंग शब्द छे तेथी पहेलां ऐ दृष्टांतो तो भरोभर बेसी ज्ञय छे केमें आ बने पाण पुरुषिंग शब्दो छे परंतु ज्ञे “गोपभार्य” शब्दने “गोपभार्या” करी देवामां आवतो तो ते स्त्रीलिंग शब्द थर्थ बतो अने पुरुषिंग शब्द “देह” नी साथे ज्ञेत्रिय शक्तो नहीं तेथी टीकाकार कही रह्या छे के, श्रीमहाप्रभुल्लये आज कारणाथी अहीं “गोपभार्य” न कहीने “गोपभार्य” कह्युं छे ॥ ६ ॥

‘जडवत्’ के दृष्टांत में श्रीमद्-भगवत के पंचम-स्कन्ध में जडभरतजी की कथा देखनी चाहिए, उनके जैसा धैर्य खनना चाहिए यह अर्थ है । आगे की पंक्ति में टीकाकार ‘गोपभार्य’ शब्द का अर्थ कर रहे हैं । गोप जिनका भरणपोषण कर रहे हैं, वे ‘गोपभार्या’ हैं । इन गोपियों की भगवत्संबंध होने से पूर्व जो प्राकृत देह थी, वह न रहने पर भी जैसे उन्हें शोक नहीं हुआ, वैसे स्वयं की देह में भी यही भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है । और, यहाँ ‘गोपभार्या’ न कह कर आचार्यचरणों ने ‘गोपभार्य’ शब्द का प्रयोग किया है । वह इस कारण क्योंकि गोपभार्या स्त्रीलिंगशब्द है और वह ‘देह’ शब्द जो कि पुरुषिंगशब्द है, उसका विशेषण नहीं बन सकता था । यहाँ टीकाकार ‘गोपभार्य’ शब्द के लिए तीन उदा. दिए हैं, ‘तक्रवत्’, ‘जडवत्’ एवं ‘गोपभार्यवत्’, जिनका क्रमशः अर्थ होता है- तक्र (छालू) की तरह, जड (जडभरतजी) की तरह और गोपों की पत्नियों की तरह से देह में धैर्य धारण करना चाहिए । यहाँ समझें कि संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार विशेषण और विशेष्य समान लिंग के होने चाहिए । जैसे कहा जाय कि ‘यह काली गाय है’ । तो यहाँ ‘काली’ शब्द गाय का विशेषण है और ‘गाय’ विशेष्य है । यहाँ दोनों शब्द स्त्रीलिंग के हैं, अतः नियमानुसार ठीक हैं परंतु इसी बाक्य को “यह काला गाय है” इस प्रकार से नहीं कहा जा सकता । ठीक इसी प्रकार यहाँ भी समझें । उपर्युक्त तीनों दृष्टांत देह के विशेषण हैं । अतः ‘देह’ शब्द विशेष्य हुआ और ये दृष्टांत विशेषण हुए । देह पुरुषिंग शब्द है अतः पहले दो दृष्टांत तो ठीक बैठ जायेंगे क्योंकि ये दोनों भी पुरुषिंग शब्द हैं परंतु यदि ‘गोपभार्य’ शब्द को ‘गोपभार्या’ कर दिया जाता तो वह स्त्रीलिंगशब्द हो जाता और ‘देह’ पुरुषिंग शब्द के साथ नहीं जुड़ पाता अतः टीकाकार कह रहे हैं कि, श्रीमहाप्रभुजी ने इसी कारण यहाँ गोपभार्या न कह कर ‘गोपभार्य’ कहा है ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुस्रे यथाऽप्रतिकारस्तथा तदिच्छाप्राप्ते स्वप्यथनं विनैव दुःखप्रतीकारेपि मम सुखं मास्त्विति बुद्ध्या दुःखाभावसम्पादकहेतुनिवृत्तावग्रहं न कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यद्यच्छात इति ।

प्रतिकारो यद्यच्छातः सिद्धश्चेत्याग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोष्यवर्गाणां, असतश्च भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिकृष्टस्य

सदोषस्याप्यक्रमं तत्कृततिरस्कारमपि सहेतत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्मैपदं ‘सह मर्षण’ इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि, तथापि सहनं सह इति व्युत्त्वा ‘अच्’प्रत्यये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्याचरतीति वा परस्मैपदं ज्ञेयम् ।

हवे अहीं आयाध्यररणो एव भताली रह्या छे के, जेभ उपेदेश करवामां आव्यो के भगवदिच्छाथी ले हुःभ प्राप्त थई २८५३ होय तो ऐमां अधीरा थईने ते हुःभ नो प्रतीकार करवामां लागी जबुं ज्ञेईओ नहीं परंतु ज्ञ तेमनी (प्रभुनी) ईच्छाथी अने स्वप्नाना प्रथन विना पोतानी भेणेज ते हुःभ दूर थई २८५४ होय तो ऐवामां “मारे सुख तो ज्ञेईन्तु ज न नथी” ऐली रीते विचार करीने ते हुःभनुं निवारण करवाना उपायने न करवानो आथ्रह पण नहीं राख्यो ज्ञेईओ, आ वात “प्रतिकरो यदृच्छातः” वगेरे शब्दो द्वारा श्रीभगवप्युल्लचे कही दीधी छे. (पहेला हुःभ ने सहन करवानुं क्षयुं छे, ऐनो अर्थ ज्ञ नथी के जे भगवदिच्छाथी पोतानी भेणेज हुःभनुं निवारण थई २८५५ होय तो ऐवो आग्रह राखे के हुःभ दूर न थाय. ते हुःभ ने दूर करीने जे करण थी सुख प्राप्त थई २८५६ होय, ते करणने हटाववामानो प्रथन न करवो ज्ञेईओ, ऐवो अर्थ छे.) हवे आ श्लोकनी अंतर्गत “लायादीनां” शब्दोनी व्याप्ता करी रह्या छे. आनो अर्थ छे-पत्नी, पुत्र, परिवारजन वगेरे तेमज “तथैवान्येषां” शब्दनो अर्थ छे बीजं कोई पण जेमनुं आपणा द्वारा पोषण थानुं होय तेवा व्यक्ति अने “असतश्च” शब्दनो अर्थ छे -आ परिवारजननोनी अंदर पण अत्यंत निरुद्धट एटेसे जे दुष्ट लोको छे, तेमना द्वारा करवामां आवेता तिरस्कार (आक्रमं) ने पण सहन करवो ज्ञेईओ, आ अर्थ छे. अहीं “सहेत्” पद ले के परस्मैपद छे अने ते “सह मर्षणे” ए आत्मनेपदनी व्युत्पत्तिना अर्थमां नथी जेडार्थ शक्तो छतां पण -“सहन करवानुं ज्ञ ‘सहेत्’ छे” - आ अर्थमां “अच्” प्रत्यय लगायी देवाथी अने पछी “ज्ञ धैर्यपूर्वक सहन करे छे” अथवा “अेवुं आयरण करे छे” ते अर्थमां परस्मैपदनो प्रयोग समल लेवो ज्ञेईओ.

अब यहाँ यह बताया जा रहा है कि, जैसे पूर्व में यह उपदेश दिया गया कि भगवदिच्छा से जो दुःख प्राप्त हो रहा हो उसमें अधीरे होकर उस दुःख का प्रतिरोध करने नहीं लाना चाहिए परंतु यदि उनकी ही इच्छा से और स्वयं के प्रयत्न विना अपने आप ही दुःख दूर हो जा रहा हो, तो ऐसे में ‘मुझे सुख तो चाहिए ही नहीं’ इस प्रकार से दुःख का निवारण करनेवाले उस उपाय को दूर करने का आग्रह भी नहीं रखना चाहिए, यह बात प्रतिकारो यदृच्छातः इत्यादि शब्दों द्वारा कही गई है । पहले दुःख को सहन करना कहा गया है, इसका अर्थ ये नहीं है कि यदि भगवदिच्छा से अपनेआप ही दुःख का निवारण हो जा रहा हो तो ऐसा आग्रह रखें कि वह दुःख दूर न हो । उस दुःख को दूर करके जिस कारण से सुख प्राप्त हो रहा हो, उस कारण को हटाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है । अब इस श्लोक के अंतर्गत भायादीनां शब्द की व्याख्या करते हैं । इसका अर्थ है-पत्नी-पुत्र, परिवारजन आदि; तथैवान्येषां का अर्थ है-अन्य जिस किसी का भी हमारे द्वारा पोषण होता हो ऐसे व्यक्ति एवं असतश का अर्थ है-इन परिवारजनों के अंतर्गत भी अत्यंत निरुद्ध अर्थात् जो दुष्ट लोग हैं; उनके द्वारा किए गये तिरस्कार (आक्रमं) को भी सहना चाहिए, यह अर्थ है । यहाँ ‘सहेत्’ पद यद्यपि परस्मैपद है और वह ‘सह मर्षणे’ इस आत्मनेपद की व्युत्पत्ति के अर्थ में नहीं जुड़ सकता तथापि-“सहन करना ही ‘सहेत्’ है”-इस अर्थ में ‘अच्’ प्रत्यय लगा देने पर और बाद में ‘जो धैर्यपूर्वक सुहन करता है’ या ‘ऐसा आचरण करता है’ इस अर्थ में परस्मैपद का प्रयोग समझ लेना चाहिए ।

तथा पूर्व भगवदिच्छा प्राप्तस्य स्वप्रयत्नं विनैव सुखदुःखादेः सहनमुक्तमिदानीं स्वकृतिसायां सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्वजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि । तत्तदिन्द्रियसामर्थ्यविषयभोगः । तं तु कायेन बाचा मनसा त्वजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्पत्र द्रूक्षैकवज्ञावादेकवचनं ज्ञेयम् ।

आ प्रकारे पहेलां तो भगवदिच्छाथी प्राप्त थयेतां अने पोताना प्रथनो वगरज प्राप्त थयेतां सुख-हुःभने सहन करवानुं कहेवामां आव्युं अने हवे आपणे ईद्विष्यसुख भाटे पण प्रथन न करवो ज्ञेईओ-ऐ वात आयाध्यररणो “स्वप्नं” ईत्याहि शब्दोथी कही रह्या छे.

“ईन्द्रियकार्याणि” नो अर्थ छे-प्रत्येक ईद्विष्यो द्वारा करवामां आवता विषयभोगो ज्ञेई जेडायेता कर्यो; तेमने काया-वाणी-भन-ग्रषे द्वारा छोटी देवां ज्ञेईओ, ऐवो अर्थ छे. ‘कायवाङ्मनसा’ पदमां बहुवयननो प्रयोग न करीने एक वयननो

प्रयोग ते भाटे करवायां आव्यो छे केमके आ त्रायेथनो भाष तो सरभो ४ छे अर्थात् जेम काया थी त्याग करवो ज्ञेईचे, तेवी रीते वाइंगीथी अने तेवी रीते भनथी पण त्याग करवो ज्ञेईचे, (आ पंक्तिने समजवा भाटे सिद्धांतरहस्यटीकाओ ना हिंडी-अनुवादां श्रीरघुनाथछनीज टीका नी अंतर्गत पृष्ठसंख्या ६३ पर “हिंडा” टीका ज्ञेई)

इस प्रकार पहले तो भगवदिच्छा से प्राप्त हुए एवं अपने प्रयत्नों के बिना ही प्राप्त हुए सुख-दुख को सहन करना कहा गया और अब अपने द्वारा इंद्रियसुख के लिए भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए- यह आचार्यचरण स्वयं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

‘इंद्रियकार्यणि’ का अर्थ है-प्रत्येक इंद्रियों द्वारा किए जाते विषय-भोग से संबंधित कार्य; इन्हें काया-दाणी-मन तीनों के द्वारा त्याग देना चाहिए, यह अर्थ है। ‘कायावाङ्मनसा’ पद में बहुवचन का प्रयोग न करके एकवचन का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि इन तीनों का भाव तो समान ही है अर्थात् जैसे काया से त्याग करना चाहिए उसी प्रकार दाणी से और उसी प्रकार मन से भी त्याग करना चाहिए। इस पंक्ति को समझने के लिए सिद्धांतरहस्यटीकाओं के हिंडी-अनुवाद में श्रीरघुनाथजी की ही टीका के अंतर्गत पृष्ठ संख्या १३ पर ‘दिशा’ टीका देखें।

दुर्सं सोऽुमशक्तेनापि तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहन्त्य धैर्यमेव। तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्यमावनादिति। भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वग्रकारेणाश्रयेऽहरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमत्तित्वं तिष्ठतः सर्वमैहिंकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः ।

जे व्यक्ति दुःख सहन करवायां अशक्त छे तेमझे पण धैर्य राखता राखता वडील-वृद्धोनी सेवा, वैराग्य वगेरे करवायां ज्ञेईचे, पोताना धैर्य नो लंग करवो ज्ञेईचे नहीं। आनुं कारण “स्वस्यासामर्थ्यभावनात्” वगेरे शब्दोंथी आचार्यचरणो कही रह्या छे। यारे भाऊधी जेवी परिस्थिति देखाई रही होय तेमो विचार करवो एटेले भावना करवी। (एटेले भगवान्नी आगण शुभनी असमर्थता छे तेथी पोतानी असमर्थतानी भावना करवी ज्ञेईचे, आवो अर्थ छे.)

आना पछी हवे बीजनं कर्तव्यो ‘अशक्य’ वगेरे शब्दोंथी आचार्यचरणो कही रह्या छे। आ पंक्तिनो अर्थ ऐ छे के, बधीज रीते अशक्य कर्तव्यों मां “हरि ज भाँड़ शरण छे” ऐ प्रकारनी बुद्धि राखवाथी लौकिक-अलौकिक सर्व कांઈ सिद्ध थर्ड जरी, आवो अर्थ छे।

जो व्यक्ति दुःख सहन करने में अशक्त हैं उन को भी धैर्य रखते हुए बडे-बड़ों की सेवा, वैराग्य इत्यादि सबकुछ करना ही चाहिए, अपने धैर्य को भेंग नहीं करना चाहिए। इसका कारण स्वस्यासामर्थ्यमावनात् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चहुँओर से जैसी परिस्थिति दिखाई पड़ती है, उसी का विचार करना भावना करना है। अर्थात् भगवान के आगे जीव की असमर्थता ही है अतः स्वयं की असमर्थता की भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है।

इरके पश्चात् अब दूसरे कर्तव्य अशक्य इत्यादि शब्दों से कहे जा रहे हैं। इन पंक्ति का अर्थ यह है कि, सभी प्रकार से अशक्य कार्यों में “हरि ही मेरी शरण हैं” इस प्रकार की बुद्धि रखने से लौकिक-अलौकिक सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा, यह अर्थ है।

उपसंहरन्ति-एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रमप्राप्तमाश्रयं निरूपयन्ति-आश्रयोत इति । अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । आदौ फलितं रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामायपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्वारे भक्त्यमावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते । परोऽस्मादन्यः, अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः ।

चकाराद्वगवदिच्छाया कदाचिन्नरकभोगः सम्भाव्यते वेत्तत्रिपि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं ममेति चित्ते निश्चित्य स्थयमित्यर्थः । भगवदीयानां नरकः स्वार्गादिरेव ननु तामिस्तादिः । अत एव विष्णुपुराणोऽप्युक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्” सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वच्युच्यते । तानि निमित्तानि ‘दुःखहानौ’, इत्यारभ्य ‘सर्वथाशरणं हरिरित्यत्पर्यन्तोकानि वेयानि । दुःखस्य हानौ प्राप्तायामपि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र योज्यम् ।

हवे आचार्यरेषु “अतेद्” वगेरे शब्दोदीर्थी “धैर्य” नो उपसंहार करी रहा छे.

आना पठी क्वशः “आश्रयोतः” वगेरे शब्दोदीर्थी आश्रयनुं निःपृष्ठं आचार्यरेषु करी रहा छे. “अतः” शब्दनो अर्थ ए छे के, धैर्यना निःपृष्ठं पठी हवे आश्रयनुं निःपृष्ठं करवाभां आवी रह्यु छे. घेला “आश्रय” नुं इलित स्वपृष्ठ “ओहिक” वगेरे शब्दोदीर्थी आचार्यरेषु कही रहा छे. “ओहिक” शब्दनो अर्थ छे-आ ज्ञ-भमां अथवा आ काणमां थवा वाणां ले कार्यो छे, ते ओहिक कार्यो छे. “पारतोडे” शब्दनो अर्थ ए छे के, आ लोक थी अलग अटेलेके अंतरिक्ष लोकथी लई भ्रह्मलोक पर्यतना ले कार्यो छे, ते पारतोडिक कार्यो छे. “य” शब्दनो अर्थ ए छे के, कदाचित् भगवदित्याथी नरकभोग पश प्राप्त थई ज्य, तो त्यां पश “काया-वाणी-मन, बधां वडे हरिज भाङ्ग शरण छे”, ए प्रकारथी भनभां निश्चय करीने रहेहुं ज्ञेर्याए, आ अर्थ छे. भगवदीयो भाटे तो नरक पश स्वर्गं भनी ज्य छे, एमना भाटे तामिस वगेरे नरक पश नरक नथी होहुं. आज करणाथी विष्णुपुराणमां पश “ब्लेनुं मन वासुदेव भगवानमां होय छे, लप-होम-अर्चन वगेरभां होय छे; हे भैत्रेय । तेना भाटे स्वर्गं नी प्राप्तिपृष्ठ विद्धन्त छे” आ प्रकारे इहेहुं छे. आ प्रकारे सामान्यपृष्ठी सभस्त कार्यो भां शरणागति कहेवामां आवी छे. हवे अहीं आज शरणागति कोई विशेष प्रसंगोभां पश करवी आवश्यक छे तेम बताववामां आवी रह्यु छे. ते विशेष प्रसंगो “दुःखहानौ” थी लझै “सर्वथा शरणं हरिः” सुधीनी पंक्तिमां कहा छे. दुःख भटी ज्य त्यारे पश हुर्खना आवेशभां शरणागति ने भूलबी ज्ञेर्याए नहीं, आ अर्थ छे. आज प्रकारे आ पंक्तिमां कहेलां सभस्त प्रसंगो भां शरणागतिनुं सदाय स्वभरण राख्यवुं ज्ञेर्याए.

एतद् इत्यादि शब्दों से आचार्यर्चरणों ने ‘धैर्य’ का उपसंहार किया है और इसके पश्चात् क्रमशः आश्रयोतः इत्यादि शब्दों से ‘आश्रय’ का निरूपण कर रहे हैं । अतः शब्द का अर्थ यह है कि, धैर्य के निरूपण के पश्चात् अब आश्रय का निरूपण किया जा रहा है । पहले ‘आश्रय’ का फलितस्वरूप ऐहिक इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । ऐहिक शब्द का अर्थ है- इस जन्म में अथवा इस काल में होने वाले जो कार्य हैं, वे ऐहिक कार्य हैं । पारतोके शब्द का अर्थ यह है कि, इस लोक से इतर अर्थात् अंतरिक्षलोक से लेकर भ्रह्मलोकपर्यन्त जो कार्य हैं, वे पारतोकिक कार्य हैं । ‘च’ शब्द का अर्थ यह है कि, कदाचित् भगवदिच्छा से नरकमोक्ष भी प्राप्त हो जाय, तो वहां भी “काया-वाणी-मन सभी प्रकार से हरि ही मेरी शरण हैं”, इस प्रकार से मन में निश्चय करके रहना चाहिए, यह अर्थ है । भगवदीयों के लिए तो नरक भी स्वर्ग ही बन जाते हैं, उनके लिए तामिस आदि नरक भी नरक नहीं होता । इसी कारण विष्णुपुराण में भी “जिसका मन वासुदेव भगवान में होता है, जप-होम-अर्चन आदि में होता है, हे भैत्रेय ! उसके लिए स्वर्ग की प्राप्ति भी विज्ञ ही है” इस प्रकार से कहा गया है । इस प्रकार सामान्यरूप से समस्त कार्यों में शरणागति कही गई है । अब यहाँ वही शरणागति किन्हीं विशेष कार्यों में भी करनी आवश्यक कही जा रही है । वे विशेष कार्य ‘दुःखहानौ’ से लेकर सर्वथा शरणं हरिः: तक की पंक्ति में कहे गये हैं । दुःख मिट जाएं तब भी हर्ष के आवेश में शरणागति नहीं भूल जानी चाहिए, यह अर्थ है । इसी प्रकार इस पंक्ति में कहे समस्त कार्यों में शरणागति का सदैव स्मरण रखना चाहिए ।

पाणे प्रारब्धवशाज्जाते, भये शत्र्वादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूर्णेऽनिष्टतौ भक्तेषु द्वे जातेषि, अन्यत्र भक्तिं हृष्टा स्वस्य भक्तिहित्वेन स्वृहामात्रेषि, भक्तैः स्वस्यातिक्रमे कृतेषि तेषु प्रतिकूल्यं न कार्यमितिभावः । अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुमयोर्येऽर्थे, सुशक्येऽनायासेन कर्तुं योर्येऽर्थे, उभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थे । अहङ्करण कृतेऽहङ्करकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहङ्करण कृतेऽपि । चकारः सर्वत्र समुक्त्यार्थः । पोष्यवर्गस्य दैववशादित्रिमे सति । अन्तेवासी भगवन्मार्गजिज्ञासुः शिष्यः । सर्वार्थं सर्वस्मिन्नुक्तानुकूलस्येष्येष्यपि हरिरेवाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

आपशां प्रारब्ध अनुसार ले आपशांथी पाप थाय छे, शत्रु-वगेरेथी ले भय थाय छे, आपशां भनभां लौकिक-

अलौकिक अथवा कोई साधारण ईच्छा थाये हो अथवा “आहि” पद थी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पाणि लर्हिए तो आ समस्त कार्यों मां हरिनी शरणागति ज सर्वथा आवश्यक हे. अने तेमज, जे आ धर्म-अर्थ-काम-मोक्षनी याहुना “अपूरण” पूरी न थाय तो; भक्तना मनमां द्रोह (भगवान् प्रत्ये रोष) उत्पन्न थाय त्यारे पाणि; बीजनी भक्ति लेईने पोतानामां भक्तिनो अभ्यास देखाय त्यारे पाणि; बीज भक्तो द्वारा तिरस्कृत करवामां आवे त्यारे पाणि तेमनामां प्रतिकृष्ण भाव न राखवो लेईये, आवो भाव हो. आवी रीते आपणे कोई कार्य करवामां “सुशक्तये” समर्थ पाणि थर्हिए तो पाणि, बधीज परिस्थितिओ मां हरि नी ज शरणभावना करवी लेईये. अही श्रीमहाप्रभुल्ले “अशक्तये” अने “सुशक्तये” बंनेय पदोनी लेडे “वा” शब्द “अपि” ना अर्थमां वापर्यो हो अने अने बंने नी लेडे वापरवानुं कारण आज हो. (नहीं तो “भुशक्तये” अथवा “अराक्षये” बंने मांथी कोई एक कार्यमाज शरणागति राखवी लेईये, अंपां अर्थ थर्ह जतो. परंतु बंने पदोनी लेडे “वा” शब्द ना प्रयोग करवायाही “अशक्तये कार्योमां पाणि अने सुशक्तये कार्योमां पाणि हरिनी ज शरणभावना करवी लेईये” आ प्रकारे सुंदर अर्थ भेसी जय हो.) अहंकार करवा (पोषण करवून अने रक्षण करवून नो अर्थ हो “पोष्यपोषण रक्षणे”) अर्थात् परिवारजनोना पालनपोषणमां अभिभान थर्ह जय त्यारे पाणि; “च” शब्द उपर्युक्त समस्त परिस्थितिओनो सूचक हो. भाग्यवश परिवारजन आपणो तिरस्कार करी हो त्यारे पाणि; “तथाते वास्यतिक्षमे” भगवन्नार्थनो लज्जासु कोई शिष्य पाणि तिरस्कार करे त्यारे पाणि कहेलां न कहेलां समस्त कार्योमां -प्रसंगपोमां हरिज आश्रयशीय हो, आ अर्थ हो ॥ १२ ॥

अपने प्रारुद्ध के अनुसार जो हमसे पाप होता है, शत्रु-आदि से जो भय होता है, हमारे मन में लौकिक-अलौकिक या कोई साधारण इच्छा होती है, या ‘आहि’ पद से धर्म-अर्थ-मोक्ष भी ते तें तो इन समस्त कार्यों में हरि की शरणागति ही सर्वथा आवश्यक है। और भी, यदि ये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की चाहना पूरी न हो तो भक्तों में द्रोह भगवान् के प्रति रोष उत्पन्न हो जाने पर भी; अन्य दूसरे की भक्ति देखकर स्वयं में भक्ति का अभाव दिखाइ देने पर भी; दूसरे भक्तों द्वारा तिरस्कृत किए जाने पर भी उनमें प्रतिकूल भाव नहीं खड़ा चाहिए, यह भाव है। इसी प्रकार स्वयं किसी कार्य में असमर्थ हों या करवाने में असमर्थ हों अथवा स्वयं अपने प्रयासों द्वारा किसी कार्य को करने में समर्थ भी हो जाएँ, दोनों ही परिस्थितियों में हरि की ही शरणभावना करनी चाहिए। यहाँ श्रीमहाप्रभुजी ने ‘अशक्तये’ एवं ‘सुशक्तये’ दोनों ही पदों के साथ ‘वा’ शब्द ‘अपि’ के अर्थ में प्रयुक्त किया है और इसे दोनों के साथ प्रयुक्त करने का यही तार्त्यर्थ है। अन्यथा तो ‘सुशक्तये’ या ‘अशक्तये’ दोनों में से किसी एक कार्य में ही शरणागति करनी चाहिए, ऐसा अर्थ हो जाता। परंतु दोनों पदों के साथ ‘वा’ शब्द का प्रयोग करने से “अशक्तये कार्यों में भी एवं सुशक्तये कार्यों में भी हारि की ही शरणभावना करनी चाहिए” इस प्रकार से सुंदर अर्थ बैठ जाता है। अहंकार करने पर पोषण करना और रक्षण करने का अर्थ है “पोष्यपोषणमध्यमों” अर्थात् परिवारजनों के पालनपोषण में अहंकार पनप जाने पर भी; ‘च’ शब्द उपर्युक्त समस्त परिस्थितियों का बोतक है; भाग्यवश परिवारजन यदि हमारा तिरस्कार कर दें तब भी; भगवन्नार्थ का जिज्ञासु कोई शिष्य भी तिरस्कार करे, तब भी कहे-अनकहे समस्त कार्यों में हरि ही आश्रयणीय हैं, यह अर्थ है ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तसमझी । तेनालौकिकमनःसिद्ध्यर्थमेव सर्वार्थं हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवसितः । एवमिति ।
.विवेकादीनां स्वरूपं याद्वायुक्तं तादृशं सदा चित्ते सम्यग्नुसन्ध्येम् । वाचा च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परिकीर्तयेत् परितः सर्वतः कीर्तयेत् । चक्रारात् कायव्यापारयोर्यां कुर्यादपि ॥ १३ ॥

“अलौकिकमनः सिद्धौ” शब्दमां निमित्तसमझी-विभक्ति हो. (टीकाकार अंग कही रह्यां हो के आ पदमां निमित्तसमझी विभक्ति नो प्रयोग थाय हो. ज्यारे कोईने कार्य करवामां आवी रह्यु होय तो त्यां चतुर्थीविभक्तिनो प्रयोग थाय हो. जेम कहेवामां आवे के “बिक्षुकाय भोजनं ददाति” अर्थात् बिक्षुक भाटे भोजन आपे हो, तो अही “बिक्षुक” शब्दमां चतुर्थीविभक्तिनो प्रयोग थायो. परंतु जे कोई कार्यमें करवामां कोई निमित्त होय अथवा ते कार्यमें करवा भाटे कोई विशेष प्रयोजन होय तो त्यां चतुर्थीविभक्तिनो प्रयोग न थर्हने समझीविभक्तिनो प्रयोग थाय हो अने तेने निमित्त-समझी कहे हो. जेम अही “अलौकिकमनः सिद्धौ” मां हो. अही मनने अलौकिकपथी सिद्ध करवानुं हो तेथी अही अलौकिकता विशेष प्रयोजन हो. आज पक्षने हुए वधारे समजवा माटे

“भक्तिवर्धिनी” ग्रंथनी टीकाओना हिंदी अनुवादमां पृष्ठ संख्या ७८ पर संयुक्ता-टीका जुओ) आनाथी ए सिद्ध थाथ छे के मननी अलौकिकतानी सिद्धिने भाटे समस्त कार्यों मां हरिज आश्रय छे, ऐनो अर्थ सिद्ध थाथ छे. हवे “अेषम्” शब्दनी व्याख्या करी रह्या छे. आनो अर्थ ए छे के, विवेक-धैर्य-आश्रयनु जेवुं स्वधृप उपर बतावधामां आव्युं छे, तेवा स्वधृपनुं ‘सदा चिते’ चित्तां सुच्यङ् प्रकारे सदा अनुसंधान करता रहेवुं ज्ञेष्ये. अने “वाचा अ” वाली द्वारा पाण पोताने भाटे अथवा तो बोल्न्होने बोध कराववा भाटे “पृथिवीतर्थे” सुच्यङ् रीते हरि नुं ईर्तन करवुं ज्ञेष्ये. “अ” शब्दथी वालीनी साथे-साथे शरीरनो पाण यथा योग्यत्पथी भगवद्-विनियोग करवो ज्ञेष्ये ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धी शब्द में निमित्तसमर्पिविभक्ति का प्रयोग हुआ है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि इस पद में निमित्तसमर्पिविभक्ति का प्रयोग हुआ है। जब किसी को कुछ देने के लिए कोई कार्य किया जाता हो तो वहाँ चतुर्थीविभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे कहा जाय कि ‘मिथुकाय भोजनं ददाति’ अर्थात् मिथुक के लिए भोजन देता है, तो यहाँ ‘मिथुक’ शब्द में चतुर्थीविभक्ति का प्रयोग हुआ। परंतु यदि किसी कार्य को करने में कोई निमित्त हो या उस कार्य को करने के लिए कोई विशेष प्रयोजन हो तो वहाँ चतुर्थीविभक्ति का प्रयोग न होकर समर्पिविभक्ति का प्रयोग होता है और उसे निमित्त-सतमा कहते हैं। जैसे यहाँ ‘अलौकिकमनःसिद्धी’ में है। यहाँ मन को अलौकिक रूप से सिद्ध करना है अतः यहाँ अलौकिकता विशेष प्रयोजन है। इसी कारण यहाँ चतुर्थीविभक्ति का प्रयोग न होकर समर्पिविभक्ति का प्रयोग हुआ है। इसी पक्ष को और अधिक जानने के भक्तिवर्धनीयता की टीकाओं के हिंदी-अनुवाद में पृष्ठ संख्या ७९ पर संयुक्ता-टीका देखें। इससे यह सिद्ध होता है कि मन की अलौकिकसिद्धि के लिए ही समस्त कार्यों में हरि ही आश्रय हैं, यह अर्थ निकलता है। अब एवम् शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, विवेक-धैर्य-आश्रय का जैसा स्वरूप उपर बताया गया है, वैसे स्वरूप का चित्त में भलीभाँति प्रकार से सदा अनुसंधान करते रहना चाहिए। और वाणी के द्वारा भी, स्वयं के लिए अथवा तो दूसरों को बोध कराने के लिए भलीभाँतिपूर्वक हरि का कीर्तन करना चाहिए। ‘च’ शब्द से वाणी के साथ-साथ शरीर का भी यथायोग्यरूप से भगवान में विनियोग करना चाहिए ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्त्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

यथाकथश्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्वरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा द्वितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्भुभाजार्यचरणविरचितो विवेकघैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्यस्य भजनं तत्रेति। तत्र तस्मिन्नाश्रयस्त्वयेष्य सम्पन्ने, अन्यस्य भगवद्वक्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं स्वस्यानाकारितस्य स्वरूप तत्समीपे गमनम्। चकारात्तेन सह शारीरसम्बन्धोपि न कार्यः। कार्यमात्रेपि कर्तुं विहिते स्वप्यमार्गविरोधिनि कर्तव्यये प्रार्थना कार्यतिशेषः। प्रार्थनीयो भगवान् तद्वतो वा। अत एव विष्णुधर्मोत्तरे शङ्करगीतासु “अपृष्ठा यस्तु यां काञ्चित् क्रियां नारमते हरिम्, असमिन्नार्थमर्यादस्तस्य तुष्ट्यति केशवं” इति।

हवे “अन्यस्य भजनं तत्र” वगेरे शब्दोनी व्याख्या करी रह्यां छे. आ शब्दोनो अर्थ ए छे के एक वार भगवाननो आश्रय सिद्ध थैर्य गया भृषी भगवद्-भक्तो सिवायना भीन्न लोको साथे व्यवहार राख्यो, वगर बोलाए ऐमनी पासे जवुं अने ऐमनी साथे दैहिकसंबंध राख्यो, वगेरे बधुं न करवुं ज्ञेष्ये. ले कार्य संप्रदायमां विहित होय अर्थात् स्वधर्मस्थी विद्व न होय, ऐवा कार्यमार्ग प्रार्थना करवी ज्ञेष्ये. प्रार्थना कां तो भगवानने करवी ज्ञेष्ये अथवा भगवद्-भक्तोने करवी ज्ञेष्ये. आज कराशे विष्णुधर्मोत्तर-शंकरगीतामां “ले भगवानने पूछ्या वगर कोई कार्यनो आरंभ नथी करतो, ऐवी तेनी आर्य-भर्यादा भगवान केशवने संतुष्ट करे छे”, आ वाक्य कहेवुं छे. (उपर्युक्त वाक्योथी ए सिद्ध थयुं के कोई पाण कार्यनो आरंभ करता। पहेला भगवदीयो ए भगवानने प्रार्थना करने अर्थात् तेमनी अनुभवि लइने ते कार्यनो आरंभ करवो ज्ञेष्ये.)

अब अन्यस्य भजन तत्र इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इन शब्दों का अर्थ यह है कि, एक बार भगवान का आश्रम सिद्ध हो जाने के पश्चात् भगवद्-भक्तों से अतिरिक्त दूसरे लोगों से व्यवहार रखना, बिना बुलाये उनके पार जाना एवं उनसे डैडिक-पंचंय रखना, इत्यादि सब नहीं करना चाहिए। जो कार्य संप्रदाय में विहित हो अर्थात् स्वधर्म से विरुद्ध न हो, ऐसे कार्य में ही प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना या तो भगवान से करनी चाहिए अथवा भगवद्-भक्तों से। इसी कारण विष्णुधर्मोत्तर-शंकरीता में- 'जो भगवान से पूछे बिना किसी कार्य को आरंभ नहीं करता, ऐसी उसकी आर्य-मर्यादा भगवान केवल वो संतुष्ट करती है'—यह बास्तव कहा गया है। उपर्युक्त वाक्यों से यह सिद्ध हुआ कि किसी भी कार्य का आरंभ करने से पहले भगवदीयों को भगवान से प्रार्थना अर्थात् उनकी अनुमति लेकर आरंभ करना चाहिए।

तथान्यत्रेति । यथा भगवति प्रार्थना तथाऽन्यत्र विरोधिनि विशेषण (तां) वर्जयेत् । यद्वा, भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना, तथा अन्यत्र स्वधर्मविरोधिनि (कार्ये) न कार्येति । ननु भगवत्प्रार्थनायामपि भगवाँस्तु साक्षात् बदत्येव किमपि, किन्त्वाचार्योक्तसङ्केतग्रहेणानुमीयते, इदमुक्तमिदं नोक्तमिति । तत्र जीवानामविश्वासः सम्भावित इति चेत्वाहुरविश्वासो न कर्तव्य इति । आचार्योक्तमार्ये यथविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्यर्थः । अविश्वासस्य महावाधकत्वानुसन्धानेन सर्वथा स न कार्य एवेत्यर्थः ।

“**तथान्यत्र**” शब्दनी व्याख्या करी रह्या छे. आगे अर्थ ये छे के, जे प्रकारे भगवानने ते यत्किंचित् प्रार्थना करवानु कहुं ते प्रकारे भगवानथी अलगे अन्य कोई देवी-देवताने तो ऐटली पशु प्रार्थना न करवी ज्ञेईये अने विशेषङ्गपथी ज्ञेओ भगवानना विरोधी होय, तेमने तो बिल्कुल न करवी ज्ञेईये.

अथवा ऐवो अर्थ करी लईये के, जे कार्य भगवद्-सेवामां विहित होय अने पोताना स्वधर्मनु विरोधी न होय तो ऐवा कार्योमां प्रार्थना करी शकाय छे, स्वधर्म थी विरोधी कार्यो मां नहीं। अहीं ऐ समजवुं पशु जड़ी छे के, भगवानने प्रार्थना करवाधी पशु भगवान साक्षात् प्रगट थईने तो कार्य कहेता नथी, परंतु आचार्यवरणो द्वारा कहेता संकेत द्वारा ऐ अनुमान लगावायां आये छे के कई वात प्रभुने कहेवी अने कई नहीं। आवामां जे लुपने आचार्यवरणोना उपदेशमां विश्वास न थतो होय तो तेने “**अविश्वासो न कर्तव्यः**” वगेरे शब्दोधी आचार्यवरणो कही रह्या छे. आचार्यवरणो द्वारा भतावेला भाग्यं पर जे अविश्वास कर्यो तो करेवुं बधुं ज्य व्यर्थ थई जरौ, आ अर्थ छे. भगवत्प्रभामां अविश्वास महाबाधक है, आ अनुसंधान राखीने क्यारेय पशु अविश्वास न करवी ज्ञेईये, आ अर्थ छे.

तथान्यत्र शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, जिस प्रकार भगवान से यत्किंचित् प्रार्थना करने को कहा गया, उस प्रकार भगवान से अतिरिक्त अन्य किसी देवी-देवता से तो उतनी प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिए। विशेषङ्गपथ से जो भगवान के विरोधी न हों ऐसे कार्यों में प्रार्थना कर सकते हैं, स्वधर्म से विरोधी कार्यों में नहीं। यहाँ यह समझना भी आवश्यक है कि, भगवान से प्रार्थना करने पर भी भगवान साक्षात् प्रकट होकर तो कुछ कहते नहीं, किंतु आचार्यवरणों द्वारा कहे गये संकेत द्वारा यह अनुमान लगाया जाता है कि कौन सी बात प्रभु से कहनी और कौन सी नहीं। ऐसे में यदि जीव को आचार्यवरणों के उपदेश में ही विश्वास न बैठता हो तो इसे अविश्वासो न कर्तव्यः इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है। आचार्यवरणों द्वारा बताए गये मार्ग पर यदि अविश्वास किया तो सभी कुछ व्यर्थ चला जायेगा, यह अर्थ है। अविश्वास भगवत्प्राप्ति में महावाधक है, यह अनुसंधान रखते हुए कभी भी अविश्वास नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है।

विश्वासदार्थार्थं किञ्चित्स्मरणीयमाहुर्ब्रह्मास्वचातकाविति । ब्रह्मास्वच चातकश्च तौ भाव्यौ, विश्वासार्थं स्मरणीयौ । अत्रायं भावः । यथा हनुमान् ब्रह्मास्वेणप्रतिकार्येण बद्धोपि बन्धकानामविश्वासेन मुक्तः । पश्चादुद्यमः सर्वोपि व्यर्थो जातः । अत्राविश्वासस्य महादोषहेतुन्ते ब्रह्मास्वं दृष्टान्तः । विश्वासमात्रस्य सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः । स यथा चातकः कथनं पशी यथा वर्षासु महज्जलमयनास्वाद्य स्वातिजलमल्पमप्यास्वाद्य पुनर्वर्षपर्यन्तं तत्प्रतीक्षया जीवन् यथा पूर्वेमव तिष्ठति । तस्य तु सर्वं स्वातिन्दुविश्वासेनैव योगाक्षेमादिनिर्वहो यथा, तथा सर्वं विहायाचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेवेत्यत्र तात्पर्यम् ।

आपशा विश्वासनी दृढ़ता भाटे आचार्यवरणो “**ब्रह्मास्वचातकौ**” वगेरे शब्दो द्वारा थोड़ा स्मरणीय प्रसंगो कही रह्या छे. विश्वास नी दृढ़ता भाटे “**ब्रह्मास्व**” अने “**चातकपक्षी**” नी भावना करवी ज्ञेईये अर्थात् तेमनुं स्मरण करवी ज्ञेईये. अहीं

अमनो भाव ए छे के, जेम हुमानल भ्रह्मात्र द्वारा बंधाया पटी भ्रह्मालनु मान राखवा माटे प्रतीकर ईर्षा वगर बंधाई तो गया पण स्वयं बांधवा वाणाओने भ्रह्मात्र पर पूर्ण विश्वास नहोतो तेथी तेओने एक लोपउनी कडी वधारे बांधी. अमनो आ अविश्वास नेईने हुमानल भ्रह्मात्रथी मुक्त थई गया अने ते पटी अमने फ्रीथी बांधवाना समस्त प्रथनो व्यर्थ थई गया. तेथी अविश्वास करवो ते भाहदोष छे, आ भताववा भ्रह्मालनु दृष्टां आपवामां आव्यु अने मात्र विश्वास करी लेवाथी समस्त कार्यो सिद्ध थई जाय छे आ भताववा माटे हुवे चातकपक्षी नु दृष्टां अभाई रह्यु छे. चातक नामनु झेई पक्षी जेम वधकातुमां भोटामां भोटा ज्ञानाशयु पण पीतुं नथी अने केवण स्वातिजलनां अल्प टीपांथी ज पोतानी तरस छीपावे छे अने फ्रीथी आगलां वर्ष सुधी तेक स्वातिजलनी प्रतीक्षामां पहेलानी जेम ज्ञवतुं रहे छे अने जेम ते चातकपक्षीना घोगक्षेमनो निर्वाह केवण ते स्वातिजलनां टीपां पर विश्वास राखवाथी ज थाय छे, तेम भाइनां बधा ज प्रथनो छोटी केवण आचार्यरथरणोना कथन पर विश्वास राखवाथी बधुंज कांઈ सिद्ध थई जाय छे- आ तात्पर्य छे.

हमारे विश्वास की दृढ़ता के लिए आचार्यरण ब्रह्मात्रचातको इत्यादि शब्दों द्वारा कुछ स्मरणीय प्रसंग कह रहे हैं। विश्वास की दृढ़ता के लिए 'ब्रह्मात्र' एवं 'चातकपक्षी' की भावाना करनी चाहिए अर्थात् इनका स्मरण करना चाहिए। यहाँ इनका भाव यह है कि, जैसे हुमानजी ब्रह्मात्र द्वारा बाँधे जाने पर ब्रह्माजी का मान रखने के लिए प्रतिरोध किए विना बाँध तो गये परंतु स्वयं बाँधने वालों को ब्रह्मात्र पर पूर्ण विश्वास न था अतः उन्होंने एक लोहे की कड़ी और बाँधी। उनका यह अविश्वास देखकर हुमानजी ब्रह्मात्र से मुक्त हो गये और इसके पश्चात् उन्हें पुनः बाँधने के समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो गये। अतः अविश्वास करना महादोष है, इस हेतु से ब्रह्मात्र का दृष्टां दिया गया। और मात्र विश्वास कर लेने पर समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं, इसे बताने के लिए अब चातक पक्षी का दृष्टां दिया जा रहा है। 'चातक' नामक कोई पक्षी जैसे वर्षाक्रतु में बड़े से बड़े जलाशय का भी जल नहीं पीता और केवल स्वातिजल की अल्प बूँदों से ही अपनी प्यास बुझाता है और पुनः अगले वर्ष तक उसी स्वातिजल की प्रतीक्षा में जीवित रहते हुए पूर्ववत् रहता है। जैसे उस चातकपक्षी के योगक्षेम का निर्वाह केवल उस स्वातिजल की बूँद पर विश्वास रखने से ही होता है, वैसे अन्य सभी प्रयत्न छोड़कर केवल आचार्यरणों के कथन पर विश्वास रखने से सभी कुछ सिद्ध हो जाता है, यह तात्पर्य है।

प्राप्तं स्वमार्गमर्यादयो कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेत कुयादित्यर्थः। | निर्मगो निरहङ्कार इत्यर्थः। स्वयं बहुज्ञत्वाद्यभिमानेनाचार्योर्त्तौ कुसृष्टिकृत्यनं न कार्यमितिभावः। यथाकथश्चिदिति। लोकवेदुकुलाचार्यापानानि कर्मणि येन केनापि प्रकारेण कुरुत्वा तु परित्यजेत्। उच्चव्र, अवचव्र, उच्चावच, तानि उच्चावचानि, उत्कृष्टिनिकृष्टानि। यद्यपि भगवद्धर्मपक्षया सर्वाण्यन्यानि कर्मणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेणोत्तमाभ्यमत्वं देयम्। ईश्वरामपि सर्वथा करणं भगवानेवाह, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत्'। आश्रयस्य विवेकयैरपेक्षयाऽन्यावश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिद्योपि सर्वथा साधकत्वश्चाहुः किं वेति। वेति पश्चान्तरे। विवेकयैर्विवशमस्य महापापतितस्यापि यथोक्ताश्रावयाश्रयणेनैव सकलपुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थेन बहुना प्रोक्तेन पुनः पुनर्वर्चनेन किम्? न किमपीत्यर्थः।

आपणा भार्गनी आ रीतनी भर्यादा कर्तव्यपे प्राप्त कर्नाने पुष्टिभागीय आचरण कर्वुं ज्ञेईओ, आ "प्राप्तं" शब्दनो अर्थ छे. "निर्भूमः" शब्दनो अर्थ छे- अभिभानथी रहित थईने भार्गमर्यादा निभाववी ज्ञेईओ. अर्थात् भेताना ज्ञान ना अहंकारथी ग्रसित थईने आचार्यरथरणोना उपदेशोने क्योण-इत्पित न भानवो ज्ञेईओ-आपो भाव छे. हुवे "यथाकथंचित्" वगेरे शब्दीनी व्याख्या करी रह्या छे. आनो अर्थ ए छे के लोक-वेद, कुलपरम्पराना आचरण द्वारा जेकार्यों प्राप्त थाय छे, तेमने ज्ञेभतेम करी लेवां ज्ञेईओ. उच्चयनीय कार्यों ने ज आचार्यरथरणो उच्चावचानि" शब्दयी कह्यां छे, जेनो अर्थ छे- उत्कृष्ट के निकृष्ट कार्य; तेमने ज्ञेम-तेम क्षियावत् करी लेवां ज्ञेईओ. जे के भगवद्धर्मनी तुलनामां तो अन्य समस्त कार्यों हीन ज छे, छतां पण लोकानुसार तेमने उत्तम के ज्ञन्य कह्या छे, आ जाइ देवुं ज्ञेईओ. आपणने आवां कार्यों करवानो उपदेश पण तो भगवानेज "हे कौन्तेय! सहजं कर्मो ज्ञे दोष्युक्त होय तो पण त्यागवा. ज्ञेई नहीं (भ. गी. १८/४८)" आ वाक्य द्वारा आपो छे. आश्रय तो विवेक-धैर्य नी पण तुलनामां अति आवश्यक छे अने कर्म-ज्ञान-उपासना वरेरे साधनो करतां पण वधारे साधक छे तेथी आचार्यरथरणो "किंवा" कही रह्या छे. "वा" शब्द जीज पक्षने भतावी रह्यो छे. (ऐटेसे भगवद्धर्मश्वीज बधुंज कांઈ सिद्ध थाय छे अथवा बीजां साधनों पर निष्ठा राखें तो सर्वं कांઈ व्यर्थ थई जशे, आ अर्थ छे.) उपर्युक्त विवेक-धैर्य थी रहित, महापापथी पतित ने पण ज्ञां उपर कहेल भगवानना आश्रय द्वाराज समस्त पुक्षार्थनी सिद्ध थई जती होय, तो ऐना थी अलग हुवे कांઈ वधारे कहेवाथी शुं लाभ ? कांઈ ज नहीं, आ अर्थ छे.

अपने मार्ग की इस प्रकार की मर्यादा कर्तव्यरूप से प्राप्त करके पुष्टिमार्गीय-आचरण करना चाहिए, यह प्राप्तं शब्द का अर्थ है। निर्गमः शब्द का अर्थ है-अहंकार से रहित होकर मार्गमर्यादा निभानी चाहिए। अर्थात् खुद के ज्ञान के अहंकार से ग्रसित होकर आचार्यचरणों के उपदेशों को कपोल-कल्पित नहीं मान लेना चाहिए, यह भाव है। अब यथाकथनित् इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इसका अर्थ यह है कि लोक-वेद, कुल-परंपरा के आचार द्वारा जो कार्य प्राप्त होते हैं, उन्हें येनकेन प्रकारण कर लेना चाहिए, त्यागना नहीं चाहिए। उच्च-नीच कार्यों को ही आचार्यचरणों ने 'उच्चावच्यनि' शब्द से कहा है, जिसका अर्थ है-उत्कृष्ट या निकृष्ट कार्य; इहैं जैसे-तैसे क्रियावृत् कर लेने चाहिए। यद्यपि भगवद्-धर्म की तुलना में तो अन्य समस्त कार्य हीन ही हैं, तथापि लोकानुसार इन्हें उत्तम या जघन्य कहा है, यह जान लेना चाहिए। हमें ऐसे कार्यों को करने का उद्देश भी तो भगवान् ने ही 'हे कौन्तेय ! सहज कर्म यदि दोषयुक्त हों तो भी नहीं त्यागने चाहिए (भ. गी. १८/४८)" इस वाक्य द्वारा दिया है। आश्रय तो विवेक-धैर्य की भी अपेक्षा अति आवश्यक है एवं कर्म-ज्ञान-उपासना आदि साधनों से भी अधिक साधक हैं अतः आचार्यचरण किं वा कह रहे हैं। 'वा' शब्द दूसरे पक्ष को बता रहा है। अर्थात् भगवदाश्रय से ही सभी कुछ सिद्ध होता है अथवा दूसरे साधनों पर निष्ठा रखेंगे तो सभी कुछ व्यर्थ हो जायेगा, यह अर्थ है। उपर्युक्त विवेक-धैर्य से रहित महापाप से पतित को भी जहाँ उपर कहे भगवान् के आश्रय द्वारा ही समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती हो, तो इसके अतिरिक्त अब और अधिक कहने से क्या लाभ ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है।

उपसंहरन्ति एवमिति । एवममुना प्रकारेण यदाश्रयान् तत् प्रोक्तम् । आश्रयणस्तं वस्तु प्रोक्तमित्यर्थः । सर्वेषां पतितापतितव्यीशुद्वासाधारणायम् । अत एव भगवत्ताप्युक्तम्, 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येषि स्युः पापयोनयः, विषयो वैश्यास्तथा शुद्धास्तेषि यान्ति परां गतिमित्यादिना । सर्वदा समयानियमेन । हितमतिसौख्यसम्पादकम् ।

आना पछी हवे आचार्यराजे "ऐवभू" वगेरे शब्दोधी उपसंहार करी रह्यां छे। "ऐवभू" शब्दनो अर्थ ऐ छे के, आ प्रकारथी अभे ले आश्रयनुं स्वधृप उतुं ते कही दीधुं। अर्थात् आश्रय करवा योऽय ले वस्तु उती, ते कही देवामां आवी। (अर्थात् आश्रय करवा योऽय वस्तु केवल भगवान् व॑ छे, तेमने कही देवामां आव्या, ऐवो भाव छे) पतित, अपतित, स्त्री, शूद्र, साधारण, भूदा प्रकारना व्यक्तियों भाटे आश्रय कही देवामां आव्यो, आ "सर्वेषां" शब्दना अर्थ छे। आज कारणे भगवाने पशु "हे पार्थ ! भारो आश्रय करीने तो पापयोनिवाला, स्त्री, वैश्य अने शूद्र पशु परमगतिने प्राप्त थर्थ जय छे। (भ. गी. ६/३२)" वगेरे वाक्योधी आज कहुं छे। "सर्वदा" नो अर्थ छे-आ आश्रयमां सभयनो कोई नियम नथी के एक निश्चित सभय सुधीज आश्रय करवामां आवे पशु आ आश्रय भधाव॑ सभये हितकरी छे। "हितम्" शब्दनो अर्थ ऐ छे के आ भगवदाश्रय धशुं सुध आपनारो छे।

इसके पश्चात् अब आचार्यचरण एवम् इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं। एवम् शब्द का अर्थ यह है कि, इस प्रकार से हमने जो आश्रय का रख्य पथा, वह कह दिया। अर्थात् आश्रय करने योग्य जो वस्तु थी, वह कह दी गई। अर्थात् आश्रय करने योग्य वस्तु केवल भगवान् ही हैं, वह कह दिए गये, यह भाव है। पतित, अपतित, स्त्री, शूद्र, साधारण यह सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए आश्रय कह दिया गया, यह सर्वेषां शब्द का अर्थ है। इसी कारण भगवान् ने भी "हे पार्थ ! मेरा आश्रय करके तो पापयोनिवाले, स्त्री, वैश्य, और शूद्र भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं (भ. गी. ९/३२)" इत्यादि वाक्यों से यही कहा है। सर्वदा का अर्थ है-इस आश्रय में समय का कोई नियम नहीं है कि, एक निश्चित काल तक ही आश्रय किया जाय परंतु यह आश्रय सभी समय हितकरी है। हितम् शब्द का अर्थ यह है कि यह भगवदाश्रय बडा सुखप्रद है।

ननु भक्तिज्ञानकर्मादेषु सत्तु सर्व विहाय कथं तदेकपरतया स्थेयमित्यत आहुः कलाविति । भक्तिरादिर्येषां, कर्मज्ञानादयो दुःसाध्या देशकालद्रव्यादिसाधनवैगुण्येन कर्तुं न शक्या इत्यर्थः । हिशब्दो लोकवेदप्रसिद्धियोत्तनार्थः । ननु लोके भवतु भक्त्यादीनामस्माकं तदकरणे किमायातम् ? इति विशेषज्ञज्ञासाधां स्वसम्मतिमस्मिन्नर्थे विश्वासार्थमद्वैर्म भवतिरिति । मतिः सम्पत्तिरित्यर्थः ।

न शश्यं मे विवेकादिनिस्पृणमथापि तु ।

त्वत्पदाम्नुजसन्ध्यानायस्तावीः कृतवानहम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भगवन्नन्दनचरणशरणश्रीमद्भगुनाथकृतौ

विवेकधैर्याश्रयदीपिका

समाप्ता ।

श्रीरघुनाथानं दीपिका

परंतु अहीं प्रश्न एवं थाय छे के भक्ति-ज्ञान कर्म वगेरे समस्त मार्गोंने छोड़ीने डेवण “आश्रय” मां ज तत्पर थईने रहेवानुं शुं तात्पर्य छे ? तो आचार्यचरणो ऐनो “कलौ” वगेरे शब्दोथी उत्तर आपी रह्या छे. भक्ति-कर्म-ज्ञान वगेरे मार्गो आ कलिकालमां “दुःसाध्या” दुःसाध्य छे अर्थात् देश-काल-द्रव्य वगेरे साधन दूषित थई ज्वाने कराहे नथी करी शकाता, आवो अर्थ छे. “हि” शब्दने लोकेष्वरमां भगवदाश्रयनी प्रसिद्धिने बताववा भाटे प्रयुक्त कर्मो छे. “चासो, भखे लोकमां भक्ति-ज्ञान-धर्म वगेरैनां साधनो दूषित थई गयां होय अने ते करवा निरर्थक थतां होय परंतु ते साधनो न करवाथी आपाणने शुं भज्युं ? ए बतावो” - ज्ञे कोई आवी विशेष लक्षासा करे, तो आचार्यचरणो आज उपदेशमां दृष्टिश्वास बनावी राख्या भाटे “भे भति:” वगेरे शब्दो कही रह्यां छे. “भति:” नो अर्थ थाय छे - सम्मति, अर्थात् आचार्यचरणोनी सम्मति तो मात्र भगवदाश्रय मांज छे - आ अर्थ छे.

नथी शक्य भासा भाटे विवेक-वगेरेनुं निःपण छतां पण ।

आपनां चरणकभलोमा ध्यानभश्र २५१, भे ते निःपण क्षु ॥ १ ॥

आ, श्रीभद्रधृष्णनंदनचरणो (श्रीगुंसाई) नां शरणागत श्रीभद्रधृष्णनाथ द्वारा करेली विवेकधैर्याश्रय दीपिका समाप्त थई ॥

परंतु यहाँ प्रश्न यह होता है कि भक्ति-ज्ञान-कर्म आदि समस्त मार्गों को छोड़कर केवल ‘आश्रय’ में ही एकपर होकर रहने का क्या तात्पर्य है ? तो आचार्यचरण इसका कलौ इत्यादि शब्दों से उत्तर दे रहे हैं । भक्ति-कर्म-ज्ञान आदि मार्ग इस कलिकाल में दुःसाध्य हैं अर्थात् देश-काल-द्रव्य-आदि साधन दूषित हो जाने के कारण नहीं किए जा सकते, यह अर्थ है । ‘हि’ शब्द लोकवेद में भगवदाश्रय की प्रसिद्धि को बताने के लिए प्रयुक्त किया गया है । “चलिए, भते लोक में भक्ति-ज्ञान-कर्म आदि के साधन दूषित हों गये हों और वे करने व्यर्थ होते हों परंतु उन साधनों को न करने से हमें क्या मिला ? यह बताइये” - यदि कोई ऐसी विशेष जिज्ञासा करे, तो आचार्यचरण इसी उपदेश में दृढ़ विश्वास बनाए रखने के लिए मे. मति: इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । मति: का अर्थ होता है-सम्मति अर्थात् आचार्यचरणों की सम्मति तो मात्र भगवदाश्रय में ही है, यह अर्थ है ।

इन विवेक-धैर्य-आश्रय का निरूपण करना मेरे लिए शक्य तो नहीं है,

तथापि आपके चरणकमलों में ध्यानमश्र रहते हुए मैंने निरूपण किया है ॥ १ ॥

यह, श्रीमद्भूमनंदनचरणों (श्रीगुणाईजी) में शरणागत श्रीमद्-रघुनाथ द्वारा की गई विवेकधैर्याश्रयदीपिका समाप्त हुई ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
 श्रीगोपीजनबलभाय नमः ।
 श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
 श्रीमद्भगवद्गदनानलावतारश्रीबलभाचार्यचरणविरचितः;

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्री गो. श्रीगोपीशविरचिता विवृतिः ।

४६५ ४६६

श्रीमदाचार्यचरणनखचन्द्रस्चे नमः ।
 हृदि प्रविश्य यद्ध्वानं निर्घूतं मे यथा स्वतः ॥ १ ॥
 यत्कृपातो विवेकादिधमाः स्वीये भवन्ति हि ।
 तत्पादतलसम्बन्धिरेणुः शरणमस्ति मे ॥ २ ॥

अथ भक्तिमार्गातीकारेण भगवतो दासत्वं प्राप्तस्य सेवायां प्रवृत्तस्य सेवानिवाहेण भक्तिदाढ्यर्थं नवरत्नोक्तविन्नात्यागकथने विवेकधैर्याश्रया यद्यपि सङ्केषण उक्तास्तथापि विवेकादीनां विशेषविज्ञानाभावे सेवायां तादशी दृढता न भविष्यतीति स्वीयानां विशेषेण तदाढ्यर्थं श्रीमदाचार्यचरणा विवेकधैर्याश्रयान् विस्तरतो निस्त्वयन्ति विवेकेति ।

श्रीमदाचार्य यरुणकभलोना नभथंद्रनी कांतिने नभस्कारः;
 लेणे भारा हृदयमां प्रवेश इरीने स्वतः (अर्थात् प्रार्थना वगर) समस्त अंधकारने नष्ट कर्यो ॥ १ ॥
 ले आर्यार्थयरणोनी कृपाथी स्वीयजनो (निजजन) भां निक्षितङ्गपथी विवेक-आदि धर्म उत्पन्न थाय छे,
 एमना यरणतलथी संभवित रेणु मारी शरण छे ॥ २ ॥

हे भक्तिभार्गमां प्रभुद्वारा अंगीकार थर्थ गया पछी ज्यारे ज्याने भगवाननुं दासत्वं प्राप्त थाय छे अने ज्यारे ऐ भगवत् सेवामां प्रवृत्त थाय छे त्यारे भगवत् सेवानो सारी शीते निर्वाह करवा भाटे भक्तिनी दृढता आवश्यक होय छे. ज्ञेत नवरत्नं ग्रंथमां आर्यार्थयरणोचे चिन्तानो त्याग भताव्यो छे अने विवेक-धैर्य-आश्रय पण संक्षिप्तपथी कही दीधेल छे तो पण आ विवेक-आदिनुं विशेष ज्ञान न होवाने कारणे भक्तिमां तेवी दृढता थर्थ शक्ती नथी. तेवी भक्तिनी विशेष दृढता प्राप्त करवा भाटे अहंया श्रीमदाचार्यचरणा विवेक-धैर्य-आश्रय ने विस्तारथी निझपणा करी रह्या छे अने विवेक वगेरे शब्दोथी प्रथम श्लोकनो आरंभ करी रह्यां छे.

श्रीमदाचार्यचरणकर्मतों के नखचंद्र की कांति को नमकार,
 जिसने मेरे हृदय में प्रवेश कर स्वतः ही अर्थात् प्रार्थना बिना ही समस्त अंधकार को धो दिया ॥ १ ॥
 जिन श्रीमदाचार्यचरणों की कृपा से स्वीयजनों निजजनों में निश्चय ही विवेक-आदि धर्म उत्पन्न होते हैं,

उनके चरणतल से संवर्धित रेणु मेरी शरण है ॥ २ ॥

अथ भक्तिमार्ग में अंगीकार हो जाने के पश्चात् जब जीव को भगवान का दासत्वं प्राप्त होता है एवं जब वो भगवद्-सेवा में प्रवृत्त होता है, तब सेवा का भवित्वाति निर्वाह करने के लिए भक्ति की दृढता आवश्यक होती है। यद्यपि नवरत्नग्रंथ में चिन्ता का त्याग बताया गया है एवं विवेक-धैर्य-आश्रय भी संक्षिप्तरूप से कह दिये गये हैं तथापि इन विवेक-आदि का विशेषरूप से ज्ञान न होने के कारण भक्ति में वैरागी दृढता नहीं हो पाती। अतः भक्ति की विशेष दृढता प्राप्त करने के लिए यहाँ श्रीमदाचार्यचरण विवेक-धैर्य-आश्रय का विस्तार से निष्पण कर रहे हैं एवं विवेक इत्यादि शब्दों से प्रथम श्लोक का आरंभ कर रहे हैं।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
 विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सेवायां प्रवृत्तस्य प्रथमं विवेकः सर्वधारेष्ठितः । ततो धैर्यम् । एतद्यसिद्ध्यर्थमाश्रयश्चेति क्रमः । एवं सति सर्वात्मनाश्रय एव कृते सर्वं सेत्यतीत्यन्ते तत्प्रस्तुपणम् । तत्र प्रथमं विवेकलक्षणं निरूपणत्ति विवेकत्त्वति । हरिः सर्वतःखहर्ता । सर्वं लौकिकं स्वप्रयत्नसाध्यं योगक्षेमादि । अलौकिकं भगवत्सेवौपयिकं च स एव करिष्यति, न तु सेवां विहाय स्वप्रयत्नादिकं कर्तव्यमिति प्रथमो विवेकः ।

भगवत् सेवामां सर्वप्रथमं “विवेक” सुर्वथा आवश्यक छे. विवेक पछी लुभमां “धैर्य” आवश्यक होय छे. आ बनेने सिद्ध करवा भाटे “आश्रय” आवश्यक होय छे-आ फ्रम छे. आ परिस्थितिमां भद्रा ज्ञ प्रकारे “भगवद्-आश्रय” करवाथी ज्ञ समस्ता कार्यों सिद्ध थर्थ ज्ञशे -आ वात भतावा भाटे आचार्यचरणोच्चे विवेक अने धैर्य पछी आश्रयनुं निःपण क्षु छे. हवे आपश्री विवेक नुं पहेलो लक्षण विवेकस्तु वगेरे शब्दोधी करी रह्या छे. आ पंक्ति भां आपश्रीच्चे आ भताव्युं छे के छवना समस्त दुःभोनु हरण करनार उरि ज्ञ छे. सर्वं शब्दनो अर्थं आ छे के लुभ द्वारा साध्य लौकिक योग अने क्षेम अने भगवाननी सेवामां उपयोगी अलौकिक साधन वगेरे भद्रा ज्ञ पदार्थों भगवान ज्ञ आपशे. तेथी भगवत्-सेवाने छोडीने आ भद्राने प्राप्त करवानो प्रयत्न आपशे न कर्वो नेईच्चे आ प्रथम “विवेक” छे.

भगवद्-सेवा में सर्वप्रथम ‘विवेक’ सर्वथा आवश्यक है । विवेक के पश्चात् जीव में ‘धैर्य’ होना आवश्यक है । इन दोनों को सिद्ध करने के लिए ‘आश्रय’ आवश्यक है-यह क्रम है । इस परिस्थिति में सभी प्रकार से ‘भगवद्-आश्रय’ करने पर ही सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा, यह वात बताने के लिए विवेक एवं धैर्य के पश्चात् आश्रय का निरूपण किया गया है । अब श्रीमहाप्रभुजी विवेक का प्रथम लक्षण ‘विवेकस्तु’ इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । इर्में उठोने यह बताया है कि, हरि ही समस्त दुःखों का हरण करने वाले हैं । सर्वं शब्द का अर्थ यह है कि, हमारे द्वारा साध्य लौकिक योग एवं क्षेम-आदि एवं भगवान की सेवा में उपयोगी अलौकिक साधन; इन सभी पदार्थों का संपादन भगवान ही करेंगे । अतः भगवद्-सेवा को छोड़कर इनको प्राप्त करने के लिए हमें प्रयत्न-आदि नहीं करना चाहिए, यह प्रथम ‘विवेक’ है ।

यतः सर्वेषामपि दुःखहर्ता स एव । मम त्वक्षीकृतस्यापेष्ठितं करिष्यत्वेचेति विश्वासेन सेवैव कार्या, न तु प्रयत्नादिकम् । तत्करणे बाहिरुम्भं सेवाप्रतिबन्धादिकं भवतीति एतदेव “चिन्ता कापि” तिळोके निरूपितं नवरत्ने । ननु प्रार्थनाभावे कथं करिष्यति तत्राहुर्निजेच्छात इति । स अलौकिकः प्रभुः स्वकीयानामपेष्ठितं जानाति । सेवामपि जानातीति स्वेच्छायैव करिष्यति न प्रार्थनामपेष्ठत इति प्रार्थना न कार्येतिद्वितीयो विवेकः । एतदेव ‘सर्वेश्वरश्च सर्वात्मे’ त्योक्तं नवरत्ने ॥ १ ॥

कारणेषु भधाना दुःभने हरनार भगवान ज्ञ छे. “हुं तो भगवान द्वारा अंगीकृत थयो छुं तेथी भारा भद्रा आवश्यक कार्यं भगवान पूर्णं करशे ज्ञ” आवा प्रकारनो विश्वास भनभां दृढ़ करी आपशे भगवत् सेवा ज्ञ करवी नेईच्चे, आ लौकिक वैदिक कार्यों माटे पोते प्रयत्न न कर्वो नेईच्चे. जे आपशे पोते प्रयत्न करीशुं तो बहिर्भुवता अने भगवत् सेवामां प्रतिभंध थशे. आ ज्ञ वस्तु आचार्यचरणोच्चे नवरत्न ग्रंथां “कोई पाण चिन्ता नहि करवी नेईच्चे” (१) आ श्लोकानां निःपित करी छे. हवे जे कोईन ऐवी शंका होय के भगवान ने ज्यां सुधी प्रार्थना न करीच्चे त्यां सुधी ऐ आपशा कार्य ने केवी रीते पूर्णं करशे ? तो आ शंकानुं समाधान आचार्यचरणोच्चे निजेच्छातः वगेरे शब्दोधी क्षु छे. प्रभु तो अलौकिक छे अने स्वीयजननो जे कांઈ नेईतुं होय छे ते ऐ लाखे छे. लुभ द्वारा करेल सेवाने पश ऐ लाखे छे. तेथी भगवान ज्ञ करशे ऐ तेभनी ईश्छाथी ज्ञ करशे अने प्रार्थना नी अपेक्षा राख्या वसर करशे तेथी प्रार्थना नहीं करवी नेईच्चे-आ भीने विवेक छे. आ ज्ञ वात आचार्यचरणोच्चे “भगवान सर्वेश्वर छे अने सर्वात्मा छे” (२) आ नवरत्नं श्लोक द्वारा कही छे.

क्योंकि सभी के दुःखहर्ता भगवान ही हैं । “मैं तो भगवान के द्वारा अंगीकार हुआ हूँ अतः मैं आवश्यक सभी कार्य वे संपन्न करेंगे ही” इस प्रकार के विश्वास द्वारा भगवद्-सेवा ही करनी चाहिए, इन लौकिक-वैदिक कार्यों के लिए स्वयं प्रयत्न नहीं करना चाहिए । यदि हम ऐसा करेंगे तो वहिंमुखता होगी एवं सेवा में प्रतिबंध होगा । इसी बात को आचार्यचरणों ने नवरत्नग्रंथ में ‘कोई भी चिन्ता नहीं करनी! चाहिए (१)’ इस श्लोक में निरूपित किया है । अब यदि ऐसी शंका हो कि भगवान से जब तक प्रार्थना न करें तब तक वे हमारे कार्यों को कैसे पूरा करेंगे ? तो इसका समाधान आचार्यचरणों ने निजेच्छातः इत्यादि शब्दों से किया है । प्रभु तो अलौकिक हैं एवं स्वीयजनां को जो अपेक्षित है, वे उरे जानते हैं । जीव के द्वारा की गई सेवा को भी जानते हैं अतः भगवान जो भी करेंगे वह स्वेच्छा से ही करेंगे

और प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना करेंगे अतः प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, यह दूसरा विवेक है। यही आचार्यचरणों ने 'भगवान् सर्वेश्वर हैं एवं सर्वात्मा हैं' (२) इस नवरत्नशोलक द्वारा कहा है ॥ १ ॥

ननु प्रार्थना कुतो न कार्या, तत्राहुः प्रार्थिते वेति ।
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

कृतेपि प्रार्थने किं स्यात् किमपीत्यर्थः । तत्र हेतुः । स्वाम्यभिप्रायसंशयात् । भगवान् स्वेच्छयैव दास्यति, नान्यथेति, किमर्थं स्वधर्महानिः कर्तव्येति तृतीयो विवेकः । किञ्च, स्वस्य प्रयत्नकणेषि भगवांश्चेत्र दास्यति तदा प्रतिबन्धादिना तत्र सेत्यति । अथवा सर्वत्र स्वापेक्षितवस्तुनोऽभावात्तत्प्राप्तिर्न स्वशक्त्याः । अथवा, तद्रत्तेषि तथापि तत्प्राप्तिसाधने सामर्थ्यं नास्ति । भगवत्सु सर्वत्र तजद्रस्तु सिद्धमेवास्ति, अभावे वा तदैव तत्सम्पादने सामर्थ्यमर्पणि वर्तत इति । असाध्यमपि भगवान् साधयतीति तस्मेवां विहाय स्वप्रथत्वादिकं वृथेति चतुर्थो विवेकः ।

हेतु भगवानने प्रार्थना केम न करवी ज्ञेष्ठाये ? जे आवापि प्रश्न थतो होइ तो आचार्यचरणों तेनुं समाधान प्रार्थिते वा वगेरे शब्दोथी आपी रह्या छे.

आ श्लोकथी आचार्यचरणोंनुं तात्पर्य आ छे के भगवानने प्रार्थना करवाथी पण आभरे थरो शुं ? कई ज नहि. केम नहि थाय ? तो ऐनो उत्तर आपश्री स्वाम्यलिप्राय संशयात् वगेरे शब्दोथी आपी रह्या छे. ते आ भाटे कारणके भगवान आपणेने ने कांઈ पाण आपशे ते ऐमनी ईच्छा थी ज आपशे, नहि तो नहि. तेथी प्रार्थना करीने शा भाटे आपणे आपणो दासधर्मं बगाडवो ज्ञेष्ठाये ? -आ ग्रीने विवेक छे. अने जे लुप्त कोई वस्तुने प्राप्त करे अने भगवान तेने ते वस्तु आपवानी ईच्छा नथी राखता तो प्रतिबंधो द्वारा ते कार्यं ज सिद्ध नहीं थाय. अथवा आ समल लेखुं ज्ञेष्ठाये के लुप्तने जे वस्तु प्राप्त करवी होइ छे ते ऐने भाटे संभव होती नथी. अथवा जे ए संभव पण होइ तो पण ते वस्तु जे साधनो द्वारा प्राप्त थाय छे ते साधनोने प्राप्त करवानी तेनी सामर्थ्यं नथी होती परंतु भगवान भाटे तो बधी ज वस्तुओं सर्वत्र सिद्ध ज छे अने जे न पण होइ तो पण ऐने सिद्ध करवानी सामर्थ्यं पण ऐमनामां छे. भगवान तो असाध्य ने पण साधी ले छे. तेथी ऐमनी सेवाने छोड़ीने आ बधी लौकिक वस्तुओं भाटे आपणे प्रथन्न करवो व्यर्थ ज छे. -आ चोथो विवेक छे.

अब भगवानसे प्रार्थना क्यों नहीं करनी चाहिए ? यदि यह प्रश्न हो तो आचार्यचरण उसका समाधान प्रार्थिते वा इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं ।

उक्त कारिका से आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि प्रार्थना करने पर भी अंततोगत्वा होगा क्या ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है । क्यों नहीं होगा ? इसका कारण उन्होंने स्वाम्यभिप्रायसंशयात् इत्यादि शब्दों से दिया है । वह इस कारण क्योंकि भगवान् जो कुछ भी देंगे, वह स्वयं की इच्छा से ही देंगे अन्यथा नहीं । अतः प्रार्थना करके क्यों व्यर्थ में अपने स्वधर्मं (दासधर्मं) से विरुद्ध जाना चाहिए ? यह तीसरा विवेक है । और, यदि जीव किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करे और और भगवान् उसे देने की इच्छा नहीं रखते तो प्रतिवंध-आदि के द्वारा वह कार्यं सिद्ध ही नहीं होगा । अथवा, यह समझ लें कि इस कारिका में सर्वत्र शब्द का अर्थ यह है कि जीव को जो वस्तु चाहिए होती है उसका अभाव होने के कारण उस वस्तु की प्राप्ति उसके लिए संभव नहीं होती है । अथवा यदि उसके लिए संभव भी हो तथापि वह वस्तु जिन साधनों से प्राप्त होती है, उन साधनों को प्राप्त करने में उसकी सामर्थ्यं नहीं होती । किंतु भगवान के लिए तो सभी वस्तुएँ सर्वत्र सिद्ध ही है अथवा यदि सिद्ध न भी हों तो भी उनको संपादित करने का सामर्थ्य भी उनमें है । भगवान तो असाध्य को भी साध लेते हैं अतः उनकी सेवा को छोड़कर उन वस्तुओं के लिए स्वयं प्रयत्न करना वृथा ही है, यह चौथा विवेक है ।

तमेव निरूपयन्ति सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्रैव सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अभावेषि सर्वं सम्पादयितुं सामर्थ्यं वर्तत इति । सर्वत्र यत्र यत्र यद्यदस्तु वर्तते तत्सर्वं भगवत् एव, स्वाज्ञानेन लोकाः स्वत्वं मन्यन्त इति । यस्य यदपेक्षितं तदपि साक्षात्परम्परामेदेन भगवानेव ददाति । स्वाज्ञानेन मया प्रयत्नेन कृतमिति मन्यन्त इति मम पूर्वसिद्धमपि भगवतैव दत्तं, साम्रातं तदङ्गीकृतस्य तु दास्यत्येवेति निश्चयेन सेवैव कर्तव्या न प्राप्तनैतिभावः सूचितः ॥ २ ॥

आ ज वातने श्रीभद्राचार्यचरणों सर्वत्र वगेरे शब्दोथी निःप्रिति भरी रह्या छे. आवा सामर्थ्यवान भगवान भाटे दरेक

१ "स्वशक्त्या" द्वे २ अस्तीति पाठः

स्थजे द्वैक वस्तुओ सिद्ध ज छे. जे न पण होय तो पण तेमने ते ज क्षणे संपादित करवानुं सामर्थ्य पण अभ्यामां छे. आ संसारमां ज्या-ज्यां जे-जे वस्तुओ छे ते बधी भगवानी ज छे, पोताना अश्वान ना कारणे लोडो अभ्यने पोतानी मानी के छे तेथी नेमने वे ज्ञेर्हु होय छे ते बधु ज साक्षात् पृथ्वी अने परंपराङ्पर्य भगवान ज अने आपे छे. (अहियां “साक्षात् पृथ्वपरा भेद” ने समजे. आनो अर्थ अे छे के क्यारेक भगवान स्वयं साक्षात् पृथ्वी लुवने अपेक्षित वस्तु आपे छे, तो क्यारेक परंपराथी. क्षेवालुं तात्पर्य अे छे के पोताना भक्तोने तो भगवान साक्षात् पोताना स्वप्नप द्वारा अपेक्षित वस्तुनुं हान करे छे, अने अलक्तने कां तो वेपारनी परंपराथी अथवा तो तेनी योग्यताने अनुसार अथवा तो तेना कर्म ने अनुसार आपे छे, परंतु ज्याने आपे तो भगवान ज छे, आ अर्थ छे.) परंतु पोताना अश्वान नै कारणे लोको “आ मे भारा प्रयत्नोथी कर्तु छे” आवु मानी ले छे. तेथी आ बधु विचारीने आपाणे “मने व्रहसंबंध थवा पदेला पण वे मध्युं ते भगवाने ज आपुं हतु अने हमणां तो हुं अभ्याना द्वारा अंगिकार थयो छुं भटे भने तो ए आपरोज” आवा निश्चय साथे भगवत् सेवा ज करवी ज्ञेर्हे प्रार्थना नहि, आ भाव सूचित क्यों छे.

इयी बात को श्रीमदाचार्यचरण सर्वत्र इत्यादि शब्दों द्वारा निरूपित कर रहे हैं। ऐसे भगवान के लिए सर्वत्र सभी वस्तुएँ सिद्ध ही हैं। यदि न भी हों तब भी उन्हें तत्क्षण संपादित करने का सामर्थ्य भी उनमें है। इस संसार में जहाँ-जहाँ, जो-जो वस्तुएँ हैं वे सब भगवान की ही हैं, अपने अज्ञान के कारण लोग उन्हें अपनी मान वैठे हैं। जिसको जो अपेक्षित है, वह भी साक्षात् रूप से अथवा परंपरारूप से भगवान ही उसे देते हैं। यहाँ ‘साक्षात्परंपरामिद’ को समझें। इसका अर्थ यह है कि कभी भगवान स्वयं साक्षात् रूप से जीव को अपेक्षित वस्तु देते हैं, तो कभी परंपरा से। कहने का तात्पर्य यह कि अपने भक्तों को तो भगवान साक्षात् अपने स्वरूप द्वारा अपेक्षित वस्तु का दान करते हैं एवं अभक्त को या तो व्यापार की परंपरा से या फिर उसकी योग्यता के अनुसार या फिर उसके कर्म के अनुसार देते हैं परंतु सभी को देते तो भगवान ही है, यह अर्थ है। परंतु स्वयं के अज्ञान के कारण लोग “यह मैंने अपने प्रयत्नों से किया है” ऐसा मान लेते हैं। अतः यह सभी कुछ विचार कर “मुझे ब्रह्मसंबंध होने के पूर्व भी जो मिला वह भगवान ने ही दिया और इस समय तो मैं उनके द्वारा अंगिकार किया गया हूँ अतः मुझे तो वे देंगे ही” ऐसे निश्चय के साथ सेवा ही करनी चाहिए, प्रार्थना नहीं, यह भाव सूचित किया गया है ॥ २ ॥

ननु किञ्चित्कालं सेवां कुर्यादितरकाले चेदन्यत्कार्यं करोति, तदा को दोषस्तत्राहुरभिमानश्चेति ।

अभिभानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

समर्पणानन्तरं स्वदेहादिषु स्वत्वेनाभिमानस्त्याज्यः । तत्र हेतुः । स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । स्वतन्त्रत्वेनाभिमानात्-तद्विषये वृद्धेन्द्रियाणां विनियोगो भवतीति तत्प्राप्तेन तेषु सर्वेषु भगवति समर्पितत्वात्तद्विधीभावनं कार्यम्; एवं सति केवलं भगवदधीनत्वानुसन्ध्यानेन तद्वितिरिक्तकार्यकरणे दोषस्तूर्या स्वस्वामिसम्बन्धिकार्यमात्र एव स्वधर्मस्फूर्त्या च प्रभुसेवामेव करिष्यति, न त्वन्यद्, दोषस्तूर्यादिति पञ्चमो विवेको निरूपितः । एतदेव “निवेदनं च स्मर्तव्यसि” त्वस्य विवरणे ‘सर्वदा सर्वशेन तदीयत्वानुसन्ध्यानेन तथा न भविष्यती’त्युक्तं श्रीप्रभुचरणैः ।

हुये कदाच कोई अवृं कुहे के, थोडा समय माटे तो सेवा करे अने बाकीना समयमां कोई भीजुं काम करे तो शु अभ्यामां कोई होय छे ? तो अनो ज्याब श्रीआचार्यचरणो ‘अभिभानश्च’ वगेरे शब्दो थी कही रख्या छे, भगवानने सर्वसमर्पणं करी दीधा पछी पोताना शरीर, इन्द्रिय, पति, पत्नी, धर, धन वगेरे मां ‘आ माङ्ग छे’ तेवुं अलिमान छोडी देवुं ज्ञेर्हे. आनु कारण ‘स्वाम्यधीनत्व भावनात्’ वगेरे शब्दो थी आपशीचे कहुं छे. आपशी आशा करे छे के तेवुं न करवाथी स्वतंत्रता नी वृत्तिशी लुवमां अभिभान उत्पन्न थई ज्य छे अने ते सांसारिक विषयोगां देह अने इन्द्रियोनो उपयोग थई ज्य छे. परंतु अलिमान छोडी दृढ़ने; केम्के ते देह वगेरे भगवानेनेह समर्पित करेलां छे, भगवानने आपाणे अधीन छीचे तेवी भावना करवी ज्ञेर्हे. आम थई ज्याथी भवान विषयोगां डेवण भगवानी अधीनतानुंज अनुसंधान रहेशे अने भगवद्-संबंध सिवाय नुं कोई पण काम करवामां आपाणने आपणा पोतानामां दोष नो अनुभव थशे. तेथी लुवने पोताना स्वामी भगवानना संबंधि कार्यमां ज स्वधर्म छे तेम लागवा मांडशे अने ते प्रभु सेवा ज करशे, अन्य भीजुं कांઈ नहीं करे. केम्के अन्य भीजुं कांઈ पण करवुं तेना भटे दोषस्तूप छे-आ पांचयोगो विवेक भतावामां आव्यो. आज वात “निवेदन नुं स्मरण करवुं ज्ञेर्हे” (नवरत्न-२) -आ श्वोक ना विवरणमां श्रीप्रभुचरणोगे “सर्वदा सर्वतीते तदीयत्वानुं अनुसंधान करवाथी बहिर्मुभता अने स्वरचंद्राता नहीं

३ ‘कार्यकरण एव’ इतिपाठः । ४ ‘प्रभुकार्यमेव करोति’ इतिपाठः ।

थाय्” तेभ कही छे।

अब यदि कोई ऐसा कहे कि, कुछ समय तक के लिए तो सेवा कर लें और शेष समय में कोई दूसरा कार्य करें तो क्या इसमें कोई दोष है ? तो इसका उत्तर आचार्यरचन अभिमानस्त्व इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं । भगवान को सर्वसमर्पण कर देने के पश्चात् हमें अपने देहादि में स्वत्व का अभिमान त्याग देना चाहिए । इसका कारण आपशीने स्वाम्यधीनत्व भगवानात् इत्यादि शब्दों से कहा है । वे आज्ञा करते हैं कि, अन्यथा स्वतंत्रता की वृत्ति से जीव में अभिमान पनप जाता है और उन सांसारिक विषयों में देहेन्द्रियों का विनियोग हो जाता है । किंतु अभिमान त्याग देने से उन सभी सांसारिक विषयों में; चूंकि सभी कुछ भगवान को समर्पित किया जा चुका है, अतः उनकी अधीनता की भावना करनी चाहिए । ऐसा होने पर समर्पण विषयों में केवल भगवान की अधीनता का ही अनुसंधान होगा और भगवान से अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य करने पर हमें अनेकाएँ में दोष की अनुभूति होगी । ऐसा होने पर जीव को स्वयं के स्वामी भगवान से संवंधित कार्यों में ही स्वधर्म की अनुभूति होगी और वह प्रभुसेवा ही करेगा, अन्य कुछ नहीं । क्योंकि अन्य कुछ भी करना उसके लिए दोषरूप है, यह पौँच्चां विवेक निरूपित किया गया । यही बात ‘निवेदन का स्मरण करना चाहिए (नव/२)’ इस श्लोक के विवरण में प्रभुचरणों ने “सर्वदा सर्वां में भगवदीयता का अनुसंधान करने पर बहिर्भुखता एवं स्वच्छंदता नहीं होगी” इस वाक्य द्वारा कही है ।

किंवद्दनुसारे यथा स्वदेहादिष्वभिमानस्त्वाज्यस्तथा देहादिसम्बन्धिभार्यापुत्रादिष्वपि स त्याज्यः । तेषि स्वात्मना सह भगवतैवाङ्गीकृता इति तदधीना इति तेषामपि योगक्षेमं प्रभुरेव करिष्यतीति सर्वदानुसन्धानेन तदर्थमपि प्रयत्नादिकरणं न भविष्यतीत्यपि भावो ज्ञापितः । तत्राप्यभिमानः सम्यक् सवासनस्त्वाज्यो यथा तद्रासनापि न तिष्ठति । एतदेव “चिन्ता कापी” श्लोके ‘लौकिकलौकिकी च सा त्याज्ये’त्युक्तम् ।

तेट्टुं ज नहीं पाण लेभ आपाणे हेह-पगेरेमां अभिमाननो त्याग करवो ज्ञेर्याए, तेभ देह थी ज्ञेडायेलां पत्नी पुत्र वगेरे भां पश अभिमान नो त्याग करवो ज्ञेर्याए. तेभो पाण आपाणी ज्ञेडे ज भगवान द्वारा अंगीकृत यथा छे तेथी तेचो पश भगवानेन अधीन ज छे अने तेभना पश योगक्षेम नो निवार्हं प्रभु ज करवो. आ प्रकारे सर्वदा भगवानना अनुसंधान द्वारा अभेने भाटे पाण कोई प्रथत्व वगेरे करवानो अथकाश नहीं रहे, एवो भाव सूचित झें छे. अहीं अभिमाननो त्याग करवामां ‘सम्’ उपर्सर्ग लगायो छे (भूमि श्लोकमां ‘अभिमानः सम्+त्याज्यः’ ए प्रकारे करेलुं छे. ‘सम्’ उपर्सर्गनो अर्थ छे, सारी रीते, तो आ प्रकारे संपूर्ण अर्थ ए थायो के अभिमाननो सारी रीते त्याग करवो ज्ञेर्याए. हवे ते सारी रीते त्यागवुं अटेले शुं ? ए टीकाकार आगण नी पंक्तिभां भतावी रह्यां छे). अन्यो अर्थ ए छे के अभिमाननो सारी रीते त्याग करवो ज्ञेर्याए, एवी रीते के शीररामां वासना पाण न रहे. आज्ञ वात नवरत्नं ग्रंथना ‘चिन्ता कापि..’ श्लोक ना विवरणामां “लौकिक अलौकिक कोई पश प्रकरनी चिंता छोडी देही ज्ञेर्याए” आ वाक्य द्वारा प्रभुसंरणोंमें दही छे.

और भी, जैसे हमें देह-आदि में अभिमान का त्याग करना चाहिए, वैसे देह से संवंधित पत्नी-पुत्र आदि में भी अभिमान का त्याग करना चाहिए । वे भी हमारे संग ही भगवान द्वारा अंगीकृत हुए हैं अतः वे भी भगवान के अधीन ही हैं और उनके भी योगक्षेम का निर्वाह प्रभु ही करेंगे । इस प्रकार सर्वदा भगवान के अनुसंधान द्वारा उनके लिए भी कोई प्रयत्न-आदि करने का अवकाश नहीं रह जायेगा, यह भाव ज्ञापित किया है । यहाँ अभिमान का त्याग करने में ‘सम्’ उपर्सर्ग लगाया गया है । मूल श्लोक में ‘अभिमानः सम्+त्याज्यः’ इस प्रकार से कहा गया है । ‘सम्’ उपर्सर्ग का अर्थ है, भलीभौति से । तो इस प्रकार संपूर्ण अर्थ यह बना कि अभिमान को भलीभौति से त्यागना चाहिए । अब उस भलीभौति रूप से त्यागना क्या है ? यह टीकाकार आगे की पंक्ति में बता रहे हैं । इसका अर्थ यह है कि अभिमान को भलीभौति त्यागना चाहिए, उस प्रकार से कि जिस प्रकार से देह में वासना भी न रहे । यही बात नवरत्नग्रंथ के ‘चिन्ता कापि’ श्लोक के विवरण में “लौकिक-अलौकिक विरी भी प्रकार की चिन्ता त्याग देनीं चाहिए” इस वाक्य द्वारा प्रभुचरणों ने कही है ।

एवं श्रीमदाचार्याङ्गाया विवेकादिना सेवाकरणे स्वापेक्षितवस्तुज्ञापिका भगवदाज्ञा, तं प्रत्याचार्याङ्गातो विशिष्टा चेज्ज्यते, तदा साक्षा कर्तव्या, तदाहुर्विशेषत इति ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषणत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

चेद्विशेषतः सेवाविषयिण्याज्ञा स्यात्तदा भगवदपेक्षितार्थज्ञाने तद्विशेषणत्यादि कार्यं कर्तव्यम् । नो चेदाचार्याङ्गानुसरेणव कृतः ।

कार्यं सेवायामितिभावः । ननु साज्ञा कर्थं ज्ञायते ? तत्राहुरन्तःकरणोति । भगवदीयस्यान्तःकरणे गोचरः, साज्ञा भवति, स्वप्नद्वारा तां ज्ञापयतीत्वर्थः । अथवा, एवं सेवाकरणे यतः स प्रभुरत्नकरणगोचरो भक्तानामन्तःकरणे मनस्यात्मनि वा, अन्तःकरणं ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्यन्तःकरणे आत्मा तत्र स्थितो भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

आपौ रीते श्रीभद्राचार्यनी आज्ञानुसार विवेक वर्गेरेनुं ध्यानं राखता राखता सेवा करता समये ले कहाय ऐवुं थर्ट ज्येष्ठे भगवान्नने ले वस्तुनी ईर्ष्या हीय, ते भट्टे आपुने आज्ञा करे अने ते आज्ञा आचार्यरथरणोये आपेली आज्ञा करता कंडिक विशेष होय, तो अपौ परिस्थितिमां आचार्यरथरणो कही रह्यां छे के, भगवद् आज्ञानुं पालन करवुं जोईये आ वातने तेओ “विशेषतः” वर्गे शब्दोथी कही रह्या छे.

तेओशी कही रह्या छे के कहाय सेवा ना विषयमां भगवान्नी कोई विशेष आज्ञा थाय, त्यारे भगवान्नने अपेक्षित अपौ कोई वस्तुनुं ज्ञान थवा पर ते विशेष कार्ये ने करवुं जोईये. अने कहाय भगवान्नी कोई विशेष आज्ञा न हीय तो आचार्यरथरणो (गुड़) नी आज्ञाप्रभाणे ज भगवद्-सेवा करवी जोईये, अपौ अर्थ छे. भरंतु प्रश्न ए उलो थाय छे के भगवान्नी तेवी विशेष आज्ञा नी भवर केवी रीते पठे ? तो तेनो ज्वाब आचार्यरथरणो “अन्तःकरणु” वर्गे शब्दोथी आपी रह्या छे. ते आ प्रभाणे के, भगवान्नी आपी विशेष आज्ञा भगवदीयोनां अंतःकरणभां स्फुरित थाय छे. तेओ आ आज्ञाने स्वप्न द्वारा कहे छे, आपो अर्थ छे. अथवा एम समलू लो के आ प्रकारे सेवा करवाई केमें प्रभु भगवदीयोना अन्तःकरणभां भिराजमान थर्ट ज्येष्ठे तेथी तेथो ते भगवदीयने चेना मन अथवा आत्मा द्वारा तेवी प्रेरणा करे छे. जेना द्वारा समलू विचारीने ज्ञानपूर्वक काम करवाभां आये, तेने “अन्तःकरणु” कहे छे. आज अंतःकरणभां अंदर आत्मा रहे छे अने आत्मानी अंदर अन्तर्यामी रहे छे तेथी आत्मा द्वारा जे प्रभुसेवानी आज्ञा थाय, ते प्रभाणे करवुं जोईये ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमदाचार्य की आज्ञानुसार विवेक-आदि का ध्यान रखते हुए सेवा करते समय यदि कदाचित् ऐसा हो जाय कि भगवान को जो वस्तु वांछित हो, वे उसकी हाँै आज्ञा करें और यो आज्ञा आचार्यरथरणों के द्वारा दी गई आज्ञा से कुछ अधिक विशिष्ट हो, तो ऐसी परिस्थिति में आचार्यरथरण कह रहे हैं कि, भगवद्-आज्ञा का पालन करना चाहिए । इस बात को वे विशेषतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

वे कहते हैं कि यदि सेवा के विषय में भगवान की कोई विशेष आज्ञा हो जाय, तब भगवान को अपेक्षित ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस विशेष कार्य को करना चाहिए । और यदि भगवान की कोई ऐसी विशेष आज्ञा न हो तो आचार्यरथरणों की आज्ञानुसार ही भगवद्-सेवा करनी चाहिए, यह भाव है । किंतु प्रश्न यह उठता है कि भगवान की ऐसी विशेष आज्ञा जानी कैसे जाय ? तो इसका उत्तर आचार्यरथरण अन्तःकरण इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं । वह इस प्रकार कि, भगवान की ऐसी विशेष आज्ञा भगवदीयों के अन्तःकरण में स्फुरित होती है । वे उस आज्ञा को स्वप्न द्वारा बताते हैं, यह अर्थ है । अथवा यों समझ लें कि इस प्रकार से सेवा करने पर चौंकि प्रभु भगवदीयों के अन्तःकरण में विराजमान हो जाते हैं अतः वे उसे उसके मन अथवा आत्मा द्वारा ऐसी प्रेरणा करते हैं । जिसके द्वारा सोच-विचार कर ज्ञानपूर्वक कार्य किया जाय, उसे “अन्तःकरण” कहते हैं । इसी अन्तःकरण के अंदर आत्मा रहता है और आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रहता है अतः आत्मा के द्वारा जिस प्रभुसेवा की आज्ञा हो, वैसा करना चाहिए ॥ ३ ॥

एवं सति तादृष्टकरणे सेवाकरणे भक्तस्य सर्वांशे आत्मस्वरूपत्वेन भगवानेव स्फुरतीति साज्ञापि ज्ञायत इति । तदा विशेषगतिर्भवत्स्वरूपलीलयोः सम्बन्धिनी या विशेषगतिः सेवायां ज्ञाता भवेत्, तदादि सर्वं स्वेहाभावेन भाव्यं कर्तव्यं, नोचेदाज्ञानुसारैणीवैत्यर्थः । एतदेव “सेवाकृतिरि” तिष्ठोकेनिरूपितं नवरत्ने ।

तेथी उपर कहेल प्रकारे सेवा करवाई भक्तने भद्रीज रीते पोताना आत्मा तरीके भगवानज स्फुरित थाय छे अने आ रीते तेने भगवद् आज्ञा नी पशु जूष थाय छे. अहीं भूल कारिकामां आपेला “तदा विशेष गतिः” वर्गे शब्दोंनो अर्थ छे- भगवान्नां स्वकृपा तेभज लीला संबंधी विषयोनुं ज्ञान थवुं. एटेसे के उपर कहेल प्रकारे सेवा करवाई भक्त भगवान्नी विशेष गतिओ ने ज्ञानवा लागे छे, त्यारे तेणे आपी भगवदाज्ञाने स्नेहभावसाथे अनुसरवी जोईये. अने ले कोई विशेष भगवदाज्ञा न होय तो आचार्यरथरणो (गुड़) नी आज्ञा अनुसार कार्य करवुं जोईये. आज वात, “सेवा गुड़आज्ञा प्रभाणे करवी जोईये ज्यां सुधी भगवान्नी कोई विशेष आज्ञा न थर्ट होय (नवरत्न/७)” आ लेली द्वारा कहेली छे.

अतः उपर्युक्त प्रकार से सेवा करने पर भक्त को सर्वांशं मैं आत्मस्वरूपतया भगवान ही स्फुरित होते हैं और इस तरह उसे भगवद्-आज्ञा भी ज्ञात होती है । यहाँ मूल कारिका मैं आए तदा विशेष गतिः इत्यादि शब्दों का अर्थ है- भगवान के स्वरूप एवं लीला संवर्धी

विषयों का ज्ञान होना । अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से सेवा करने पर वह भगवान की इन विशेष गतियों को जानने लगता है । तब उसे ऐसी भगवद्-आज्ञा को स्नेहभावपूर्वक करना चाहिए । और यदि कोई विशेष भगवद्-आज्ञा न हो तो आचार्यचरणों की आज्ञा अनुसार कर्त्ता करना चाहिए । यही बात, 'सेवा गुरुआज्ञा के अनुसार करनी चाहिए जबतक भगवान की कोई विशेष आज्ञा न हो (नव०/७)' इस श्लोक द्वारा कही गई है ।

ननु कदाचिद्गौकिककार्येष्वपि भगवदाज्ञा विशेषण भवेत्तत्रादुर्भिर्नमिति । दैहिकादेहसम्बन्धिप्रादिविवाहोपनयनसूपाद्विन्मयथा भवति तथाज्ञा भवति, न तु लौकिककार्ये विशिष्टाज्ञा । तेन लौकिकं तु सर्वसमर्पणानन्तरं सर्वस्य तदीयत्वानुसन्ध्यनेन तद्विप्रसादत्वेन ताबन्मात्रमेवावश्यकं यत्कर्तव्यं, न तु विशेषोपासादेन धनाद्विव्यादिकं कर्तव्यमित्यादिरूपः पष्ठो विवेको निरूपितः ।

इवे कृदाय कोई लौकिक कार्यमां पण भगवाननी कोई विशेष आज्ञा थर्थ ल्य, तो शुं कर्वुं ? तो श्रीआचार्यथर्थरूपो तेनु समाधान "भिन्नं" वग्रे शब्दो थी करी रह्या छे. अहीं समज्युं ज्ञेर्ये के भगवाननी तेवी विशेष आज्ञा दैहिक कार्योथी भिन्न अलौकिक सेवा संबंधी कार्यों मां ज्ञ थाप छे. ज्ञेभ शरीरथी संबंधित पुत्र वग्रेना विवाह, उपनयन वग्रेरे कार्यों मां नथी थती पाण तेनाथी भिन्न अलौकिक सेवा संबंधी कार्यों मां थाप छे. लौकिक कार्योंमां भगवाननी विशिष्ट आज्ञा नथी थती. तेथी लौकिक कार्यों ले करवानां छे, ते तो सर्वसमर्पणं कर्पा पष्ठी भगवानमां भगवदीयतानी बुद्धि राधीने करवानां छे अने विवाह, जनोर्ध वग्रेरे तो भगवद् प्रसादरूप छे तेथी तेटलांज्ज काम करवा ज्ञेर्ये ज्ञेटलांज्ज ज्ञरी होय. लौकिकआवेशथी उत्साहमां आवीने धन-वग्रेनो वधारे अर्थ पण न कर्वो ज्ञेर्ये, आ छाँ विवेक भतावेल छे.

अब कदाचित् किसी लौकिक कार्य में भी भगवान की कोई विशेष आज्ञा हो जाय, तब क्या करना ? तो आचार्यचरण इसका समाधान गिन्न इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं । यहाँ समझना चाहिए कि भगवान की ऐसी विशेष आज्ञा दैहिक कार्यों से भिन्न अलौकिक कार्यों में ही होती है । जैसे देह से संबंधित पुत्र आदि के विवाह, उपनयन आदि कार्यों में न होकर उससे भिन्न अलौकिक सेवा संबंधी कार्यों में होती है । लौकिक कार्यों में भगवान की विशिष्ट आज्ञा नहीं होती । अतः लौकिक कार्य जो करने हैं, वह तो सर्वसमर्पण करने के पश्चात् सभी में भगवदीयता की बुद्धि रखते हुए करने हैं और ये विवाह, उपनयन आदि तो भगवद्-प्रसादरूप हैं अतः उतने ही कार्य करने चाहिए जो-जो आवश्यक हैं । लौकिकावेश से उत्साह में आकर धन-आदि का अधिक व्यय भी नहीं करना चाहिए, यह छठा विवेक निरूपित किया गया है ।

अथवा, भिन्नमिति विशेषगत्यादिविशेषणम् । तेन दैहिकाद्विभिन्नविशेषगतिकरणकथनेन विशेषाज्ञापि दैहिकविषयिणी न भवत्येवेत्युक्तं भवति, अनर्थरूपत्वात् ।

ननु सेवायामपेक्षितथनादिसाधनाभावे सा कर्यं निर्वहति ? तदा क्रणादिकमपि कृत्वा सामग्र्यादिकं कार्यं (सम्पादनीयं) न वेति, तत्राहुरपद्वत्यादीति ।

आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र भगवान्मार्गदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आपत्त्रासौ यानि कार्याणि भगवद्विषयकाणि, तेषु हठो न कार्यः । क्रत्णं कृत्वापि मया सर्वं कर्तव्यमेवेति हठो न कार्यः, किन्तु यथालाभसन्तोषेण प्रयत्नाभावेन यत्सम्पन्नं भवति, तदेव समर्पणीयम्, नान्यत् । मार्गस्थित्या यदेव समर्पणिष्यति तदेव साक्षात्ज्ञीकरियंतीतिभावः । एतदेव 'प्राप्तं सेवेत निर्मम' इत्यग्रे वक्ष्यन्ति च । यत्र भगवत्कार्येष्वपि हठो न कार्यस्तत्र लौकिककार्येषु किं बाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचित इति सप्तमो विवेकः ॥ ४ ॥

अथवा "भिन्नं" शब्द ने "विशेषगत्यादि" शब्दन्तु विशेषण भानी लैर्ये, ज्ञेनाथी ऐवो अर्थ थाप के भगवाननी विशेषगति (भगवद्भाज्ञा) दैहिक कार्यों थी जुदी ज्ञ होय छे. केम्हे आ दैहिक कार्यों मां पण आ प्रकारे भगवद्-आज्ञा भानी लेवामां आवे तो ते कार्य अनर्थकारी भनी शडे छे. (टीकाकार अन्तःकरणमां डेवण भगवद्-सेवा संबंधी स्तुरित थवा वाणी आज्ञाओं ने भगवाननी विशेष आज्ञा तरिके भतावी रह्या छे. तेओं कहे छे के लौकिक कार्योंमां अने देह संबंधी कार्यों ना संदर्भमां ले अन्तःकरणमां विचार उठे छे, तेने पण ले भगवद्-आज्ञा भानी लेवामां आवे तो अनर्थ थर्थ शडे छे. केम्हे लौकिक अथवा देह संबंधी विचार तो धर्म-अधर्म नुं ध्यान राख्यापवर तांस्त्री पण होई शडे छे. आवा विचारोमां उवित अने अनुचित नुं ध्यान राख्या वगर तेने हठात् भगवद्-आज्ञा भानी ने ते कार्य कर्वुं योग्य नथी, ऐवो अर्थ छे.)

हुवे कदाच कोई ऐवी शंका करे के भगवद्-सेवामां जड़ी ऐवा धन वगेरे साधन प्राप्त न होय तो सेवानो निर्वाह केवी रीते थाय ? आपी परिस्थितिमां देवुं वगेरे करीने पाणि सेवोपयोगी सामग्री अने साधन भेणवां ते नहीं ? त्यां आपश्री “आपद्वगत्यादि” ईत्यादि शब्दोथी कही रह्यां छे।

जे प्रभु विश्वक कार्योमां कोई आपत्ति आपी अथ तो तेमां हठ न करवी। देवुं करीने पाणि भारे बधुंज करवुं ज्ञेईचे तेवी ६६ न करवी ज्ञेईचे। परंतु जे कंઈ मध्युं छे तेमां संतोष रापीने प्रयत्नरहित थधिने जे थर्थ शके छे तेज भगवानने सभपाणि करवुं ज्ञेईचे, बीजुं कंई नहीं। पुष्टिभार्गीय पद्धति प्रभाषे लक्ष जे कंई पाणि भगवानने सभपर्ित करशे, भगवान ऐनो साक्षात् स्वीकार करशे ऐवो भाव छे। आज वातने आचार्यचरणो “प्रभुकृपा थी जे कंई प्राप्त थाय तेमां भमता न रापीने भगवत्सेवा करवी ज्ञेईचे” आ वाक्य द्वारा आगण कहेशे। तेही ज्यां भगवद् कार्योमां पाणि हठ न करवी ज्ञेईचे, त्यां लौडिक कार्योमां तो हठ न ज करवी ज्ञेईचे, ऐ आपमेण सभन्नर्ज अथ छे आवा देमुतिकन्न्यायने पाणि कह्यो अने सातमा विवेकनुं निःपाणि करवामां आव्युं छे ॥ ४ ॥

अथवा भिन्नं शब्द को विशेषगत्यादि शब्द का विशेषण मान तें, जिससे अर्थ यह बनेगा कि भगवान की विशेषगति भगवद्-आज्ञा वैदिक कार्यों से भिन्न ही होती है। क्योंकि यदि दैहिक कार्यों में भी इस प्रकार भगवद्-आज्ञा मान ली जाय, तो वह अनर्थकारी हो सकती है। टीकाकार अन्तःकरण में केवल भगवद्-सेवा संबंध में स्फुरित होने वाली आज्ञाओं को भगवान की विशेष आज्ञा बता रहे हैं। वे कहते हैं कि यदि लौकिक कार्यों में एवं देह संबंधी-कार्यों के संदर्भ में जो अन्तःकरण में विचार उठते हैं, उन्हें भी यदि भगवद्-आज्ञा मान ली जाय, तो अनर्थ हो सकता है। क्योंकि लौकिक या देह संबंधी विचार तो धर्म-अधर्म का ध्यान रखे बिना कुछ भी हो सकते हैं। इन विचारों में उचित-अनुचित का विचार करे विना उसे हठात् भगवद्-आज्ञा मानकर कर लेना युक्त नहीं है, यह अर्थ है। अब यदि यह शंका हो कि भगवद्-सेवा में आवश्यक धन-आदि साधन प्राप्त न हो तो सेवा का निर्वाह कैसे हो ? ऐसी परिस्थिति में ऋण-आदि भी लेकर भगवद्-सामग्री का जुगाड़ करना या नहीं ? तो आचार्यचरण इसका समाधान आपद्वगत्यादि इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

यदि भगवद्-विषयक कार्यों में कोई आपत्कालीन परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो उनमें हठ नहीं करना चाहिए। अर्थात् “ऋण लेकर भी मुझे ये कार्य तो करना ही है” इस प्रकार का हठ नहीं करना चाहिए। किंतु जो कुछ प्राप्त दुआ हो उसमें संतोष रखते हुए प्रयत्नरहित होकर जो बन पड़ता हो वही भगवान को समर्पण करना चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं। पुष्टिभार्गीय पद्धति से भक्त जो कुछ भी भगवान को समर्पित करेगा, भगवान उसे सक्षात् स्वीकार करेंगे, यह भाव है। इसी बात को आचार्यचरण “प्रभुकृपा से जो प्राप्त हो उसमें ममता न रखते हुए भगवत्सेवा करनी चाहिए” इस वाक्य द्वारा आगे कहेंगे। अतः जहाँ भगवद्-कार्यों में भी हठ नहीं करना चाहिए, वहाँ लौकिक कार्यों में तो हठ नहीं ही करना चाहिए-इसमें क्या कहना शेष रह जाता है; यह कैमुतिकन्न्याय भी सूचित करते हुए इस प्रकार से सातवाँ विवेक का स्वरूप निरूपित किया गया ॥ ४ ॥

ननु वैदिकेषु का व्यवस्था ? तत्राहुरनाग्रह इति। सर्वत्र स्मार्तश्रौतादिधर्मेषु बनाग्रह एव कर्तव्यः। भगवत्सेवामपि विहाय स्मार्तश्रौतादिधर्माचरणं सर्वथा कर्तव्यमित्याग्रहो न कर्तव्यः। किन्तु भगवदाया प्राप्तमावश्यकं कर्म सेवानवसरे कर्तव्यमित्यर्थः। चकारात्साक्षात्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तसर्वेष्वप्यनाग्रह एव कर्तव्य इत्यप्तमो विवेकः।

हुवे अहीं प्रश्न ऐ उभो थाय छे के लौडिक कार्यों भाटे तो कोई हठ के प्रयत्न न करवो ज्ञेईचे पाणि वैदिक कार्यों भाटे शुं व्यवस्था छे ? तो ऐनो उत्तर “अनाश्रृण” वगेरे शब्दोथी अपार्थ रहो छे, अहीं “सर्वत्र” शब्दनो अर्थ छे- स्मार्त-श्रौत वगेरे धर्मो ना विषयोमां। आ धर्मोमां अनाश्रृण ज राख्यो ज्ञेईचे- आश्रृण राख्यो ज्ञेईचे नहीं। ऐटेलेके “भगवत् सेवा ने पाणि छोड़ीने स्मार्त-श्रौत धर्मोनुं आचरण सर्वथा करवुं ज छे” तेवो आश्रृण न राख्यो ज्ञेईचे। परंतु भगवद्-भाक्षाथी प्राप्त थयेतां आ आवश्यक श्रौत-स्मार्त कर्मों सेवाना अनवसर कालमां करवा ज्ञेईचे तेवो अर्थ छे। ‘य’ शब्दधी ऐ ज्ञात्वुं ज्ञेईचे के साक्षात् भगवत्-संबंधित कार्यों सिवायनां भीज भद्रां कर्मोमां अनाश्रृण राख्यो ज्ञेईचे, आ अठभो विवेक छे।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि, लौकिक कार्यों के लिए तो कोई हठ या प्रयत्न नहीं करना चाहिए परंतु वैदिक कार्यों के लिए क्या व्यवस्था है ? तो इसका उत्तर अनाग्रह इत्यादि शब्दों से दिया जा रहा है। यहाँ सर्वत्र शब्द का अर्थ है-स्मार्त-श्रौत आदि धर्मों के विषयों में। इन धर्मों में अनाग्रह ही रखना चाहिए अर्थात् अग्रह नहीं रखना चाहिए। अर्थात् “भगवत्सेवा को भी छोड़कर स्मार्त-श्रौत आदि धर्मों का आचरण सर्वथा करना ही है” ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए। किंतु भगवद्-आज्ञा से प्राप्त हुए इन आवश्यक श्रौतस्मार्त

कर्मों को भगवद्-सेवा के अनवसर काल में करना चाहिए, यह अर्थ है। 'च' शब्द से यह जानना चाहिए कि साक्षात् भगवद्-संबंधित कार्यों से अतिरिक्त अन्य समस्त कार्यों में अनाग्रह ही रखना चाहिए, यह आठवाँ विवेक है।

ननु वैदिकधर्मेष्वनाग्रहः कर्तव्यः, यमिन्कृते अधर्मो भवेत् स न कर्तव्य इतिभावः। स्पातश्रौतभगवद्धर्मस्तु उत्तरोत्तरबलिष्टः, तत्र यथा श्रौतविधिः स्मार्तत्वागे न दोषस्तथा भगवद्धर्मकणे उभयविधिस्यापि त्वागे न दोषः, सर्वाधिकबलवत्त्वादिति विचार्य तद्धर्मणां गौणत्वात्स्वर्थमत्वाभावाचानाग्रह एव कर्तव्य इति नवमो विवेक उक्तः।

परंतु अहीं प्रश्न ऐ उभो थाय छे के, आ प्रकारे वैदिक धर्मों के बाणीश्च- आदि धर्मों ना अंगभूत छे अने जड़ी छे, तेमां अनाग्रह केवी रीते रापी शकाय? तो आचार्यस्वरूपो आनो उत्तर "धर्मधर्म" वजेरे शब्दोशी आपी रह्यां छे, धर्मो ऐट्ले स्मार्त वजेरे धर्मो अने अधर्मो थी दूर रहेवाथी जे परिणाम आवतुं होय तेनो विचार करवो ज्ञेर्ये।

अने जे करवाथी अधर्म थतो होय ते न करवुं तेवो भाष्य छे. स्मार्तधर्म, श्रौतधर्म, भगवद्-धर्म ए फ्रेक्षः ऐक पछी ऐक तेरीते बणवान छे. ऐट्ले के स्मार्तधर्म करता श्रौतधर्म अने श्रौतधर्म करता भगवद्-धर्म बणवान छे. ज्वेवी रीते श्रौतधर्म ऐट्ले के वैदिक विधि की देवामा पर जे स्मार्त धर्म पाण छोडी देवामां आवे तो कोई दोष नन्धी थतो, तेवी रीते भगवद्धर्म करवा पर ए बने धर्मो ने छोडी देवामां कोई दोष रहेतो नन्धी. केम्हे भगवद्-धर्म भगवा करता भणवान छे. तेथी ऐवो विचार करीने; अने डेम्हे श्रोत-स्मार्त धर्मो भगवद्-धर्मो नी आगण गौण छे अने पुष्टिभागीय भाटे भगवद्-धर्मज्ज स्वधर्म छे अने ते धर्मोने भुज्यता देवाथी भगवद्-धर्म भरोबर रीते निभावी शकातो नन्धी, तेथी तेमनामां अनाग्रहज्ज राखवो ज्ञेर्ये-ए नवमो विवेक छे।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि, इस प्रकार वैदिक धर्म जो वर्णश्च-आदि धर्मों के अंगभूत हैं एवं आवश्यक हैं, उनमें अनाग्रह कैसे रखा जा सकता है? तो आचार्यवर्ण इसका उत्तर धर्मधर्म इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि, स्मार्त-आदि धर्म एवं अधर्म, इन दोनों को न करने से जो परिणाम आता हो, उसका विचार कर लेना चाहिए। अर्थात् जिसको करने से अधर्म होता हो, वह नहीं करना चाहिए, यह भाव है। स्मार्तधर्म, श्रौतधर्म, भगवद्-धर्म ये क्रमशः एक के बाद एक बलिष्ट हैं। अर्थात् स्मार्तधर्म से बलिष्ट श्रौतधर्म हैं और श्रौतधर्म से बलिष्ट भगवद्-धर्म हैं। जिस प्रकार श्रौतधर्म अर्थात् वैदिक विधि करने पर यदि स्मार्त धर्म भी त्वाग दिण् जाएँ तो कोई दोष नहीं होता वैसे ही भगवद्-धर्म करने पर इन दोनों धर्मों को त्वाग देने पर कोई दोष उपरियत नहीं होता। क्योंकि भगवद्-धर्म सबसे अधिक बलवान है। अतः इस प्रकार से विचार करके और चूँकि श्रौतस्मार्त-धर्म भगवद्-धर्मों के आगे गौण हैं एवं पुष्टिभागीय के लिए भगवद्-धर्म ही स्वर्थम् है और इनको मुख्यता देने से भगवद्-धर्म ठीक प्रकार से निभ नहीं पाता अतः इनमें अनाग्रह ही रखना चाहिए, यह नौवीं विवेक है।

यतु कर्मादिकरणे तद्भगवदाज्ञया मार्गेऽग्रामाण्यशङ्काभावप्रेति ब्रेयम् ।

अने तेम्ज, पुष्टिसंप्रदायमां आ श्रौतस्मार्त विग्रे धर्मों आचरवानुं पाण जे विधान प्राप्त थाय छे ते भगवदाज्ञाथी ज छे अने भाग्यमां अप्रभाणिकतानी शंका ने दूर करवा भाटे छे, ते सम्भवुं ज्ञेर्ये। (टीकाकार कही रह्या छे के छतांपण आपणा संप्रदायमां ने आ श्रौत-स्मार्त धर्मों नुं आचरण करवामां आवे छे ते भगवद् आज्ञा होवाने कारणे करवामां आवे छे केम्हे स्वयं भगवाने आ कम्हों करवानी आपाणने आज्ञा आपी छे. आज्ज वात "श्रुतिस्मृति भैमैवाज्ञो", आ श्लोकभां कही छे. अर्थात् आ धर्मोने करवामां पाण भूलकारणा तो भगवदाज्ञा ज छे. अने, बील वात ए छे के आ धर्मों नुं आचरण न करवाथी जगतमां पुष्टिभित्तिभागीय अप्रभाणिक छे तेम सिद्ध थरे के पुष्टिभाग्यमां वैदिक कम्हों नो अनादर करवामां आवे छे, शासनी आज्ञा भंग करवामां आवे छे-वगेरे. आज्ज काशुषोथी तेमने कियावत् की देवामां तो आवे छे पाण साची निष्ठा तो भगवद् धर्मो भाज्ज राखवी ज्ञेर्ये, तेवो अर्थ छे.)

और भी, पुष्टिसंप्रदाय में इन श्रौतस्मार्त आदि धर्मों को करने का भी जो विधान प्राप्त होता है, वह भगवद्-आज्ञा से ही है एवं संप्रदाय में अप्रामाणिकता की शंका को दूर करने के लिए है, यह जानना चाहिए। टीकाकार कह रहे हैं कि तथापि हमारे संप्रदाय में जो इन श्रौतस्मार्त धर्मों का आचरण किया जाता है, वह भगवद्-आज्ञा होने के कारण किया जाता है क्योंकि स्वयं भगवान ने इन कर्मों को करने की हमें आज्ञा दी है। यही वात 'श्रुतिस्मृति भैमैवाज्ञो' इस श्लोक में कही गई है। अर्थात् इन धर्मों को करने में भी मूलकारण तो भगवद्-आज्ञा ही है। और, दूसरी वात यह है कि इन धर्मों का आचरण न करने से लोक में पुष्टिभित्तिभागीय अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा कि पुष्टिभागीय

वैदिक कर्मों का अनादर किया जाता है, शास्त्र की आज्ञाभाग की जाती है इत्यादि । इन्हीं कारणों से इहें क्रियावत् कर तो लिया जाता है परंतु सच्ची निष्ठा तो भगवद्-धर्मों में ही रखनी चाहिए, यह अर्थ है ।

एवं भगवत्सेवाविषयकविवेकानुत्तरोपसंहरन्ति विवेकोयमिति । भगवत्सेवायां प्रवृत्तस्यायं विवेकः सम्यक्प्रकारेण विस्तरेण आस्थातः । एतादविवेकेन प्रवृत्तस्य सेवानिवार्हो भविष्यतीति भावः । एवं विवेकेन सेवायां प्रवृत्तस्य बहिर्भजनसिद्धिप्रकारमुक्त्वा धैर्यं विना सेवा न सिद्धयेदिति मुख्यमान्तर्मिति तत्सिद्धयर्थं धैर्यं निरूपणति धैर्यमिति । पूर्वमपि “विज्ञोद्देशमि” त्यादिना धैर्यं निरूपितं, साम्प्रतन्तु विशेषण निरूप्यत इति विशब्दार्थः । तुशब्दः धैर्योऽक्षमज्ञापकः ॥ ५ ॥

आ प्रकारे भगवद्देशे विषयक विवेकेन भतावीने हवे आचार्यरथरणो “विवेकोयं” वगेरे शब्दो थी उपसंहार (समाप्ति) की रह्यां छे. आ पंक्तिनो अर्थ एे छे के उपर क्लेल प्रकारथी भगवद्-सेवामां प्रवृत्त थवा वाणा भक्तने आ विवेक नुं स्वदृप सुचाङ् रीते, विस्तारथी कही दीदुं छे. आवा विवेक द्वारा भगवद्-सेवामां प्रवृत्त थता भक्त ने सेवानो निभाव सुचाङ् रीते थई शक्षी, तेवो अर्थ छे. आ रीते आ विवेक साथे सेवा करवावाणा भक्त भाटे बहिर्भजननी सिद्धि नो प्रकार कहीने अहीं भूल संस्कृतटीका मां “बहिर्भजनसिद्धिप्रकार” शब्द आप्यो छे, तेने समझे. आनो अर्थ थाथ छे- भगवद्-भजनने पूर्ण उपथी सिद्ध करवामां तो उपयोगी वातो छे, तेमनुं ध्यान राख्युं. लेम टीकाकार उपरनी पंक्तिओमां समझलवी आव्या छे के, दृव्यं-वगेरे करीने पाण सेवा कर्वी के नहीं ? वैदिक धर्मोमां भगवद्धर्मोथी वधरे निष्ठा राख्यो के नहीं ? भगवद् विषयोमां हठ कर्वी के नहीं वगेरे. आ ते उपयोगी भुद्दामो छे बेनाथी भजन सिद्ध थरे अने ते विवेक राख्या वगर संलग्न नथी. आज वाताने टीकाकार अहीं कही रह्यां छे के विवेक नां निःपृष्ठ द्वारा भजन सिद्ध करवानो भाव्य प्रकार तो कही दीदो, परंतु तेनो आंतरिक प्रकार हवे धैर्यनां निःपृष्ठ द्वारा कहेवाई रह्यो छे, आ अर्थ छे. धैर्य वगर सेवानी सिद्धि नथी तेथी भुप्य भजन तो आंतरभजन छे, ते भाटे तेनी सिद्धि भाटे धैर्य नुं निःपृष्ठ करे छे “धैर्यम्” वगेरे शब्दोथी. लेके पहेलां पाण नवरत्नग्रंथमां “चित्तमां उद्घेश थाथ तो पाण तेने भगवद्दीतीया मानी चिन्ता छोडी देवी लोहिए (नवरत्न-८) आ श्लोक द्वारा धैर्य नुं स्वदृप निःपृष्ठि की दीदुं छे छतां पाण अहीं विशेषरीते भताववामां आवी रह्युं छे, तेवुं अहीं “विनिःपृष्ठते” शब्दमां प्रयुक्त “वि” उपसर्ग द्वारा समझय छे. (“वि” उपसर्ग विशेषता नो सूचक छे. लेम ज्ञान शब्दमां “वि” उपसर्ग लगाववामां आवे तो “विज्ञान” शब्द बने छे, लेनो अर्थ छे विशेष इप्थी लाशांतु, तेवी रीते अहीं भूल कारिकामां “निःपृष्ठते” शब्दमां “वि” उपसर्ग लगाववामां आव्यो छे, लेनी अर्थ छे - विशेषपृष्ठ थी निःपृष्ठ कर्व्युं अल्ल वस्तुने अहीं टीकाकार कही रह्यां छे के ले के पूर्व ग्रंथमां धैर्य नुं धत्तिक्षित् स्वदृप कही तो दीदुं छे परंतु अहीं वि. धै. आ. ग्रंथ मां अने विशेषपृष्ठी कहेवामां आवी रह्युं छे, अने ते भताववा “वि” उपसर्ग नो प्रयोग कर्यो छे, तेवो अर्थ छे.) “तु” शब्द द्वारा ऐ समझय छे, के हवे अहीं थी “धैर्य” नुं स्वदृप भताववानो आरंभ करवामां आवे छे. ॥ ५ ॥

इस प्रकार से भगवत्सेवा विषयक विवेक को कह कर अब आचार्यरचन विवेकोयं इत्यादि शब्दों से उपरंहार (समाप्ति) कर रहे हैं । इस पंक्ति का अर्थ यह है कि उपर्युक्त प्रकार से भगवत्सेवा में प्रवृत्त होने वाले भक्त को यह विवेक का स्वरूप भलीभाँतिपूर्वक, विस्तार से कह दिया गया है । ऐसे विवेक के द्वारा भगवत्सेवा में प्रवृत्त होने वाले भक्त को सेवा का निर्वाह भलीभाँति हो सकेगा, यह भाव है । इस प्रकार से इस विवेक के सहित सेवा में प्रवृत्त होने वाले भक्त के लिए भजन सिद्ध करने के वाही साथनों को कहकर यहाँ मूलसंस्कृतटीका में “बहिर्भजनसिद्धिप्रकार” शब्द आया है, उसे समझें । इसका अर्थ होता है, भगवद्-भजन को पूर्णरूप से सिद्ध करने में जो उपयोगी वातें हैं, उनका ध्यान रखना ! जैसे टीकाकार ऊपरी पंक्तियों में समझा आए हैं कि, ऋण-आवि लेकर भी सेवा करनी या नहीं ? वैदिक धर्मों में भगवद्-धर्मों से अधिक निष्ठा रखनी या नहीं ? भगवद्-विषयों में हठ करना या नहीं इत्यादि । ये वे उपयोगी वाह्य मुद्रदे हैं जिनसे भजन सिद्ध होगा और ये विवेक के बिना संभव नहीं हैं । इसी बात को टीकाकार यहाँ कह रहे हैं कि विवेक के निरूपण द्वारा भजन सिद्ध करने का वाही प्रकार तो कह दिया परंतु आंतरिक प्रकार अब धैर्य के निरूपण द्वारा कहा जा रहा है, यह अर्थ है । अब चौक “धैर्य” के बिना भगवत्सेवा पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं होती अतः “धैर्य” आंतरिक भावों में मुख्य है, इस कारण धैर्य की सिद्धि के लिए आचार्यरचन धैर्यम् इत्यादि शब्दों से उसको निरूपित कर रहे हैं । यद्यपि पूर्व के नवरत्नग्रंथ में भी “चित्त में उद्ग्रो होने पर भी उसे प्रमुलीला मानकर चिन्ता त्याग देनी चाहिए (८)” इस श्लोक के द्वारा धैर्य का स्वरूप से निरूपण किया गया है तथापि यहाँ उसका विशेषरूप से निरूपण किया जा रहा है, यह “विनिःपृष्ठते” शब्द में प्रयुक्त “वि” उपसर्ग के द्वारा ज्ञात होता है । “वि” उपसर्ग विशेषतां का व्योतक होता है । जैसे ज्ञान’ शब्द में “वि” उपसर्ग लगा दिया जाय तो ‘विज्ञान’ शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है, किसी को विशेषरूप से जानना । उसी प्रकार यहाँ मूल

कारिका में 'निरूप्यते' शब्द में 'वि' उपसर्ग लगाया गया है, जिसका अर्थ बनता है विशेषरूप से निरूपण किया जाना। इसी को यहाँ टीकाकार कह रहे हैं कि यद्यपि पूर्व के नवरत्न ग्रंथ में धैर्य का यत्किञ्चित् स्वरूप कह दिया गया है परंतु यहाँ वि. धै. आ. ग्रंथ में उसे विशेषरूप से निरूपित किया जा रहा है, और इसीलिए 'वि' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है, यह अर्थ है। 'तु' शब्द के द्वारा यह ज्ञापन होता है कि, अब यहाँ से 'धैर्य' का स्वरूप आरंभ किया जाता है ॥ ५ ॥

तत्त्वज्ञानमेवाहुः । विदुःखमिति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते: सर्वतः सदा ।

तत्कवद्वेषद्वाद्यं जडब्दोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणामाधिभौतिकादीनां दुःखानां सहनं धैर्यमृत्यंतं तत्र देहसम्बन्धजनितं दुःखं भावितं, कामादिजनितमिन्द्रियसम्बन्धि तद् आत्मात्मिकं, परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा भगवन्तुतं भगवदर्थस्वापंक्षितकरणविलम्बजनितं तदाधिरूपिकम् । तेषामसहने चित्तव्याकुलतया सेवा न सिद्धयेत्तदभावे सेवकस्य स्वर्वर्महानिर्गेति सेवामिड्यर्थं तत्सहनमेवं कार्यमिति धैर्यमृतम् । तदप्यामृते: मरणपर्यन्तं, अथवा यावदायुरपि चेद्वेत्तावदपि धैर्यमेवं रक्षणीयम्, न व्यन्तनिर्दा हेत्या । तदपि सर्वतः देहंद्वियादिवर्वंशमव्यव्यिध्ययेकस्य द्वयोर्वा सहनं तत्त्वास्ति, किन्तु सर्वतः । तदपि सदा निरन्तरं तत्सहनमिति धैर्यलक्षणमृतम् ।

"धैर्य" नां तेज लक्षणोने आचार्यर्थरूपां "विदुःभभ्" वज्रं शब्दार्थी कही रखा छ।

तेज प्रकारनां दुःभो ऐटेसेक आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिरूपिक दुःभो नं सहनं कर्तव्यां ऐटेसे धैर्यं देहसंबंधी उत्पन्न ध्यावाणां दुःभ-भौतिक ॥ छे. काम वगेरेथी उत्पन्न ध्यावाणां देहियोर्थी संबंधित दुःभ-भौतिक ॥ ये अने भक्तनी परीक्षा कर्तव्या भाटे अथवा प्रारब्धनो भोग करावाना भाटे भगवान द्वारा आपेतु दुःभ छे ज्ञप्त अनुभवे छे अथात भगवान भाटे भन्नगमती वस्तुने प्राप्त कर्तव्यामां ले ज्ञप्तवेत्तुप दुःभ ध्याव छे ते "आधिरूपिक" ॥ छे. आ दुःभोने भरन न कही शक्ताने कारणे चित्त व्युक्तु ध्याव छे अने भगवद सेवा निभावी शकानी नहीं अने अत्यामां सेवकाना स्वधर्म लेंग ॥ ध्याव छे. तेथी भगवद सेवा नी सिद्धि भाटे आ दुःभोने सहन व कर्तव्या लेईचे अने तेन व "धैर्य" कह्युं छे. ते पाण "आमृते":— मृत्यु सुर्द्धा सहनं कर्तव्या लेईचे ऐटेसे के ज्ञानां सुर्द्धा आयुष्य रहे त्यांसुर्द्धा "धैर्य" शाखावं लेईचे. भगवान प्रत्ये आपां आंतरिक निष्ठा छोडवी ज्ञेईचे नहीं. अने धैर्य पाण बधी ॥ रीते रायव्यु लेईचे अटेसे के दृढ-इंद्रिय वगेरेथी संबंधित बधा ॥ व्यक्तियामार्थी केवल एक अथवा ये व्यक्तियां द्वारा अपाता दुःभ ने ॥ सहनं कर्तव्यं तेम नहीं पाण बधा द्वारा अपाता दुःभोने सहनं कर्तव्यं लेईचे. अने ये पाण सदाय सहनं करता रहेन्मु लेईचे अर्थात् निरंतर सहनं करता रहेन्मु लेईचे, आ धैर्य नुं लक्षण कहेन्मु ॥

धैर्य के उन्हीं लक्षणों को आचार्यचरण विदुःखम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

तीन प्रकार के दुःख अर्थात् आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिरूपिक दुःखों को सहन करना धैर्य है । देहसंबंध से उत्पन्न होने वाले दुःख 'भौतिक' हैं । काम-आदि उत्पन्न होने वाले इंद्रियों से संबंधित दुःख 'आध्यात्मिक' हैं और परीक्षा करने के लिए अथवा प्रारब्ध का भोग करने के लिए भगवान द्वारा दिया गया जो जीव को दुःख होता है अथात् भगवान के लिए मनचाही वस्तु को प्राप्त करने में जो जीव को विवरूप दुःख होता है, वह आधिरूपिक है । इन दुःखों को सहन न कर पाने के कारण चित्त व्याकुल होता है और भगवत्सेवा निभ नहीं पानी और ऐसे में सेवक का स्वर्वर्म मंग ही होता है । अतः भगवत्सेवा की सिद्धि के लिए इन दुःखों को सहन ही करना चाहिए और इसे ही 'धैर्य' कहा गया है । वह भी मृत्युपर्यत सहन करना चाहिए अथवा जब तक अयु रहे तब तक 'धैर्य' रखना चाहिए । भगवान के प्रति अपनी आंतरिक निष्ठा नहीं त्यागनी चाहिए । और धैर्य भी सर्वतः स्खना नाहिए अर्थात् देह-इंद्रिय आठि से संबंधित समस्त लोगों में से किसी एक या दो व्यक्तियों द्वारा दिए गये दुःख को मात्र सहन करना नहीं अपिनु सभी के द्वारा प्राप्त हुए दुःख को सहन करना चाहिए । और वह भी सदा सहन करते रहना चाहिए अर्थात् निरंतर करते रहना चाहिए, यह धैर्य का लक्षण कहा है ।

अतः पाण देहाभिमानस्य विद्यमानत्वाद् दुःखसहनं दुक्षरमिति दृष्टान्ते तदभिमानाकर्तव्यनिरूपणात् तदुपादयनि तत्कवदिति । तत्र यथा निःसारं भवति द्वेषत्वेन तत्र नाभिमानः । कवांचित्तव्याशेषि न दुःखं भवेत् । नवनीतन्तु तत्सारं नाभिमानो जायते तत्वाशेषि दुःखमिति तद् गृह्णते, तथा देहादिपु तत्सम्बन्धिपु च निःसारत्वेन हेयत्ववुद्धया तत्राभिमानस्त्वायः । तत्यागेन

१ तदपि सहनमेवं कर्तव्यमिति पाठः कपुस्तके ।

तत्कृतमानापमानदुःखेष्वपि अभिमानन्यागेन दुःखं न भविष्यतीत्याशयेनोक्तं तक्रबद्धेहवदिति । तक्रबद्धेहवता देहादिपु तत्स्वन्धिपु च भाव्यमिति । अनन्त भगवत्यम्बन्धिकार्येव नवरीनतव्रभिमानो ग्राणीया इति सूचितम् । तेन भगवदीयानां प्रभुसेवाकरण एव सुखं, तदभावं दुःखम् । न तु देहादितत्स्वन्धिकृतं तदवर्तान्ति ज्ञापितम् ।

अना पर्याप्तं अतावत्वामां आवी रह्यु छु के । लृतां सुधीं देहाभिमान रह्यु छु त्यां सुधीं हुः अने सहन कर्वु अति कठिन दंय छु तथा वा आत्मा काई दृष्टान्तं वडे अं अतावत्वायां आवी छु के देहाभिमान न कर्वु ज्ञेयेह, अने आचार्यरशो “तक्रवत्” वगेऽशब्दोथी भस्त्रलवीं रह्या छु. जेवी इति छाश मां कुर्ष पशु सार नथी होतो अने ते हेय हेय छु अने तेथी वा आपात्मन तेनु अभिमान नथी लोटुं. क्राच्य ते दोषार्थ पशु लय तां पशु हुः अ नथी थतुं. छाश नो सार तो भाषण छे, ते माट चोडक्न अभिमान नहे छु अने अना नष्ट थवा पशु हुः अ पशु थाय छु, तेथी भाषणेनज लेवामां आवे छे. तेवी वा इति देह-वगेऽतेमद्व दृष्ट्या संबंधितोने आस्तित मानीन हेय (निःशास) बुद्ध राखीने तेमना भाटे आपशा भनमां रहेता अभिमाननां त्याग कर्वो लंक्ष्येह, अभन्ना विशे रहेता अभिमाननां त्याग कर्वायी अभन्ना द्वारा कर्वामां आवेतां भान-अपमान, हुः अ वगेऽमां पापा हुः अ नहीं थाय, अभा आशयथी अहीं आचार्यरशोओ साररहित छाश नी माझक शरीर अने शरीर संबंधीओना अभिमानने छोऽवानुं कह्यु छु. तेवी छाश नी जेम आ देहधारीं अं देहवगेऽरे अने हेहना संबंधिओमां अेवी भावना राखी ज्ञेयेह, आना परथ्य अं नक्षी थयुं के वगवद-संबंधित कार्योमां वा ते भाषणनी ज्ञेभ अभिमाननी रक्षा करवी ज्ञेयेह, अेम कह्यु छु. तेथी अहीं अेम लाखायुं ज्ञेयेह के बेओं भगवदीय हेय छु तेमने प्रभुसेवा कर्वामांज सुख थाय छु, अने भगवद्व भेवा प्रभान हेय तो हुः अ थाय छु. तेमने शरीर वगेऽर अथवा शरीर संबंधियों द्वारा आपवामां आवेता हुः अ अथवा सुखनी अनुभूति नथी थती, तेम बताव्यु छु.

इसके पश्चात् यह वताया जा रहा है कि, जब तक देहाभिमान रहता है तब तक दुःख को सहन करना अति कठिन होता है अतः आगे कुछ दृष्टान्तों के द्वारा यह वता रहे हैं कि देहाभिमान नहीं करना चाहिए । इसे आचार्यचरण तक्रवत् इत्यादि शब्दों से उपाधित कर रहे हैं । जैसे छाछ (तक्र) में कुछ भी सार नहीं होता एवं वह हेय होती है और इसी कारण उसमें अभिमान नहीं रहता । कदाचित् वह गिर भी जाय तो भी दुःख नहीं होता । छाछ का सार तो मक्खन है, उसमें अवश्य अभिमान रहता है और उसके नष्ट होने पर दुःख भी होता है, इसी कारण मक्खन ही ग्रहण किया जाता है । उसी प्रकार देह-आदि एवं देहसंबंधियों को साररहित मानकर हेयबुद्धि रखते हुए उनमें रहे स्वयं के अभिमान का त्याग कर देना चाहिए । उनमें रहे अभिमान का त्याग करने से उसके द्वारा किए गये मान-अपमान, दुःख आदि में भी दुःख नहीं होगा, इस आशय से यहाँ आचार्यरशों ने साररहित छाछ की भाँति देह का अभिमान त्यागना कहा है । उस छाछ की भाँति इस देहधारी की देह-आदि में एवं उसके संबंधियों में ऐसी भावना करनी चाहिए, यह सूचित किया गया है । इस प्रकार यहाँ यह जानना चाहिए कि, जो भगवदीय होते हैं उन्हें प्रभुसेवा करने में ही सुख होता है, और यदि भगवद्वेवा प्राप्त न हो तो दुःख होता है । उहैं देह-आदि या देह-संबंधियों द्वारा किए गये सुख या दुःख की अनुभूति नहीं होती, यह बताया गया है ।

एवं भौतिकदुःखसहने दृष्टान्तं निरूप्याध्यात्मिकतत्सहने दृष्टान्तमाहुः, जडबदिति । आध्यात्मिकं दुःखं इन्द्रियादिसम्बन्धिकामक्रोधादिजन्यम् । तत्सहने जडस्य भावना कार्या । जडस्य यथा सकलेन्द्रियाणां भगवद्भावाविष्टत्वात् न तदिन्द्रियजन्यदुःखभानम्, जडत्वं च जातम् । तथा सेवायां प्रवृत्तस्यापि सकलेन्द्रियाणां तदीयत्वानुसन्धानेन स्वाभिमानभावात् भगवत्येव यिनियोगकरणे निरन्तरं तत्सेवागुणकीर्तनस्मरणावेशेन न कामादिजनितदुःखं भवेदित्याशयेनोक्तं जडबदिति । एवं सति यावत्यर्थं जडबद्भावनया निरन्तरं भगवद्विषयेन भवेत्तावत्यर्थं तत्तदिन्द्रियदुःखसहनेन सेवा कार्या । न तु विषयभोगादिकं कार्यमिति । अतितुच्छत्वात्तदावेशेन भगवद्वेशाभावात् ।

आ प्रकारे आचार्यरशोओ भौतिक दुःखोने सहन कर्वामां दृष्टान्त आप्यु अने हवे आपशी आध्यात्मिक दुःख सहन करवा भाटे “जडवत्” वगेऽशब्दोथी दृष्टान्त आपी रह्यां छु. आध्यात्मिक दुःखो अर्थ छु-ईन्द्रिय वगेरेथी संबंधित काम, क्षेध वगेरेथी उत्पन्न थयेतां हुः अ. आवा दुःखोने सहन कर्वामां “जड” नी भावना जडवी ज्ञेयेहे. (भौतिक पदार्थोने जड कहेत्वामां आवे छे, वे जड हेय छे ते निष्ठिय हेय छे, अने सुखदुः भीनी अनुभूति थती नथी. अहीं दुःखो ने सहन कर्वामां जडनुं उदाहरण आपता ऐज समजवत्वामां आवी रह्यु छु के आ प्रकारे सभस्त परिस्थितिओमां निष्ठिय थर्ष ज्याथी आ हुः खोने सहन करी शकाय छे, तेवो अर्थ छे.) जेवी रीते जडभरतलीनी बधी व ईद्धियो भगवद्भावाथी ओतप्रोत थर्ष गमेती

हती तेर्थी तेमने ईन्द्रियोथी उत्पन्न हुः खनुं भानज न रह्युं पण जडता ज रही, ऐवी रीते भगवद् सेवामां प्रवृत्त थेषता भक्तने पण पोतानी समस्त ईन्द्रियोमां भगवदीपतानुं अनुसंधान थवाथी स्वयंनुं अभिमान नथी रहेतुं। अने, तेओ बधी वस्तुओनो भगवानमां ज विनियोग करे छे। अने अभेनी सेवा, तेमना गुणोना शीर्तन तेमज तेमना स्मरणाना आवेश द्वारा तेमने काम वगेरेथी उत्पन्न थातां हुः ख नथी थता। आज आशाथी अहीं आ हुः खोने सहन करवामां ‘जड’ नुं उदाहरण आपवामां आव्युं छे। (०८उभरतल्लना प्रसंगमे विशेष लक्षणा भाटे जुँगो श्री. भा. पांचमा शंखों ८ मो अने १० मो अध्याय)। अतः आ प्रकारे निरंतर जड नी भावना करता करता जन्मां सुधी चित्त भगवदावेशित न थर्ई जय, त्यां सुधी ते-ते ईन्द्रियो नुं हुः ख सहन करता करता भगवद्देवा करवी न्यौर्ध्वे, विषयबोग वगेरे न्यौर्ध्वे करवा न्यौर्ध्वे। केम्भे आ बधु अतिशय तुच्छ छे तेर्थी तेमनो आवेश थर्ई ज्याथी भगवद्देवेश उत्पन्न नथी थर्ई शक्तो।

इस प्रकार आचार्यचरणों ने भौतिक दुःख को सहन करने में दृष्टांत दिया और अब वे आध्यात्मिक दुःख को सहन करने में जडवत् इन्यादि शब्दों से दृष्टांत दे रहे हैं। आध्यात्मिक दुःख का अर्थ है-ईन्द्रिय-आठि से संवयंति काम-द्वारा आदि से उत्पन्न हुए दुःख। ऐसे दुःखों को सहन करने में ‘जड़’ की भावना करनी चाहिए। भौतिक पदार्थों को जड़ कहा जाता है। जो जड़ होता है, वह निष्क्रिय होता है, उसे सुखदुःख की अनुभूति नहीं होती। यहाँ दुःखों को सहन करने में जड़ का उदाहरण देते हुए यही समझाया जा रहा है कि, इस प्रकार समस्त परिस्थितियों में निष्क्रिय हो जाने से इन दुःखों को सहन किया जा सकता है, यह अर्थ है। जिय प्रकार जडभरतजी की समस्त ईदियों भगवद्-भाव में अनप्रोत हो गई थीं अतः उन्हें उनकी ईदियों से उत्पन्न दुःख का भान ही नहीं हुआ अपिनु जड़ना ही रही। वैसे भगवत्सेवा में प्रवृत्त हुए भक्त को भी स्वयं की समस्त इंदियों में भगवदीयता का अनुसंधान होने से स्वयं का अभिमान नहीं गहना। और, वे सभी वन्नुओं को भगवान में ही विनियोग करने हैं और उनकी सेवा, उनके गुणों का कीर्तन एवं उनके स्मरण के आवेश के द्वारा उन्हें काम-आदि से उत्पन्न हुए दुःख नहीं होते। इसी आशय से यहाँ इन दुःखों को सहन करने में ‘जड़’ का दृष्टांत दिया गया है। जडभरतजी के प्रसंग को विशेष जानने के लिए देखें श्री. भा. के पंचमस्कथ का नौवा और दसवां अध्याय। अतः इस प्रकार निरंतर जड़ की भावना करते हुए जब तक चित्त भगवदाविष्ट न हो जाय, तब तक उन-उन इंदियों के दुःख को सहते हुए भगवत्सेवा करनी चाहिए, विषयभाग इन्यादि नहीं करने चाहिए। क्योंकि ये सभी कुछ अति नुच्छ हैं अतः इनका आवेश ही जाने से भगवदावेश उत्पन्न नहीं हो पाता।

एवमाध्यात्मिक निरूप्याधिदैविक दृष्टान्तमारुण्योर्पामार्यवदिति। प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा प्रभुशेद्विलम्बते तदा गोपभायानां भावना कार्या। यथान्तर्गृहगतानां जारत्वबुद्धिहेतुकुप्रारब्धभोगार्थं विलम्बः कृतस्तस्मिन्नानन्तरं तत्प्रासिर्जिता तथा ममापि प्रारब्धभोगानन्तरं भगवान् दास्यन्येवति धैर्येण दुरुसं सोहव्यमितिभावः। अत एवामृतेरित्युक्तम्। तासां गुणमयदेहत्यागानन्तरमेव फलं जातमिति तद्वदत्रयिति परीक्षार्थं चेद्विलम्बते, तदा तद्वातिरिकानां भावना कार्या।

आ प्रकारे आध्यात्मिक हुः खसहन नुं निझपृष्ठ करी अधिवेषिक हुः खसहनमां दृष्टांत आपी रह्यां छे “गोपभार्यवत्” वगेरे शब्दोथी। ज्यारे प्रभु लृवनी परीक्षा करवा भाटे अथवा प्रारब्धनो भोग कराववा भाटे इलादानमां विलंब करे छे, त्यारे गोपवद्युओनी भावना करवी न्यौर्ध्वे। (अहीं ‘गोपवद्यु’ शब्दनुं तात्पर्य ते गोपिकाओं मां छे, ज्येमने प्रभुर्थी भगवानी रोकी दीधा अथवा तेमने विलंब थयो। तेमाणे ज्ये प्रकारे धैर्य राज्याने ते हुः खने सहन कर्तुं तेवुं धैर्य राज्यवुं न्यौर्ध्वे, तेवो अर्थ छे।) ज्येवी रीते, ते गोपिकाओं ज्येमने धरोभां ज रोकी लेवामां आवी अने ते प्रभुने भगवा न जर्ई शकी (तेवी गोपिकाओंने ज ‘अन्तर्गृहगता’ कही छे) तेवी गोपिकाओंचे भगवानमां परपुरुषनी बुद्धि राजेली अने तेमना प्रारब्धनो भोग कराववा भाटे तेमने प्रभुग्रामिभां विलंब थयो परंतु ते प्रारब्धना भोग पर्ही तेमने भगवद्द्वाप्राप्ति पण थर्ई, तेवी रीते “मने पण प्रारब्धलोग पर्ही भगवान् इलादान अवश्य करो ज”, आ प्रकारे धीरजपूर्वक हुः खने सहन करवुं न्यौर्ध्वे, तेवो भाव छे। आज कारणाथी आचार्यसंगोष्ठे हुः खने भरणापर्यंत सहन करवानुं कह्युं छे। केम्भे ए गोपिकाओंने पण तेमना जौतिकगुणों थी युक्त देहना त्याग पर्ही ज इण प्राम थर्युं तेवीजी रीते अहीं पण प्रभु जे परीक्षा लेवा भाटे इलादानमां विलंब करे छे तो अभ मसलवुं न्यौर्ध्वे के आपणे ते अन्तर्गृहगता गोपिकाओंभांथी न्यौर्ध्वे पण ते गोपिकाओंभांथी छीये ज्येमने विलंबथी प्रभुप्राप्ति थर्ई।

इस प्रकार से आध्यात्मिक दुःखों का निश्चय करके अब आचार्यचरण आधिदैविक दुःख के विषय में गोपभार्यवत् इन्यादि शब्दों से दृष्टांत दे रहे हैं। जब प्रभु जीव की परीक्षा करने के लिए अथवा प्रारब्ध का भोग कराने के लिए फलदान में विलंब करते हैं, तब गोपवद्युओं की भावना करनी चाहिए। यहाँ ‘गोपवद्यु’ शब्द से तात्पर्य उन ब्रज गोपिकाओं से है, जिन्हें प्रभु से मिलने के लिए रोक दिया गया अथवा उन्हें विलंब हुआ। उन्होंने जिस प्रकार से धैर्य रखते हुए उस दुःख को सहन किया, वैसे धैर्य रखना चाहिए, यह भाव है। जिस प्रकार,

वे गोपिकाएँ जिन्हें घरों में ही रोक लिया गया और वे प्रभु से मिलने न जा सकीं ऐसी गोपिकाओं को ही 'अन्तर्गृहणता' कहा गया हैं ऐसी गोपिकाओं ने भगवान में परपुण्ड्र की बुद्धि रखी थी और इसी कारण उनके प्रारब्ध का भोग कराने के लिए उन्हें प्रभुप्राप्ति में विवरं द्वारा परंतु उस प्रारब्ध भोग के पश्चात् उन्हें भगवद्-प्राप्ति भी हुई, उसी प्रकार "मुझे भी प्रारब्धभोग के पश्चात् भगवान फलदान अवश्य करेंगे ही" इस प्रकार से धैर्यपूर्वक दुःख को सहना चाहिए, यह भाव है। उसी कारण आचार्यरचरणों ने दुःख को मरणपर्यट सहना कहा है क्योंकि उन गोपिकाओं को भी उनके लौकिकगुणों से युक्त देहत्याग के पश्चात् ही फल प्राप्त हुआ। उसी प्रकार यहाँ भी यदि प्रभु परीक्षा लेने के लिए फलदान में विवरं करते हैं तो यह समझना चाहिए कि हम उन अन्तर्गृहणता गोपिकाओं में से नहीं हैं अपितु उन गोपिकाओं में से हैं जिन्हें विवरं से प्रभुप्राप्ति हुई।

यथा तासां रासाम्भे आगमनानन्तरं निषेधवाक्यश्रवणेणि यज्ञपत्तीबदन्यथाभावो न जातः, किन्तु स्वार्थेष्टिभावजनितदुःखभरेण स्थाणुवस्त्वितानां व्याकुलसकलेन्द्रियाणामपि तदुःखं सोहवा धैर्यमवलम्ब्य तज्जरणगतिभक्तिमार्गं नुसार्युत्तरदानमेवाभूत्, न तु गृहादिषु प्रत्यागमनेच्छा जाता। तथास्यापि ताह्यभावनया विलम्बजनितदुःखसहनेन निस्पधिसन्नेहन मार्गस्थितौ भगवानकलं दास्यतीतिदुःखं सोढव्यमित्युक्तं गोपभार्यवदिति ।

ज्वेम रासनी गोपिकाओंने रासनः आरंभमां त्वां पहेंच्या पछी अने प्रभु द्वारा निषेधवचन सांभज्या पछी पशु यज्ञपत्तिनिः नी ज्वेम अन्यथा भाव उत्पन्न न थयो। (आ वाक्यनो अर्थं समज्यवा भाटे ये वाते ज्ञानी जड़ी छे- पहेंची भगवानद्वारा निषेधवचन वाणीवात अने वीलु यज्ञपत्तिनिः वाणी वात। भगवान्नाना निषेधवचन ना संदर्भमां ये जाणवू ज्ञेई के, रासनो अरंभ थता पहेला ज्यारे भगवाने वेशुनाद कर्म त्यारे गोपिकाओं ते वेशुनादेन सांभज्यीने पोत-पोताना धरोभांश्ची प्रभु पासे दौड़ी ने गर्छ त्यारे प्रभुच्ये परीक्षा लेवा भाटे तेमने पाइं धरे ज्वा माटे निषेधवचन कल्हां (जुओं श्री. भा. १०/२६/१८.....२७), परंतु तेम छतां गोपिकाओं धैर्यपूर्वक त्यांज रही, पाणी गर्छ नहीं। ए प्रकारे विपरीत परिस्थितिमां आपणे पाणे ते गोपिकाओंनी ज्वेम धैर्य राखवू ज्ञेई, ज्वेम भताववामां आवी रह्यु छे. तेवी रीते श्री. भा. ना दशमस्कन्धमां यज्ञपत्तिनिः नुं प्रकरण छे. अहीं भताववामां आप्यु छे के भगवाने गोपभास्तकेने भोजन लाववा भाटे यज्ञ करवा वाणा केटलाक भ्रातृष्णोनी पासे भोकत्या परंतु ते यज्ञ करवा वाणा भ्रातृष्णोच्चे पोताना अहंकारवच तेमने कश्चु न आप्युं। आ पछी भगवाने तेमने फ्रीथी ते भ्रातृष्णोनी पत्नियोनी पासे भोकत्या जे यज्ञस्थलथी थोडे दूर रहेठी हती। ते यज्ञपत्तिनिः भगवान्ना सहन भज्या पछी भगवान्ना दृश्यन भाटे आवी। त्यारे भगवाने अभ्यने पाणे पाणा ज्वा कह्यु अने तेम थतां तेओं पाणी गर्छ। (जुओं श्री. भा. १०/२३/१४.....३२) टीकाकार कही रह्या छे के यज्ञपत्तिनिः तो भगवद्-आज्ञा मानीने पाणी जती रही तेथी तेमने तेज समये भगवद्-प्राप्ति न थई परंतु गोपिकाओं तेमनी ज्वेम पाणी न गर्छ अने भगवान्नने प्रत्युत्तर आप्यो, तेथी तेमने तेज समये प्रभुनी प्राप्ति थई गर्छ। टीकाकरनुं कहेवुं छे के आपणे पाणे आज रीते गोपिकाओंनी ज्वेम धैर्यपूर्वक रहेवुं ज्ञेई) वणी तेमने रासकीडानी अपेक्षा हती अने अभ्यनो भाव पूर्ण न थवाथी तेमने उत्पन्न थेवेलां दूःखने कारणे ते प्रभुना निष्ठुर वयनो ने सांभज्यीने पाणे आके हुँगानी ज्वेम त्यांज उभी रही गर्छ। तेमनी समस्त ईदियो व्याकुण थर्छ छतां पाण ते दुःखने सहन करीने धैर्यपूर्वक भगवान्नी शरणागति वाणा भक्तिमार्ग ने अनुसार ते त्यांज रही अने भगवान्नने प्रत्युत्तर आप्यो, पोताना धरोभां पाणा ज्वानी ईश्वरी न करी। तेवी ज्व रीते पुष्टिभागीय भक्तोच्चे तेवीज भावना द्वारा तेमना फलदान भां थेवेला विलंबना दूःखने सहन करवाथी अने भगवान पासे कोई पाण प्रकारनी कामना न राखीने पुष्टिभागीयं दृष्टापूर्वक रहेवाथी भगवान इश आपेक्षा छे तेथी भक्त ए दुःख सहन करवुं ज्ञेई। आज भावने भताववा भाटे आचार्यवरेण्यो चे "गोपभार्यवत्" शब्दथी गोपिकाओंनुं दृष्टांत आप्युं छे.

जैसे रास की गोपिकाओं को गरम के आरंभ में वहाँ आने के पश्चात् भगवान द्वारा निषेधवचन सुनने पर भी यज्ञपत्तियों की भाँति अन्यथा भाव उत्पन्न नहीं हुआ। इस वाक्य का अर्थं समझने के लिए दो वारें जाननी आवश्यक हैं, पहली भगवान के द्वारा निषेधवचन वाली बात एवं दूसरी यज्ञपत्तियों वाली बात। भगवान के निषेधवचन के संदर्भ में यह जानना चाहिए कि, रास का आरंभ होने के पहले जब भगवान ने वेशुनाद किया तब गोपिकाएँ उस वेशुनाद को सुनकर अपने-अपने घरों से प्रभु के पास दौड़ी-दौड़ी आ पहुँची तब प्रभु ने उनकी परीक्षा लेने के लिए उन्हें पुणः घर लौट जाने के लिए निषेधवचन कहे (देखें श्री. भा. १०/२९/१८.....२७)। परंतु यिर भी गोपिकाएँ धैर्यपूर्वक वहीं रहीं, वापस लौटी नहीं। इसी प्रकार विपरीत परिस्थिति में हमें भी उन्हीं गोपिकाओं की भाँति धैर्य रखना चाहिए, यह बताया जा रहा है। इसी प्रकार श्री. भा. के दशमस्कंध में यज्ञपत्तियों का प्रकरण है। यहाँ बताया गया है कि भगवान ने गोपबालकों को भोजन लाने के

लिए कुछ यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के पास भेजा पतंग उन यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों ने अपने अहंकारवश उन्हें कुछ नहीं दिया । इस पर भगवान ने उन्हें पुनः उन ब्राह्मणों की पात्नियों के पास भेजा जो यज्ञस्थल से कुछ दूर निवास कर रही थीं । वे यज्ञपात्नियाँ भगवान का संदेश प्राप्त होने के बाद भगवान के दर्शन के लिए आयीं । तब भगवान ने उनसे भी लौट जाने के लिए कहा और इस पर वे तौट गईं । देखें श्री. भा. १०/२३/१४.....३२) टीकाकार कह रहे हैं कि यज्ञपात्नियाँ तो भगवद्-आज्ञा मानकर लौट गई अतः उन्हें उसी वक्त भगवद्-प्राप्ति न हुई परन्तु गोपिकाएँ उनकी तरह लौटी नहीं एवं भगवान को प्रत्युत्तर दिया अतः उन्हें उसी समय प्रभु की प्रसिद्धि हो गई । टीकाकार का कहना यह है कि हमें भी इसी प्रकार गोपिकाओं की भाँति धैर्यपूर्वक रहना चाहिए । किंतु उन्हें रासकीड़ी की अपेक्षा थी और उनका भाव पूर्ण न होने के कारण उत्पन्न हुए दुःख से वे प्रभु के निश्चर वचनों को सुनकर भी एक दृढ़ भी भाँति वर्षी खड़ी रह गईं । उनकी समस्त इंद्रियाँ व्याकुल होने पर भी उस दुःख को सहन करके धैर्यपूर्वक भगवान की शरणागति वाले भक्तिमार्ग के अनुसार वे वर्हीं रहीं एवं भगवान जो प्रत्युत्तर दिया, अपने घरों में लौट जाने की इच्छा नहीं की । उसी प्रकार इस पुष्टिमार्गीय भक्त को भी वैसी ही भावना के द्वारा उसके फलदान में हुए विलंब के दुःख को सहन करने से एवं भगवान से किसी भी प्रकार की कामना न रखते हुए पुष्टिमार्ग में दृढ़तापूर्वक रहने से भगवान फल देते ही हैं । अतः उसे दुःख को सहना चाहिए । इसी भाव को बताने के लिए आर्याचरणों ने गोपभार्यवत् शब्द से गोपिकाओं का दृष्टांत दिया है ।

किंव, गोपानां भार्याः, भार्यापदेन भर्तु योग्या यथापि तथापि तासां तत्कृतभरणपोषणादिकं नाषेष्ठितं किन्तु भवत्कृतमेव । भगवत्कृतददधावे तासां जीवनमेवं न भवति । यतस्तदुपोगाभावे सर्वमेव भरणपोषणादिसाधनं गृहादिकं त्यक्तं भवति । एततुप्योग एव तद्व्याप्त्यन्तेन गृहीतो भवतीति । तथा प्रभुविलम्बकरणेषि तद्व्यतिरिक्तदेहादिसम्बन्धि पूर्वोक्तं किमपि न भावनीयं, किन्तु प्रभुः मम भरणपोषणादिकं करिष्यत्येवेतिनिश्चयेन यैर्येण स्थातव्यमिति गोपभार्यपदेन ज्ञायते ।

अने, अर्हीं एवं पशु सभन्ते के भले गोपोनी जे भार्या (अटेलेके पत्नी) होय छे तेने गोपभार्या कहे छे अने जेनुं भरणपोषणकर्त्तव्यानु छे तेने “भार्या” कहे छे । आ रीते ते गोपिकाओं गोपोनी भार्या तो छे, छतां पशु ते गोपिकाओंने पोताना लौडिकपति तरक्षीथी भरणपोषण अपेक्षित नहोतुं पशु ते तो भश्वान द्वारा पोतानुं भरणपोषण ईर्छाती हती । जे प्रभु तेमनुं भरणपोषण न करता तो ते लुबीत ज न रहेती । जे भगवान तेमनुं भरणपोषण न करता तो ते तो पोताना भरणपोषण ना साधन धर वगेरे बधान्ते तो त्याग करी ऐठेली हती । वास्तवमां तो तेमनो धर वगेरेनो उपियोग करन्यो पशु लग्वद्-भोग भटे हन्तो अने एवं कारणाथी ज ते त्यां रही । बरोभर आज प्रभाणे जे प्रभु इण्डानमां विलंब करे त्यारे पशु तेमना स्त्रियां पहेलां कहेलां देहसंबंधियों पर आश्रित थवानी भावना न करवी ज्ञेयेषु पशु “प्रभु भाङ्गं भरणपोषण करशे ज” एवा निश्चय साथे धैर्यपूर्वक रहेन्दुं ज्ञेयेषु-आ ॥ “गोपभार्य” पद द्वारा कहेल छे ।

और, यहाँ यह भी समझिए कि यद्यपि गोपों की जो भार्या भार्या अर्थात् पत्नी होती है, उसे गोपभार्या कहते हैं । और, जिनका भरणपोषण किया जाना है, उसे “भार्या” कहते हैं । इस तरह से वे गोपों की भार्या तो हीं तथापि उन गोपिकाओं को अपने लौकिक पति के द्वारा भरणपोषण अपेक्षित नहीं था किंतु वे तो भगवान द्वारा अपना भरणपोषण चाहती थी । यदि भगवान उनका भरणपोषण न करते तो वे जीवित ही नहीं रहतीं । यदि भगवान उनका भरणपोषण न करते तो वे तो अपने भरणपोषण के साधन गृह-आदि सभी का तो त्याग कर बैठी थीं । वास्तव में तो उनका गृह-आदि का उपयोग करना भी भगवद्-भोग के लिए था और इसी कारण वे वर्हीं रहीं । ठीक इसी प्रकार यदि प्रभु फलदान में विलंब करें तब भी उनसे अतिरिक्त पूर्व में कहे देहसंबंधियों पर आश्रित होने की भावना नहीं करनी चाहिए परंतु “प्रभु मेरा भरणपोषण करेंगे हीं” इस निश्चय के साथ धैर्यपूर्वक रहना चाहिए -यह गोपभार्य पद के द्वारा बताया गया है ।

किंव, श्रीमदाचार्याणां साक्षात्तुरुपोत्तमास्यक्वेन तदुक्तवाक्यानामुपनिषद्पूत्वादत्र भार्यापदे -हस्त्वश्छान्दसो इवः । स्वकीयानामेतादृशेव बुद्धिर्भविष्यति, परन्तु कस्यविद्धान्तस्याशङ्का भवेत्तदभावार्थं पक्षान्तरमुच्यते । यद्या, गोपानां भार्यः भरणपोषणयोग्यः, अर्थात्तेव भार्यजन इति यावत् ।

अने वली, केमें श्रीभद्राचार्यवर्चरणो साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तमना मुखारविद्द स्वदृप छे तेथी तेमना मुख्यी निक्षेला वाक्यो पशु उपनिषद्दृप ज छे; ए कारणाथी अर्ही भूपडारिकामां आवेला “भार्या” पदने वैदिक लज्जी लेवो ज्ञेयेषु । टीकाकरे अर्ही एक गंभीर वात कही छे । तेथो कहे छे के ज्ञेके संस्कृतमां पत्नी भाटे “भार्या” १०० छे परंतु श्रीभद्राचार्यवर्चरणो “भार्या” शब्दनो प्रयोग न करीने “भार्या” शब्दनो प्रयोग करी रख्या छे जे पाणिनी-व्याकरणीनी इष्टिये बरोभर नथी । परंतु तेथो कहे छे के केमें श्रीभद्राचार्य साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम ना मुखारविद्दस्वदृप छे तेथी तेमना मुखारविद्दमांथी प्रकटेलुं होरेक वाक्य पशु वेददृप

જ છે અને તેજ કારણે “ભાર્ય” શબ્દને વૈદિક-પ્રયોગ જાણી લેવો જોઈએ. એટલે કે જ્યાં સ્વયં ભગવાનની વાણી નિકળી રહી હોક્ષ ત્વા ભાનવીય પાણિની-વ્યાકરણ શું વિસાતમાં છે ? તેવો અર્થ છે. અને તેમજ, સ્વયં ઉપનિષદોની શરૂઆતમાં મંગલાચરણમાં “ભદ્ર કરુણાભિઃ” . પ્રયોગ આવે છે કે પાણિનિ વ્યાકરણની દિનિએ ઉપયુક્ત નથી. પાણિનિ વ્યાકરણ પ્રમાણે શુદ્ધ પ્રયોગ “ભદ્ર કર્ણોઃ” . હોવો જોઈએ, પરંતુ એમ ભોલવામાં નથી આવતું. કેમકે વેદવાણી ભગવાનની વાણી છે અને એને કોઈ વ્યાકરણનું બંધન નથી. તે પ્રકારે અહીં પણ સમજાયું જોઈએ, એમ ટીકાકાર કરે છે.) જેઓ સ્વત્તીય છે તેઓ તો તેમજ વિચારણ પરંતુ કોઈ ભાંતિવિચ વ્યક્તિને એવી શંકા થઈ શકે છે તેથી અમે તેમના માટે આ પદની બીજી રીતે વ્યાખ્યા કરીએ છીએ. તે આ પ્રકારે કે ગોપોની “ભાર્ય” . નો અર્થ એ છે કે જેઓ ભરણપોષણને યોગ્ય છે તે. અર્થાત્ તે ગોપોની પત્નીઓ જ “ભાર્યબન” છે.

ઔર ભી, ચૌકિ શ્રીમદાચાર્યચરણ સાક્ષાત્ પૂર્ણપુરુષોત્તમ કે મુહારવિદસ્વરૂપ હૈનું અત: ઉનકે મુખ સે નિકલે હુએ વાક્ય ભી ઉપનિષદરૂપ હી હૈનું; ઇસ કારણ યાં મૂલકારિકા મેં આએ ‘ભાર્ય’ પદ કો વैદિક જાન લેના ચાહિએ। ટીકાકાર ને યાં એક ગંભીર બાત કહી હૈ. વે કહતે હૈનું કે યદ્યપિ સંસ્કૃત મેં પણી કે લિએ ‘ભાર્યા’ શબ્દ હૈ પરંતુ શ્રીમદાચાર્યચરણ ‘ભાર્ય’ શબ્દ પ્રયુક્ત ન કરકે ‘ભાર્ય’ શબ્દ કા પ્રયોગ કર રહે હૈનું જો પાણિનિ-વ્યાકરણ કી દૃષ્ટિ સે ઉપયુક્ત નહીં હૈ. પરંતુ વે કહતે હૈનું ચૌકિ શ્રીમહાપ્રમુ સાક્ષાત્ પૂર્ણ પુરુષોત્તમ કે મુહારવિદસ્વરૂપ હૈનું અત: ઉનકે મુહારવિદ સે નિકલા હુએ હોકે વાક્ય ભી વેદરૂપ હી હૈ. ઔર ઇસી કારણ ‘ભાર્ય’ શબ્દ કો વैદિક-પ્રયોગ જાન લેના ચાહિએ। અર્થાત્ જહાં સ્વયં ભગવાન કી વાણી નિકલતરહી હો, વહાં માનવીય પાણિનિ-વ્યાકરણ કા ક્યા વિસાત હૈ ? યથ અર્થ હૈ. ઔર ભી, સ્વયં ઉપનિષદો કે આરંભ મેં મંગલાચરણ મેં ‘ભદ્ર કર્ણેભિઃ’ પ્રયોગ આતા હૈ જો પાણિનિ-વ્યાકરણ કી દૃષ્ટિ સે ઉપયુક્ત નહીં હૈ. પાણિનિ-વ્યાકરણ કે અનુસાર શુદ્ધ પ્રયોગ ‘ભદ્ર કર્ણેઃ’ હોના ચાહિએ થા, પરંતુ એસા નહીં કિયા જાતા। ક્વાંકિ વેદવાણી ભગવાન કી વાણી હૈ ઔર ઉસે કિસી વ્યાકરણ કા બંધન નહીં હૈ. ઊરી પ્રકાર યાં ભી સમજાના ચાહિએ, યાં ટીકાકાર કા કથન હૈ. જો સ્વકીય હૈનું, વે તો એસા હી સોચોંગે પરંતુ કિસી પ્રાંતિવિત વ્યક્તિ કો એસે શંકા હો સકતી હૈ અત: હમ ઉનકે લિએ ઇસ પદ કી દૂસરે ઢાં સે વ્યાખ્યા કર રહે હોએ હૈનું। વહ ઇસ પ્રકાર કિ ગોપોની કી ‘ભાર્ય’ કા અર્થ યથ હૈ કે જો પ્રણાયોષણ કે યોગ્ય હોએ વે. અર્થાત્ ઉન ગોપોની કી પાલિયાં હી ‘ભાર્યજન’ હૈનું।

યદ્ધા, ગોપભાર્ય: ભાર્યાનાં સમૂહો ભાર્યઃ, ગોપાનાં ભાર્યસ્તત્તસમૃહ ઇત્યર્થ: । એવ દૃષ્ટાન્તત્ત્રયભાવનયા તત્ત્વદ્વાસહનેન કાયમનોવાક્યપત્રિમ્બિત્વત્ । તથા ચ દેહસમ્બન્ધિત્ત્વોત્તિકદુઃખસહને પ્રથમં સેવાયાં પ્રવૃત્ત્યા કાયિકી પ્રપાઠિત્ત્વોત્ત્વત, ઇન્દ્રિયસમ્બન્ધયાથાયાધ્યાત્મિકદુઃખસહને મનો ભગવત્ત્વિષ્ણ ભવેદિતિત્ત્વપત્તિ: । તતો ભગવત્તસ્મબન્ધિત્ત્ત્વસહને ભગવત્કૃતવિલમ્બસ્ય વિરહાત્મકત્વેન તત્ત્વભાવત્ત નિરંતર ગુણગાનકરણે બચોપિ તિનીંનું ભવતીતિ ત્રિધા પ્રપાઠિતિર્સિપતિ ।

અથવા એવો અર્થ કરીલોકે “‘ભાર્ય’ નો જે સમૂહ છે, તે સમૂહ ને ‘ભાર્ય’ કરે છે. અર્થાત્ ગોપોની ભાર્યાનો સમૂહજી ‘ભાર્ય’ શબ્દથી કહેવાઈ રહ્યો છે, આ સમજુને અશુદ્ધ-પ્રયોગની શંકા હવે નથી રહેતી. તો, આ પ્રકારે ઉપર્યુક્ત નન્દ દૃષ્ટાન્તની ભાવના દ્વારા (અર્થાત્ તક્ષણત, જ્વાનત, જ્વાનનું, ગોપભાર્યવત) તે તે દુઃખોને સહન કરવાથી શરીર, મન અને વાણીથી શરણાગતિ થાય છે. આ રીતે દેહસંબંધિત ભૌતિક દુઃખ સહન કરવાથી શરીર મન ભગવાનમાં નિષ્ઠ થઈ જાય છે અને આ પ્રકારે મનની શરણાગતિ થાય છે. ઈંદ્રિય સંબંધી આધ્યાત્મિક દુઃખ સહન કરવાથી કેમકે ભગવત્તૃત્ત વિલંબ વિરહાત્મક હોય છે તેથી બેબા વિરહી સ્વભાવના થઈ જવાથી જીવ નિરંતર ભગવાનનાજ ગુણગાન કરે છે અને એ પ્રકારે વાણી પણ ભગવાનમાં નિષ્ઠ થઈ જાય છે. આ રીતે વાણી પણ શરણાગત થઈ જાય છે. આ પ્રકારે અહીં ત્રણ પ્રકારની શરણાગતિ નિરૂપિત કરી.

અથવા યો અર્થ કર લેં કે ભાર્યા કા જો સમૂહ હૈ, ઉસ સમૂહ કો ‘ભાર્ય’ કહેતે હૈનું। અર્થાત્ ગોપોની ભાર્યા કા સમૂહ હી ‘ભાર્ય’ શબ્દ સે કહા જા રહા હૈ, યાં સમજાકર અશુદ્ધ-પ્રયોગ કી શંકા અવ નહીં રહ જાતી હૈ. તો, ઇસ પ્રકાર, ઉપર્યુક્ત તીન દૃષ્ટાન્તો કી ભાવના કે દ્વારા અર્થાત્ તક્ષણત, જડવત, ગોપભાર્યવત ઇન-ઇન દુઃખોનો કો સહન કરને સે શરીર-મન એવં વાણી કી શરણાગતિ હોતી હૈ. ઇંદ્રિય સંબંધી આધ્યાત્મિક દુઃખ સહન કરને પર મન ભગવાન મેં નિષ્ઠ હોતી હૈ ઔર ઇસ પ્રકાર મન કી શરણાગતિ હોતી હૈ. ઇસકે પશ્ચાત્ ભગવત્સંબંધી દુઃખ કો સહન કરને પર ચૌકિ ભગવત્કૃત વિલંબ વિરહાત્મક હોતા હૈ અત: એસે વિરહી સ્વભાવ હો જાને કે કારણ શરીર કી શરણાગતિ હોતી હૈ. ઇસ તરહ વાણી ભી શરણાગત હો જાતી હૈ. ઇસ પ્રકાર યાં હી ગુણગાન કરતા હૈ ઔર ઇસ પ્રકાર વાણી ભી ભગવાન મેં નિષ્ઠ હો જાતી હૈ. ઇસ તરહ વાણી ભી શરણાગત હો જાતી હૈ. ઇસ પ્રકાર યાં તીન પ્રકાર કી શરણાગતિ નિરૂપિત કી ગઈ ।

अत्रैवं इव्यं, देहन्दियादिसम्बन्धिनयेत्प्रतिकूला भवन्ति, तदा सेवान्तरायत्वेन तेषां परित्यागः कर्तव्य इति सेवाप्रकरणे तत्त्वार्थदीपि निस्तप्तिं “भार्यादिरनुकूलश्च” दिति, तेन तत्यागे स्वोपयोगभावात् तिरस्कारादिकं कुर्वन्तीति लोके दृश्यते । तथा सति भगवदीयस्य तु तेषु क्रोधादिकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिवन्यो भवेदिति तत्सर्वं प्रभुसेवार्थं सोऽब्द्यमित्यत्र तत्सहनमुक्तमन्यथा तदभावे दुःखस्यैवाभावात् किं सहनं स्यादिति भावः ॥ ६ ॥

अहीं एम समजवृं ज्ञेयाते के, ज्ञे शरीर संबंधीयो भगवत्सेवामां प्रतिकूल थाय तो तेअो सेवामां विद्ध उन्पन्न करे छे, अतः तेमनो परित्याग करवो ज्ञेयाते. आज वात तत्त्वार्थदीपनिबंधना सेवाप्रकरणमां “ज्ञे भार्या वगेरे अनुकूल होय तो तेमनाथी भगवद् क्रिया करावधी ज्ञेयाते के, प्रतिकूल होय तो गृहत्याग करवो ज्ञेयाते (सर्व. /२३३)“ आ “लोक द्वारा कहेल छे. अने ज्ञे एमनो त्याग करावामां आवे तो केम्भे भक्त एमना उपयोगनो नर्थी रहेतो तेथी तेअो एनो तिरस्कार करे छे, एवुं लोक मां बछाय छे. आवामां भगवदीय ज्ञे तेमना पर छोध-वगेरे करे तो भलिर्भुभता अने सेवामां प्रतिबंध थाय छे. तेथी प्रभुसेवाने सारी रीते निभावत्वा भाटे ते भधाने सहन करी देवा ज्ञेयाते. अहीं ए भधा ने भगवत्सेवा भाटे सहन करवानुं कह्युं छे नहीं तो ज्ञे भगवत्-सेवा वज्ञ नहीं करीते तो शेषी वातनु दुःख वज्ञ नहीं थाय, अने ज्ञे कोई दुःख वज्ञ नहीं थाय तो शुं सहन करशुं ? एवो भाव छे ॥ ६ ॥

यहाँ यह समझना चाहिए कि, यदि देह-संबंधी भगवत्येवा में प्रतिकूल हों तो वे सेवा में विश्व उन्पन्न करने हैं अतः उनका परित्याग करना चाहिए । यही तत्त्वार्थदीपनिबंध के सेवा प्रकरण में “यदि भार्या आदि अनुकूल हों तो उनसे भगवद्-क्रिया करन्यां चाहिए प्रतिकूल हों तो गृहत्याग करना चाहिए (सर्व. /२३३)“ इस लोक द्वारा कहा गया है । और यदि उनका त्याग कर दिया जाय तो चूंकि मन् उनके उपयोग का नहीं रह जाता अतः वे उसका निरस्कार करते हैं, ऐसा लोक में देखा जाता है । ऐसे में भगवदीय यदि उन पर ब्राह्म-आदि करे तो ब्रह्मरुक्ता एवं सेवा में प्रतिबंध होता है । अतः प्रभु सेवा के भर्ता भौति निर्वाह के लिए उन सभी ज्ञानी सहन कर लेना चाहिए । यहाँ उन सभी को भगवत्येवा के लिए सहन करना कहा गया है अन्यथा यदि भगवत्येवा हो नहीं करेंगे तो किसी वान का दुःख दी नहीं दोगा, और जब कोई दुःख ही नहीं दोगा तो सहन ही क्या करेंगे ? यदि भाव है ॥ ६ ॥

ननु तिरस्कारादिना ते चेद् दुःखं न प्रयच्छेयुस्तदापि कि तेषां त्याग एव कर्तव्य इति चेतत्राहुः प्रतीकार इति ।
प्रतीकारो यहच्छातः सिद्धश्चेनाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथात्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भगवदिच्छया प्रतीकारः सिद्धश्चेद्यार्थयो द्युन्कूला उदासीना वा भवेयुस्तदा तत्यागे आग्रहवान् न भवेत्किन्तु अनुकूलत्वे भार्यादिभिपि सेवां कायेदुदासीनवे स्वयं कुर्यात् । परन्तु तेषां तथापि योगक्षेममात्रं कर्तव्यं न तु त्यागः । प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्याशयेनोक्तं नाश्रही भवेत् । प्रतिकूलत्वाभावेपि सर्वथा त्याग एव कर्तव्य इत्याग्रहवान् न भवेत् । हठेन त्यागकरणे समीचीनानामपि भार्यादीनां क्रोधावेशेन स्वस्मिन्द्वेषकर्त्तुत्वं संभवतीति तेन सेवाप्रतिबन्धकः स्वयमेव भवतीति तन्न कर्तव्यमिर्मात्मावः ।

हुये एम प्रश्न थाय तो ज्ञे हैलसंबंधीयो तिरस्कार वगेरे द्वारा दुःख न आपता होइ, तो शुं त्यारे पाण एमनो त्याग वज्ञ करवो ज्ञेयाते ? तो श्रीआचार्यचरणहो एनुं समाधान “प्रतीकारः” वगेरे शब्दो थी करी रख्यां छे.

अहीं एम समजवृं ज्ञेयाते के ज्ञे भगवत्येवा थी ते परिवारज्ञो द्वारा अपाता दुःखों प्रतिकूल थई शक्तो होय तो (प्रतीकारनो सामान्य अर्थ छे) - दुःखो सामे लडवानी शक्ति. टीकाकार कही रख्या छे के, ज्ञे भगवत्यानी ईच्छा थीव ते दुःखों प्रतीकार पोतानी रीते थई ज्ञो होय तो परिवारज्ञों त्याग करवो जड़ी नथी) पष्ठी भलेने भार्या वगेरे भगवत् सेवा मां अनुकूल होय के उदासीन रहे, त्यारे एमना त्यागनो आश्रह न राख्यो ज्ञेयाते. पण तेअो ज्ञे अनुकूल होय तो तेमनाथी भगवत्सेवा करावधी ज्ञेयाते अने तेअो ज्ञे उदासीन होय तो स्वयं करी देवी ज्ञेयाते, तेम छतां पण तेमना योगक्षेमनो निर्वाह तो करवो वज्ञ ज्ञेयाते, तेमनो त्याग नहीं. अने ज्ञे तेअो भगवत्सेवामां प्रतिकूल होय तो तेमनो त्यागज्ञ करवो ज्ञेयाते, ए आश्रयी अहीं “नाश्रही भवेत्” कह्युं छे, ज्ञेनो अर्थ ए छे के, परिवारज्ञ सेवामां प्रतिकूल थता होय तो पाण तेमनो त्याग न करीये एवा आश्रही न थवुं ज्ञेयाते. केम्भे ज्ञे हैलपूर्वक तेमनो त्याग वज्ञ करी देवामां आवे तो सारा-सज्जन पत्नी-पुत्र वगेरे पाण क्रोधावेशी आपणा प्रत्ये देखनी भावना राख्यो अने आपणे पोतेज्ञ भगवत् सेवा मां प्रतिबंधना कराण ज्ञी नहीं शुं, तेथी तेमनो त्याग न करवो ज्ञेयाते.

किन्तु यद्यों शंका यह उठनी है कि, यदि देहसंयंगीजन तिरस्कार-आदि के द्वारा दुःख न देते हों, तो क्या तब भी उनका त्याग ही कर देना चाहिए? तो आचार्यचरण इरका समाधान प्रतीकार इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि, यदि भगवद्-इच्छा से उन परिवारजनों के द्वारा दिप् गये दुःख का प्रतीकार सिद्ध होता हो प्रतीकार का सामान्य अर्थ है— दुःखों से लड़ना। टीकाकार कह रहे हैं कि, यदि भगवान् की इच्छा से ही उन दुःखों का प्रतीकार अपने आप ही सिद्ध हो रहा है, तो परिवारजनों का त्याग करना आवश्यक नहीं है तो भले ही भार्या-आदि भगवत्सेवा अनुकूल हो या उदासीन हो, तब उनके त्याग का आग्रह नहीं रखना चाहिए। किन्तु यदि वे अनुकूल हों तो उनसे भगवत्सेवा करवानी चाहिए और यदि वे उदासीन हों तो स्वयं कर लेनी चाहिए, परंतु फिर भी उनके योगक्षेम का निर्वाह तो करना ही चाहिए, त्याग नहीं। और यदि वे भगवत्सेवा में प्रतिकूल हों तो उनका त्याग ही करना चाहिए, इसी आशय से यद्याँ नाश्री भवेत् कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि, परिवारजन सेवा में प्रतिकूल होते हों, तब भी उनका त्याग नहीं करे— ऐसा आश्री नहीं होना चाहिए। और यदि वे प्रतिकूल न होते हों, तब भी सर्वथा उनका त्याग ही कर दे, ऐसा आश्री भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि हठपूर्वक उनका त्याग ही कर दिया जाय तो अच्छे-भले पत्नी-पुत्र आदि भी ग्रोधावेश से हमर्मे द्वेष की भावना रखेंगे और हम स्वयं ही भगवत्सेवा में प्रतिबद्ध का कारण बन जायेंगे अतः उनका त्याग नहीं करना चाहिए।

भौतिकदुःखप्रतीकारे परमित्यं व्यवस्था। आध्यात्मिकदुःखप्रतीकारे पि व्यवस्थोच्यते। सकलेन्द्रियाणां स्वस्वविषयभोगवस्तुत्यागे दुःखं भवति। तज्जगवदिच्छया स्वभोगार्थं तेषु पूरैव प्रवृत्तिरेव न भवेत् चेत्तदा तज्जनितसेवान्तरायाभावात्तत्यागे आग्रहवान् न भवेत्। यतस्ताद्यस्य मध्यकूचन्दनादिसकलभोगसामग्री स्वप्रभुनिमित्तत्वेनावश्यमपेक्षिते तदुपयोगे जाते तद्वत्महाप्रसादत्वेन स्वैषाभाग्यस्वपत्वेन तदुपभोगकरणे बाह्याभ्यन्तरशुद्धया भगवद्भर्माविष्टत्वं भवतीति न तत्यागः। एवं संति विषयभोगार्थं सर्वस्यापि त्यागस्तदभावे तस्यालौकिकत्वे फलमध्यपातिनाम तत्याग इति सूचितम्।

आ भौतिकदुःखों थी लडवानी व्यवस्था छे. हवे आध्यात्मिक दुःखोंना प्रतीकारनी व्यवस्था पशु कही रह्या छे. समस्त ईंद्रियोंने पोत-पोताना भोग्य विषयक वस्तुओंनो त्याग थाया पर दुःख थाय छे. पशु ने भगवद्इच्छाथी ते ईंद्रियोंनी पहेलेथीज विषयभोगमां प्रवृत्ति ज न होय तो ते भगवद् सेवामां विघ्न उत्पन्न नथी करती तेथी तेवी ईंद्रियोना कायोंनो त्याग करवामां आश्री न थवुं लेईचे. केम्हे आवा तादृशी लुव माटे ईंद्रियों नी प्रवृत्ति विषयभोगों मां न थई भगवान्मां ज होय छे. तेने भागा, चंदन वगेरे समस्त भोग-सामग्री पोताना। प्रशु माटे जरूरथीज अपेक्षित होय छे अनेते वस्तुओंनो प्रशुमां विनियोग थई ज्वारा पर तेमने प्रशु द्वारा आपेली प्रसादीकृप मानीने पोतानुं सौभाग्य मानीने तेमनो उपभोग करे छे. आ प्रकारे बाह्य अने आंतरशुद्धि वडे ते भगवद् धर्मोंमां ओतप्रोत थई लय छे तेवी आवी ईंद्रियोंना विषयभोग के ते माटेनी वस्तुओंनो त्याग न करवो लेईचे. आ प्रकारे ए नक्की थयुं के विषयभोग ना अर्थमां तो बधानो त्याग छे पशु प्रवृत्ति जे विषयभोगमां न थईने स्वयं भगवान्मां थाय तो ते अलौकिक होवाने कारणे अने इत्यमध्यपाती (अर्थात् ते मुख्यफल ना अंतर्गत ज छे) होवाने कारणे तेमनो त्याग नथी, ये अहीं कहेवामां आव्युं छे.

यह भौतिक दुःखों से लड़ने की व्यवस्था है। अब आध्यात्मिक दुःखों का प्रतीकार करने की व्यवस्था भी कह रहे हैं। समस्त ईंद्रियों को अपने-अपने भोग्य विषयक वस्तुओं का त्याग होने पर दुःख होता है। किन्तु यदि भगवद्-इच्छा से उन ईंद्रियों की पहले ही से विषयभोगों में प्रवृत्ति ही न हो तो वे भगवद्-रंगवा में विघ्न उत्पन्न नहीं करतीं अतः ऐसी ईंद्रियों का त्याग करने में आश्री नहीं होना चाहिए। क्योंकि ऐसे तादृशी जीव को ईंद्रियों जिनकी प्रवृत्ति विषयभोगों में न होकर भगवान् में ही है, उसे माला, चंदन आदि समस्त भोग सामग्री अपने प्रभु के लिए अवश्य ही अपेक्षित होती है और उनका प्रभु में विनियोग हो जाने पर वह उन्हें प्रभु द्वारा वी गई प्रसादीरूप मानकर, अपना सौभाग्य मानकर उनका उपयोग करता है। इस प्रकार बाहरी-भीतरी शुद्धि के द्वारा वह भगवद्-धर्मों में ओतप्रोत हो जाता है अतः ऐसी ईंद्रियों का त्याग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विषयभोग के अर्थ में तो सभी का त्याग है परंतु प्रवृत्ति यदि विषयभोग में न होकर स्वयं भगवान् में हो तो उसके अलौकिक होने के कारण एवं फलमध्यपाती अर्थात् वह मुख्यफल के अंतर्गत ही है होने के कारण उनका त्याग नहीं है, यह सूचित किया गया है।

इदमेवोक्तं सेवाफले, 'अलौकिकभोगस्त्वित्वा' त्यादि, आधिदैविकदुःखप्रतीकारव्यवस्थामादुः। प्रारब्धभोगानन्तरं परीक्षानन्तरं वा भगवान् कृपया सेवोपयोगि धनादिकं दातुमिञ्चेचेत्तदा साक्षात्परम्परया च तदिच्छया स्वप्रयत्नं विनैव तत्वासं भवति, तदपि निरुपाधिकं विहितं शुद्धं चेद् भवेत्तदा तत्यागे आग्रहो न कर्तव्यः। जन्मान्तरे प्रतिबन्धाभावार्थं मम प्रारब्धादिभोग एव भवतीति, प्रारब्धस्यापि

तदधीनत्वात् । किन्तु भगवता स्वोपभोगार्थमेवेदं दत्तमिति मत्वा सर्वं भगवदर्थमेवोपयोक्तव्यं न तु स्वार्थमिति भावः । तथा चोक्तमपि, ‘निजेच्छातः करिष्यती’ त्यत्र स्वीयानामविकृतेच्छात इति । सिद्धान्तमुक्तावल्लामणि ‘भजनोपयोगव्याप्तिपेक्षायामणि प्रमुणेव सर्वं सम्पादयत इति, तथा “कृष्णं परं ब्रह्म” त्यस्य विवरणे । एवं सामान्यत आधिभौतिकादिदुःखसहनमुद्देशत उक्तम् ।

आज सेवाकलन्यंथमां “अलौडिक भोग त्याज्य नर्थी” ते वाक्य द्वारा कहुं छे, हवे आधिदैविक दुःखोनो प्रतीकार करवानी व्यवस्था करेवामां आवीं २३ हो छे. ज्यारे भगवान प्रारब्धनो भोग कराया पर्ही अथवा परीक्षा कर्म पर्ही कृपा द्वारा अगवत् सेवामां उपेयोगी धन-वगेरे आपवानी ईच्छा करे छे त्यारे साक्षात् इच्छी अथवा परंपरार्थी भगवान नी ज ईच्छार्थी अने आपशा प्रयत्नो वशरूल आपाशने तेनी प्राप्ति थाय छे. ते धन-वगेरे पाण ज्ञे निजप्रियिक होय (अर्थात् जे धन स्वयं माटे भाँगेवुं न होय, ऐवुं) शास्त्रने अनुसार होय अने शुद्ध होय, तो ते धन नो त्याग करवानो आग्रह पाण न राख्यो लेर्हिए. दुःख आवधा पर ए विचार करवो लेर्हिए के, बीज जन्ममां भरे प्रारब्धनो भोग न करवो पठे ए कारणार्थी आ जन्ममां ज भगवान भने प्रारब्धनो भोग करावी रह्या छे केम्हे प्रारब्ध पाण भगवानने आधीन छे. तेथी ज्यारे भगवान धन वगेरे आपे, त्यारे ए विचार करवो लेर्हिए के भगवाने आ धन भने तेओना उपभोग भाटे ज आप्युं छे, तेथी बधुंज भगवान माटे ज उपयोगमां लावधुं लेर्हिए, स्वार्थवृत्ति न राख्यो लेर्हिए, एवो भाव छे. आज वात नवरत्नन्यंथना “भगवान निजजन्मोनी ईच्छार्थी बधुंज करशे (२)” आ श्लोकना विवरणमां श्रीप्रभुचरणोये “स्वीयजन्मोनी ईच्छा अविकृत होवी जड़ी छे” ते वाक्य द्वारा कही छे. (प्रभुचरणोये आ श्लोकना विवरणमां अभि कहुं छे के “निजेच्छातः करिष्यति”. आनो अर्थ अभि पाण थर्थ शके छे के भगवान निजजन्मो नी ईच्छा अनुसार भधुं ज करे छे पाण अनो अर्थ ए नथी के भक्त भनक्षये तेवी ईच्छा करी ले अने भगवान तेवंज करी हेशे, तेथी ईच्छापाण अविकृत होवी जड़ी छे अर्थात् ते ईच्छामां कोई विकार न होवो लेर्हिए. जे ईच्छामां धर्म-अधर्म, युक्त-अयुक्ता एवं भगवद् सुभनो विचार होय तेज अविकृत ईच्छा छे) आज सि. मु. ना “कृष्णं परं भक्त (३)” श्लोकना विवरणमां कहुं छे के भगवद् भजनमां उपेयोगी धननी ईच्छा होय तो पाण प्रभुं ज एने संपादित करे छे. आ प्रकारे सामान्यतया आधिभौतिक वगेरे दुःखने सहन करवानो हेतु कहेवामां आव्यो.

यही सेवाकलन्यंथ में “अलौकिक भोग त्याज्य नहीं है” इस वाक्य द्वारा कहा गया है । अब आधिदैविक दुःखों का प्रतीकार करने की व्यवस्था कही जा रही है । जब भगवान प्रारब्ध का भोग करने के पश्चात् कृपा द्वारा भगवत्सेवा में उपयोगी धन-आदि को देने की इच्छा करते हैं तब साक्षात् रूप से अथवा परंपरा से भगवान की ही इच्छा से एवं हमारे प्रयत्न के बिना ही हमें उसकी प्राप्ति होती है । वह धन-आदि भी यदि निरुपधिक हो अर्थात् जो धन स्वयं के लिए माँगा न गया हो, ऐसा, साक्ष के अनुसार हो एवं शुद्ध हो, तो उस धन का त्याग करने का आग्रह भी नहीं रखना चाहिए । दुःख अने पर यह विचार करना चाहिए कि, दूसरे जन्म में मुझे प्रारब्ध का भोग न करना पडे इस कारण इस जन्म में ही भगवान मुझे प्रारब्ध का भोग करवा रहे हैं क्योंकि प्रारब्ध भी भगवान के अधीन है । अतः जब भावान धन-आदि दें, तब यह विचार करना चाहिए कि भगवान ने इसे उनके उपभोग के लिए ही दिया है, इस कारण सभी कुछ भगवान के लिए ही उपयोग करना चाहिए, स्वार्थवृत्ति नहीं रखनी चाहिए, यह भाव है । यही वात नवरत्नन्यंथ के “भगवान निजजन्मो की इच्छा से सभी कुछ करेंगे (२)” इस श्लोक के विवरण में प्रभुवरणों ने “स्वीयजन्मों की इच्छा अविकृत होनी आवश्यक है” इस वाक्य द्वारा कही है । प्रभुवरणों ने उक्त श्लोक के विवरण में ये कहा है कि “निजेच्छातः करिष्यति” का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि भगवान निजजन्मो की इच्छा के अनुसार सभी कुछ करते हैं परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि भक्त चाहे जैसी इच्छा कर ले और भगवान वैसा ही कर देंगे अपितु इच्छा भी अविकृत होनी आवश्यक है अर्थात् उस इच्छा में कोई विकार नहीं होना चाहिए । जिस इच्छा में धर्म-अधर्म, युक्त-अयुक्त, एवं भगवद्-सुख का विचार हो, वही अविकृत-इच्छा है । यही सि. मु. के ‘कृष्णं परं ब्रह्म (३)’ श्लोक के विवरण में कहा गया है कि, भगवद्-भजन में उपयोगी धन की चाहना होने पर भी प्रभु ही उसे संपादित करते हैं । इस प्रकार सामान्यतया आधिभौतिक-आदि दुःखों को सहन करने का उद्देश्य कहा गया ।

अतः परं देहादिसम्बन्धिनः क इत्याकाङ्क्षायां प्रथमं देहसम्बन्धिनो विशेषत आहुः भार्यादीनामिति । भार्यादयो भरणपोपयोगयास्ते देहसम्बन्धियु स्वसमानास्तेपां भरणपोपयोगेक्षितं न तु धर्मः, भरणपोपयोग नाम सर्ववस्तुनो देहादिस्पर्यन्तस्य स्वविषयको विनियोगस्तदकरणे तेत्रिक्रमं कुर्वन्ति, तदा तत्सर्वं सहनमेव कुर्यान्तु क्रोधादि, तत्करणे तदावेशन सेवान्तरायो बाहिर्मुख्यं स्यादिति । तथान्येषां बान्धवानां भित्रादीनामुदासीनानां बहिर्मुखानां च पूर्वसामयिकनित्यमिलनव्यवहारायकरणेनर्थया तेष्यत्रिक्रमं कुर्वन्ति, तस्यापि सहनमेव कर्तव्यम् । अथवा भक्तत्वेषि बान्धवानां बन्धुत्वस्वभावाद् विभागादिजनितद्वेषेणापि अतिक्रमः सम्भवति ।

आना पढ़ी “देह वगेरे ना संबंधी कोश छे” ऐ प्रश्नना उत्तरमां सर्वप्रथम देहसंबंधियोने विशेषज्ञपत्थी “भार्यादीना” वगेरे शज्जोषी कही रह्या छे. जे भरणपोषण करवा योग्य छे, तेओ भार्या वगेरे छे. देह-संबंधियोंमां आ बधा आपणा लेवाज छे. तेमने आपणी पासे भरणपोषण-नीज अपेक्षा होय छे, धर्मनी नहीं. भरणपोषणानो अर्थ छे, शरीर वगेरे समस्त वस्तुओंनो तेमनायां विनियोग करवो. जे आपणे तेम नथी करता तो तेओ आपाणु अतिक्रमण (विरोध) करे छे. आवी परिस्थितियां ते बधानां अतिक्रमणे सहन ज करी सेवु ज्ञेईचे, तेमना पर क्रोध न करवो ज्ञेईचे. जे गोप्य कराणु तो कोधावेशथी सेवामां विघ्न उत्पन्न थशे अने बहिर्भूता थशे. तथान्येखां शब्दथी तात्पर्य ए छे ते बंधुबांधव, मित्र अने भगवद्-धर्मो मां उदासीन वगेरे पाण ल्हे पहेलानी लेभ नित्य मणवुं, व्यवहार वगेरे न करवाने करवो. ईर्जाथी आपाणु अतिक्रमण करे छे, तेमने पाण सहन ज करवा ज्ञेईचे. अथवा जे बंधु-बाधव ल्हेने भगवद् भक्त होय अने भगवद् धर्मोमां इचि पाण राखता होय परंतु स्वभाववश संपत्तिनी वहेचणीमां द्वेषधी अतिक्रमण करी शके छे, पाण तेमने पाण सहन करवा ज्ञेईचे.

इसके पश्चात् ‘देह-आदि के संबंधी कौन हैं?’ इस प्रश्न के उत्तर में सर्वप्रथम देहसंबंधियों को विशेषरूप से भार्यादीनां इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जो भरणपोषण करने योग्य हैं, वे भार्या-आदि हैं। देह-संबंधियों में ये सभी हमारे समान ही हैं। इनको हमसे भरणपोषण ही अपेक्षित होता है, धर्म नहीं। भरणपोषण का अर्थ यह है- देह-आदि पर्यंत समस्त वस्तुओं को उनके लिए विनियोग करना। यदिहम ऐसा नहीं करते तो वे हमारा अतिक्रमण (विरोध) करते हैं। ऐसी परिस्थिति में उन सब का अतिक्रमण सहन ही कर लेना चाहिए, उन पर क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि क्रोध करेंगे तो क्रोधावेश से सेवा में विघ्न उत्पन्न होगा एवं बहिर्भूतां होगी। तथा अन्येषां शब्दों से तात्पर्य यह है कि बंधुबांधव, मित्र, एवं भगवद्-धर्मों में उदासीन इत्यादि लोग भी अब पहले की तरह नित्य मिलना एवं व्यवहार-आदि न करने पर ईर्ष्या से हमारा अतिक्रमण का देत हैं, उनको भी सहन ही करना चाहिए। अथवा, यदि बंधु-बाधव भले ही भगवद्-भक्त हों और भगवद्-धर्मों में रुचि भी रखते हों परंतु स्वभाववश संपत्ति के बँटवारे में द्रेष से अतिक्रमण कर सकते हैं, परंतु उन्हें भी सहन करना चाहिए।

अथ च, असतश्च स्वदासनोपि, यथा भार्यापुत्रादये देहसम्बन्धी पोष्येष्वन्तर्भवति, तेपां सङ्केन सोपि चेदतिक्रमं कुर्यात्तदपि (दुःखं) सहमेवेत्यर्थः। एते तु प्रतिकूला धर्मविरोधिन उक्ताः। चकारात् स्वधर्मानुरोधिनः शिष्यमक्तादयोपि ज्ञेयाः। प्रमादतो जीवस्यभावात् शिष्योप्यतिक्रमं चेत्करोति, भक्तोपि तदा स्वप्रारन्धादिभोग एवायमिति भावनया धैर्येण तदुपसहनमेव कर्तव्यं, न तु क्रोधादि। क्रोधादिकरणे तु आमुरावेशन सेवाप्रतिवन्यो वाहिरुम्लक्ष्म स्यात्। किञ्च, शिष्यमक्तयोरपि प्रभुसम्बन्धो वर्तते स्वकृत एव, पुनस्तत्र क्रोधकरणे तदनिष्टं कृतं भवेत्, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यत् (स्वकीयानां) स्वाङ्गीकृतानामनिष्टं कुर्वन्ति इति तस्तहनमेव कर्तव्यमिति भावः।

अने “असतश्च” शब्दनो अर्थ ए छे ते, जे नोकर पाण अतिक्रमण करे तो तेने पाण सहन करवो ज्ञेईचे. ज्ञेवी रीते पत्नी, पुत्र वगेरे आपणा देहथी संबंधित होय छे तेवी रीते नोकर आपणा धनथी संबंधित होय छे तेथी ते पाण आपणा द्वारा पोष्यज छे. परिवारजनोनी साथे जे नोकर पाण आपाणु अतिक्रमण करे तो ते दुःखने पाण सहन ज करी सेवु ज्ञेईचे, तेवो अर्थ छे. आ बधां ने प्रतिकूल अने धर्मविरोधी कहेला छे. मूण कारिकामां आवेला “च” शब्दथी दुःखोने सहन करवामां स्वधर्मानुरोधी शिष्यगण (अटेसे ऐवा शिष्यगण ले आपणा भगवद्-धर्मने अनुकूल होय) अने भक्ताणोने पाण गाणी लेवा ज्ञेईचे अर्थात् जे तेओ पाण आपाणु अतिक्रमण करे तो तेमने पाण सहन करी लेवा ज्ञेईचे. जे प्रभाववश अथवा लुवस्वभाववश शिष्य पाण अतिक्रमण करे अथवा डोई भक्त एवुं करे तो “भारो प्रारब्धभोग आज छे” ऐवी भावनाथी धैर्यपूर्वक तेमनु दुःख सहन करी लेवुं ज्ञेईचे, तेमनापर क्रोध वगेरे न करवा ज्ञेईचे. क्रोध करवाथी आमुरावेश थी सेवामां प्रतिबन्ध अने बहिर्भूता थाप छे. अने, ऐ पाण लाली लो ते, शिष्य अने भक्ताणो प्रभुसंबंध पाण आपणा द्वारा ज करवामां आवेलो छे, वणी तेमना पर क्रोध करवाथी तेमनु अनिष्ट करवा भरोभर थर्थ ल्हशे अने भगवदीयों नो ऐ स्वभाव नथी होतो के तेओ स्वकीयोनु अने भगवान द्वारा अंगीकृत ल्हवो नु अनिष्ट करे, तेथी तेमने सहनज करवा ज्ञेईचे, तेवो भाव छे। ॥ ७ ॥

और भी, असतश्च शब्द का अर्थ यह है कि, यदि नौकर भी अतिक्रमण करे तो उसे भी सहन करना चाहिए। जिस प्रकार पत्नी-पुत्र आदि हमारी देव से संबंधित होते हैं, वैसे नौकर हमारे धन से संबंधित होते हैं अतः वे भी हमारे द्वारा पोष्य ही हैं। परिवारजनों के साथ यदि नौकर भी हमारा अतिक्रमण करे तो उस दुःख को भी सहन ही कर लेना चाहिए, यह अर्थ है। ये सभी प्रतिकूल एवं धर्मविरोधी कहे गये हैं। मूल कारिका में आए ‘च’ शब्द से दुर्योगों को सहन करने में स्वधर्मानुरोधी शिष्यगण (अर्थात् ऐसे शिष्यगण जो हमारे भगवद्-

धर्म के अनुकूल हों) एवं भक्तगणों को भी गिन लेना चाहिए, अर्थात् यदि ये भी हमारा अतिक्रमण करें तो इनको भी सहन कर लेना चाहिए। यदि प्रमादवश या जीवस्वभाववश शिष्य भी अनिक्रमण करे, या कोई भक्त ऐसा करे तो “मेरा प्रारब्ध-भोग ही यही है” इस भावना से धैर्यपूर्वक उनका दुःख सहन कर लेना चाहिए, उन पर क्रोध-आदि नहीं करना चाहिए। क्रोध करने पर आसुगवेश से सेवा में प्रतिवंध एवं वहसुखता होती है। और, यह भी जानिए कि, शिष्य एवं भक्त का प्रभुसंबंध भी हमारे द्वारा ही किया गया है, पुनः उन पर क्रोध करने पर उनका अनिष्ट करना हो जायेगा और भगवदीयों का यह स्वभाव नहीं है कि वे स्वकीयों का और भगवान के द्वारा अंगीकृत जीवों का अनिष्ट करें अतः उनको सहन ही करना चाहिए, यह भाव है॥७॥

एवं सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भावाद्भावनां त्यगेन तत्कृतिक्रमसहनं निरूप्य सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भोगत्वागेपि तत्तदिन्द्रियजनितस्याभ्यास्मिकदुःखस्य सहनमाहुः स्वयमेति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाद्भूमनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

स्वयं स्वभोगार्थं इन्द्रियकार्याणि त्यजेत् सेवायां प्रतिबन्धकत्वात् । तानि च त्रिधा, कचित् कायिकानि, कचिद्वाचिकानि, कचिन् मानसानि भवन्ति । तत्यागकथयेन प्राकृतविषयांस्त्याजयित्वाऽलौकिकेषु तेषु तानि योजनीयानीति भावः । एवं सति यावत्पर्यन्तमलौकिकेषु युक्तानि भवेयुस्तावत्पर्यन्तं तत्यागजनितदुःखं भवतीति तत्सहनमुक्तिमिति द्वेष्यम् ।

आ प्रकारे भगवद् सेवाभावं प्रतिबन्धक दृष्टि पत्नी-वगेरे नो त्याग तेभज तेभना अतिक्रमण ने सहन करवृं वगेरे वस्तुओं निःपृष्ठ करीने हुवे आर्यार्थरण्डो सेवाभावं प्रतिबन्धकदृष्टि भोगनो त्याग करवानुं कही रह्यां छे तेभज ते-ते ईद्विद्योथी उत्पन्न आध्यात्मिक दुःखने सहन करवृं “स्वयम्” वगेरे शब्दोथी कही रह्यां छे.

ईद्विद्योनां कार्यं स्वयंना उपलोग भट्टे होय छे अने तेथी ते सेवाभावं प्रतिबन्धक होय छे, ते कारणे ते कार्योनो त्याग करी देवो ज्ञेयचे. ईद्विद्योनां कार्यं त्रश प्रकारानुं होय छे- कोई शरीरना कार्यं, कोई वाणीनां कार्यं तो कोई भन नां कार्यं. ऐभनो त्याग कहेवानुं तात्पर्य ए छे के, ते ईद्विद्योने प्राकृतविषयोथी त्याग करवी अलौकिक कार्योभां जेडी देवां ज्ञेयचे, तेवो भाव छे. आवुं करवाथी ज्यां सुधी ते ईद्विद्यो अथवा तेभनां कार्यो अलौकिक कार्योभां जेडाई नथी ज्यां त्यां सुधीज तेभनो त्याग करवामां दुःख अथ छे, पछी नहीं. तेथी आ दुःखने सहन करी लेवृं ज्ञेयचे, ऐभ शब्दावुं ज्ञेयचे.

इस प्रकार से भगवत्तेवा मैं प्रतिबन्धकरूप पत्नी-आदि का त्याग एवं उनके अतिक्रमण को सहना इत्यादि वरनुओं का निरूपण करके अब आचार्यरचन सेवा में प्रतिबन्धकरूप भोग का त्याग करना कह रहे हैं एवं उन-उन ईद्विद्यों से उन्पन्न आध्यात्मिक दुःख को सहन करना स्वयम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

ईद्विद्यों के कार्य स्वयं के उपभोग के लिए होते हैं अतः वे सेवा में प्रतिबन्धक होते हैं, इस कारण उनका त्याग कर देना चाहिए। ईद्विद्यों के कार्य तीन प्रकार के होते हैं, कुछ शरीर के कार्य, कुछ वाणी के कार्य तो कुछ मन के कार्य । इनका त्याग कहने का तात्पर्य यह है कि, इनका प्राकृतविषयों से त्याग करवा कर अलौकिक कार्यों में जोड़ देना चाहिए, यह भाव है। पेसा करने पर ज्य तक वे ईद्विद्याँ अथवा उनके कार्य अलौकिक कार्यों में जुड़ नहीं जाते तब तक ही उनका त्याग करने में दुःख होता है, पश्चात् नहीं। अतः इस दुःख को सहन कर लेना चाहिए, यह जानना चाहिए ।

एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिवैकिं तदाहुरश्वेणापीति । प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा विलम्बकरणे स्वापेक्षितवस्तुप्रायस्यभावात्तदुःखं सोऽुं यद्यथशूरो धैर्यरहितः, यथा दरिद्रः प्रात्यहिकभस्याभावे, तथायश्वेणापि तज्जैर्यं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः, स्वस्येति । स्वस्यासामर्थ्य भावनीयं, पूर्वोक्तुःखसहने स्वप्रपत्नोयुक्तः । भगवत्कृतविलम्बे प्रयत्न एव न, तत्करणेपि विद्वः प्रभुकृतो भवेदिति, स्वप्रयत्नसामर्थ्यत्वाभावात् । स्वस्यासामर्थ्यभावनया ‘तथैव तस्य लीलेत्य’ नुसन्धानेन धैर्यमेव कर्तव्यमितिभावः ।

आ प्रकारे आध्यात्मिक दुःखनु निःपृष्ठ करीने हुवे “अशूरेणापि” वगेरे शब्दोथी आधिदेविक दुःखनु निःपृष्ठ करी रह्यां छे. प्रारब्धलोगने कारणे अथवा प्रलु द्वारा परीक्षा करवाने कारणे ज्यापे इलाजनां विलंब थाय छे त्यापे भनगमती वस्तु प्राप्त न थायाथी दुःख थाय छे परंतु तेने सहन करवृं ज्ञेयचे. ज्ञेय निर्भूषण व्यक्ति अशूर धैर्यरहित थाय छे अने तेनाभां सहनशीलता नथी होती परंतु ज्ञेय एक दरिद्र प्रतिदिन ज्ञेयन न भणवापर पशु धैर्य रजेज छे, तेभ निर्भूषण होया छिता पाश ते दरिद्रनी ज्ञेय धैर्य राखवृं ज्ञेयचे. आवुं दुःख सहन करवानी शुं ज्ञर छे ? ते श्रीआचार्यरण्डो “स्वस्य” वगेरे शब्दोथी सभजवी रह्यां छे. एनुं तात्पर्य ए छे के एवा दुःखनी धीमी धीमी पोताना असामर्थ्यनी भावना करवी ज्ञेयचे केभेउ पिर ले दुःख-

ज्ञाताप्यां छे, तेमने सहन करवाना विषयमां तो ऐ क्षब्दं छुंज के आपले प्रथत्पूर्वक ऐ दुःखोने सहन करवां ज्ञेईये परंतु भगवान् ल्यारे वितंब करे छे त्यारे तो कोई प्रथत्पूर्वक न करवी ज्ञेईये, केम्डे ज्ञे प्रथत्पूर्वक तो प्रभुद्वारा विघ्न करवामां आवशी केम्डे भगवद्-कृपा वगर आपणा प्रथत्तोथी कोई कार्य सिद्ध थंतु नदी. आथी पोतानी असमर्थतानी भावना करता करता नवरत्नग्रंथमां कहेल “आ भद्युंज भगवान्नी लीला छे, तेम ज्ञानीने चिता शीघ्र छोडी देवी ज्ञेईये (८)” आ श्लोकनु अनुसंधान राखता वैर्धपूर्वक न रहेनु ज्ञेईये, तेवो भाव हे. ॥ ८ ॥

इस प्रकार आध्यात्मिक दुःख का निरूपण करके अब अशौषणापि इत्यादि शब्दों से आधिदैविक दुःख का निरूपण कर रहे हैं। प्रारब्धभोगो के कारण या प्रभु द्वारा परीका करने के कारण जब फलदान में विलंब होता है तब मनचाही वस्तु प्राप्त न होने के कारण दुःख होता है परंतु उसे सहन करना चाहिए। यद्यपि निर्वल व्यक्ति अशुरू शैरहित होता है और उसमें सहनशीलता नहीं होती परंतु जैसे एक दरिद्र प्रतिदिन भोजन न मिलने पर भी धैर्य रखता ही है, उसी प्रकार निर्वल होने पर भी भाँति धैर्य रखना चाहिए। ऐसा दुःख सहने की क्या आवश्यकता है? यह आचार्यचरण स्वस्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी दुःख की घडी में स्वयं के असमर्थ की भावना करनी चाहिए क्योंकि उपर जो दुःख कहे गये हैं, उनको सहन करने के संदर्भ में यह तो कहा ही था कि हमें प्रयत्नपूर्वक उन दुःखों को सहन करना चाहिए परंतु भगवान् जब विलंब करते हैं तब तो कोई प्रयत्न ही नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि प्रयत्न करें तो प्रभु द्वारा विघ्न कर दिया जायेगा क्योंकि भगवद्-कृपा के बिना हमरे प्रयत्नों से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इस कारण खुट की असमर्थता की भावना करते हुए नवरत्नग्रंथ में कहे “यह सभी मगवान की लीला है, यह मानकर चिता शीघ्र त्याग देनी चाहिए (८)” इस श्लोक का अनुसंधान रखते हुए धैर्यपूर्वक ही रहना चाहिए, यह भाव है।

ननु स्वशक्यमपि पूर्वोक्तुःखसहनमशक्यं कुतस्तरां यत्र स्वस्य सामर्थ्यमेव नास्ति तत्सहनमिति किमर्थमशक्योपदेश इत्यत आहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तम्,

सेवायां प्रवृत्तस्य विवेकपैद्यादिस्थितौ चेदशक्तिभवेत्तदा हरिरेव शरणमस्ति नान्य इति मनसि भावनीयम् । विवेकपैद्यादिप्रयत्नलकरणेपि चेदशक्तिस्तदा तदर्थं प्रभुशरणगमने दद्यात् स एव सर्वं सम्यादायिष्यतीति भावः । यतः स हरिः सर्वदुःखहर्ता, तदेवाहुः सर्वमाश्रयत इति । आश्रये कुते सर्वं सेत्यति । अशक्यमपि शक्यं भवेत् । विवेकोपि भविष्यति, धैर्यमपि भविष्यतीति भावः ।

पशु अहीं अभे शंका थाय छे के, ज्यां सामर्थ्य होय तो पशु उपर कहेल दुःखोने सहन करवा अशक्यज्ञ छे, त्यां आपणां भा तो सामर्थ्य न नदी तो आ दुःखोने सहन केवी रीते करी शक्य? तेथी आ भद्या उपदेश असंभव छे. जे आपी आरांडा होय तो तेनुं समाधान श्रीआचार्यरथराणो “अशक्य” वगेरे शब्दों द्वारा करी रह्यां छे.

जे लुप्त भगवत् सेवामां प्रवृत्त थाय छे अने जे ते विवेक-धैर्यधी रहेवामां अशक्त होय, तो तेथे मनमां “हरि ज भाङ्गे शरण छे, बीन्युं दोई नहीं” आ प्रकारे भावना करवी ज्ञेईये. लुप्त विवेक-धैर्य वगेरेना आचरणानो प्रथत्पूर्वक दुःख संपादित करशे, तेवो अर्थ छे. केम्डे तेओ हरि छे अर्थात् समस्त दुःखो ने हरि देवा वाणा छे, आज वात “सर्वाश्रयतः” वगेरे शब्दोंही कही छे. भगवान्नो आश्रय करवा पर भद्युंज सिद्ध थर्थ ब्रह्मे. असंभव पशु संभव थर्थ ब्रह्मे. विवेक पशु सिद्ध थर्थ ब्रह्मे अने धैर्य पशु, अवो अर्थ छे.

किन्तु यहां शंका यह होती है कि, जहां सामर्थ्य होने पर भी उपर्युक्त दुःखों को सहन करना अशक्य ही है, वहां हममें तो सामर्थ्य ही नहीं है तो इन दुःखों को सहन कैसे किया जा सकता है? अतः यह सभी उपदेश असंभव हैं । यदि ऐसी आशंका हो तो इसका समाधान आचार्यचरण अशक्य इत्यादि शब्दों द्वारा कर रहे हैं ।

जो जीव भगवत्सेवा में प्रवृत्त होता है और यदि वह विवेक-धैर्य आदि से रहने में अशक्त हो, तो उसे मन में “हरि ही मेरी शरण है, कोई अन्य नहीं” इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। जीव विवेक-धैर्य आदि का आचरण करने पर भी यदि अशक्त ही रहे, तब प्रभु की शरण में जाने पर वही दद्यापूर्वक सभी कुछ संपादित करेंगे, यह भाव है । क्योंकि वे हरि हैं अर्थात् समस्त दुःखों को हरने चाले हैं, यही वात सर्वमाश्रयतः इत्यादि शब्दों से कही है । भगवान का आश्रय करने पर सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा । असंभव भी संभव हो जायेगा । विवेक भी सिद्ध हो जायेगा और धैर्य भी, यह भाव है ।

यद्वा, तस्मिन्कृते सर्वं स्वशक्यं सर्वथा यद्वाक्यं च तत्सर्वं भवेदन्यथा तदभावे स्वशक्यमपि न भवेदित्यर्थः । किञ्च, प्रयत्नकरणेणि तदेव सिद्धयेन्नत्यन्यत् । निःसाधनत्वेन शरणागतौ तत्कृपया सर्वं युगदेव सिद्धयेदित्यपि ज्ञापितम् । अनेन सर्वसिद्ध्यर्थमाश्रय एव कर्तव्यो नान्यत् किञ्चिदिति निष्ठितम् । एतदबोक्तुं कृष्णाश्रये 'विवेकधैर्यभस्यादिहितस्यं' ति । एवं ऐर्यलक्षणमुक्तोपासंहारन्ति एतदिति । अत्र भक्तिमार्गो पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तं सहनस्वस्वप्तमेतत् । अतः परमाश्रयो निरूप्यते ।

अथवा, एम सभले ते तेभ्यो आश्रय करवायी आपणा भाटे ते बहुं संभव थर्थ श्वेते छे, वे असंभव छे. नहीं तो ज्ञे तेभ्यो आश्रय न होय तो आपणा द्वारा संभव वस्तु पशु सिद्ध नथी थर्थ शक्ती, ऐवो अर्थ छे. अने तेमध्य, उपना प्रयत्न करवा पर पशु कार्य तो प्रभुज्ञ सिद्ध करे छे, अन्य कोई भीजूं नहीं. निःसाधन थिएने भगवान्नी शरणागति करवा पशु भगवद्-कृपाथी तेज क्षाणे बहुं सिद्ध थर्थ ज्ञे, ते पशु कहीं रह्या छे. ऐनाथी ते ज्ञापाय छे के समस्त कार्योनी भिडि भाट भगवद्-आश्रयज्ञ करवो ज्ञेईच्छे, अन्य कुर्ह नहीं, ए निश्चित थर्थमुं. आज वात कृष्णाश्रय ग्रंथमां 'विवेक-धैर्य-भक्ति वगेऽथी रहित होपा छालां पशु कृष्णज्ञ भारो आश्रय छे (६)' आ 'ज्ञेत द्वारा कहेली छे. आ प्रकारे धैर्य नुं लक्षणा कहींने द्वं तेना उपसंहार (समाप्ति) "अतेद्" वगेरे शब्दोधी कीरी रह्या छे ज्ञेभ्यो अर्थ ए छे के, आ भक्तिमार्गां उपर कहेलां हुँ ज्ञान भल्हन कर्वुन धैर्य छे. आना पछी हुे "आश्रय" नुं निःपण करवामां आवी रह्युं छे.

अथवा, यो समझें कि उनका आश्रय करने पर हमारे लिए वह सभी कुछ संभव हो सकता है, जो असंभव है अन्यथा यदि उनका आश्रय न हो तो हमारे द्वारा संभव-वस्तु भी सिद्ध नहीं हो पाती, यह अर्थ है । और भी, जीव के प्रयत्न करने पर भी कार्यसिद्ध तो प्रभु ही करते हैं, अन्य कोई दूसरा नहीं । निःसाधन होकर भगवान की शरणागति करने पर भगवद्-कृपा से उसी क्षण सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा, यह भी बता रहे हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए भगवद्-आश्रय ही करना चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं, यह निश्चित हुआ । यही वात कृष्णाश्रयग्रंथ में 'विवेक-धैर्य-भक्ति-आदि से रहित होने पर भी कृष्ण ही मेरे आश्रय हैं (९)' इस श्लोक द्वारा कहीं गई है । इस प्रकार धैर्य के लक्षण कह कर अब उसका उपसंहार (समाप्ति) एतद् इन्द्यादि शब्दों से कर रहे हैं जिनका अर्थ यह है कि, यहाँ भक्तिमार्ग में उपर्युक्त दुःखों को सहन करना ही धैर्य है । इसके पश्चात् अब 'आश्रय' का निरूपण किया जा रहा है ।

आश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

नितरां विशेषण रूप्यते स्वस्पतः कथयत इत्यर्थः । यद्वा, यत एतद्विवेकादिकं सर्वमाश्रयं विना अशक्यमत आश्रयो निरूप्यते । यस्मिन्कृते सर्वं भवतीति प्रथमं समुदायेनाश्रयस्वरूपमाहुैहिक इति । भक्तिमार्गाङ्कीकृतस्य मेवायां प्रवृत्तस्य प्रमुसेवाव्यतिरिक्तकर्मकरणस्यास्वरूपमत्वेनैवेहिकपरलौकिकसाधनकरणाभावात् सेवायामप्यन्तरायावाहुत्येन तथात्राभावाच तदुभयमपि कथं सेत्यतीति तत्सिद्ध्यर्थं शरणमेव सर्वात्मना भावनीयं न तु सेवा विहाय किञ्चित्साधनान्तरं कार्यम् । शरणागतौ प्रभुः स्वयमेव सम्पादयिष्यत । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, स्वकीयानां निरूपयिभगवत्सम्बन्धयेषिताभावजनितदुर्खं हरिष्यत्येवेति भावः ।

"आश्रयोतो निःपृथ्यते" पद्धनो अर्थ ए छे के, हुे आश्रयने विशेषपृथ्ये स्पृष्ट कहीं रह्या छे अर्थात् अनुं स्वदृढं कहीं रह्या छे. अथवा, केम्के विवेक-वगेरे भधांज गुणो भगवद्-आश्रय वगर सिद्ध होपा असंभव छे तेथी हुे "आश्रय" नुं निःपण करवामां आवी रह्युं छे. आश्रय करवा पर बहुं सिद्ध थर्थ ज्ञय छे. तेथी सर्वप्रथम समुदाय द्वारा; (अहीं समुदायनो अर्थ "ऐहिक अने पारलोडिक" नो समुदाय तेहो छे; ऐटेके आ बने परिस्थितिओमां केवी रीते आश्रय राघवो ज्ञेईच्छे, आ टीकाकार भतावी रह्या छे) आश्रय-नुं स्वदृढं "ऐहिक" वगेरे शब्दोधी कहीं रह्या छे. भक्तिमार्गां अंगीकृत ज्यु ज्यारे भगवत् सेवायां प्रवृत्त थाय छे त्यारे प्रभुसेवा सिवाय भीज कोई कर्मानां साधन करवा तेना भाटे अस्वयमर्थ ज्ञ छे. तेना भाटे ऐहिक-पारलोडिक कार्यों भाटे साधन करवानो कोई अवकाश नथी रहेतो. अन्य साधनो करवायी सेवायां पशु धृणां भया विद्यो उपस्थित थर्थ ज्ञय छे, तेथी स्वधर्मनो निभाय थर्थ शक्तो नथी. आवी परिस्थितिओं विवेक अने धैर्य पशु केवी रीते सिद्ध थर्थ श्वेते आ बने सिद्ध करवा भाटे भधी ज रीते भगवान्नी शरणाभावना ज करवी ज्ञेईच्छे, भगवद्वसेवा छोडीने अन्य भीज साधन न करवा ज्ञेईच्छे. शरणागत थवाधी प्रभु स्वप्नं ज बहुं संपादित करवे. केम्के हरि समस्त हुँ खोने हरवायाजा छे अने स्वकीयो ने निःपृथिवी भगवद्-संबंधी (अर्थात् स्वार्थरहित भगवत्संबंधी) जे वस्तु ज्ञेईती होय छे, ते प्राम न थवाधी उत्पन्न थता हुँ ख ने हरवो ज, ऐवो भाव छे. (अर्थात् भगवद्-भक्तो ने पोतानो स्वार्थ छोडीने भगवद् संबंधी वस्तुओंनी ज कामना

थाय छे, अने जे तेमने ते भगवद् संबंधी वस्तु प्राम नथी थती तो तेमने दुःख थाय छे. टीकाकार कहे छे के, केम्के भगवान् “हरि” छे तेथी तेवा दुःखो ने पश अवश्य हरण वै, तेवो भाष छे.)

‘आश्रयतो निरूप्यते’ पद का अर्थ यह है कि, अब आश्रय को विशेषतया स्पष्ट कर रहे हैं अर्थात् उसका स्वरूप कह रहे हैं। अथवा, चौंकि ये विवेक-आदि सभी भगवद्-आश्रय के बिना सिद्ध होने असंभव हैं अतः अब “आश्रय” का निरूपण किया जा रहा है। आश्रय करने पर यसी कुछ सिद्ध हो जाता है अतः सर्वप्रथम समुदाय के द्वारा यहाँ समुदाय का अर्थ ‘ऐहिक एवं पारलौकिक’ का समुदाय है अर्थात् इन दोनों परिस्थितियों में किस प्रकार से आश्रय रखना चाहिए, यह टीकाकार बता रहे हैं आश्रय का स्वरूप ऐहिक इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भक्तिमार्ग में अगीकृत जीव जब भगवत्सेवा में प्रवृत्त होता है तब प्रभुसेवा के अतिरिक्त कुछ दूसरे कर्म के साधन करना उसके लिए अस्वधर्म ही है अतः उसके लिए ऐहिक-पारलौकिक कार्यों के लिए साधन करने का कोई अवकाश नहीं रह जाता है। अन्य साधन करने से सेवा में भी विद्वानों की बहुलता हो जाती है अतः स्वधर्म नहीं निभ पाता। ऐसी परिस्थिति में विवेक एवं धैर्य भी कैसे सिद्ध होंगे अतः इन दोनों को सिद्ध करने के लिए सभी प्रकार से भगवान् की शरणभावना ही करनी चाहिए, भगवत्सेवा को छोड़ कर अन्य दूसरे साधन नहीं करने चाहिए। शरणागत होने पर प्रभु स्वयं ही सभी कुछ संपादित करेंगे। क्योंकि हरि समस्त दुःखों को हरने वाले हैं और स्वकीयों को निरुपधि-भगवत्संबंधी अर्थात् स्वार्थरहित भगवत्संबंध जो वस्तु चाहिए होती है, वह प्राप्त न होने से उत्पन्न होने वाले दुःख को हरेंगे ही, यह भाव है। अर्थात् भगवद्-भक्तों को अपने स्वार्थ को छोड़कर भगवद्-संबंधी वस्तुओं की ही कामना होती है और यदि उन्हें वह भगवद्-संबंधी वस्तु प्राप्त नहीं होती है तो उन्हें दुःख होता है। टीकाकार कहते हैं कि, चौंकि भगवान् ‘हरि’ हैं अतः ऐसे दुःखों को भी अवश्य हरेंगे ही, यह भाव है।

एवं समुदायेनाश्रयमुक्त्वा तत्रापि प्रत्येकभेदेन विशेषत आश्रयस्वरूपमारुद्दुःखहानाविनि ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामार्थपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रेष्टे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिकमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वोक्तदेहेन्द्रियादिसम्बन्धाभिमौतिकादिदुःखहानौ धैर्येण तन्तुतचित्तोद्वेगाद्यभावार्थं शरणमेव भावनीयं, तेनैव सर्वं सेत्यतीति प्रत्येकं तत्त्वार्थं भावनीयमित्यर्थः । तथा पापे पापनिवारणे पूर्णसामायिके प्रमादाज्ञामानेच, सेवायां भगवद्विषयके देहेन्द्रियादिभगवदपरायामादिस्त्रये च तदेवोक्तां ‘महं त्वा सर्वप्रपेभ्य’ इति । न तु तर्थं प्रायश्चित्तादिकं कर्तव्यं, तत्करणे शरणधर्मो गच्छेदित्यर्थः । तथा भये राजजीवादिजनितं, पापादिविपये प्रभवपरापत्यिपये च आधिभौतिकादित्रयं सर्वत्र ज्येष्ठम् ।

आ प्रकारे ऐहिक तमेव पारलौकिक समुदाय द्वारा आश्रयने कही हींदो परंतु हये ये बंदेना लेह थी विशेष दृप्ती आश्रयनुं स्वकृप “दुःखहानौ” वगेरे शब्दोथी कही रख्या छे। (अर्थात् टीकाकार ऐभ कहेवा भागे छे के, अत्यार भुधीतो आश्रय नुं स्वकृप ऐहिक अने पारलौकिक बंदे अर्थोभां भित्र रुपे कहुं छे पशु हये अहिंसाथी आज आश्रयना स्वपुने आ बंदे अर्थोभां ऐक ऐक करीने कहेवाभां आवी रहुं छे). भगवत्सेवाभां प्रवृत्त थवावाणा भक्तिभार्गयिने उपर कहेल देह-ईद्रिय वगेरेथी संबंधित आधिलौतिक वगेरे दुःखोंने दूर कर्वा भाटे अने ते दुःखयी चित्तभां थयेला उद्ग्रंग-वगेरेने दूर कर्वा भाटे धैर्यपूर्वक भगवान्-नीज शरणभावना कर्वी लेईये। आनाथी अधूर्व रिक्त थर्ड थर्ड जशे, तेथी “देह-ईद्रिय ना प्रत्येक दार्यों ने भगवान् भाटे करी रह्या छीये” ऐवी भावना कर्वी लेईये, तेवो अर्थ छे।

आ प्रकारे पापनु निवारण कर्वा भाटे अने भगवान्नी शरणागति करता पहेला ग्रामादवश उत्पन्न थयेला पापनु निवारण कर्वा भाटे अने सेवाभां थवावाणा भगवद्-विषयक अने देह-ईद्रियो थी थवावाणा भगवद्यपराधनुं निवारण कर्वा भाटेन भगवाने “हुं तमने सभस्त पापोथी मुक्त करी दृश्या (भ. गी. १८/६५)” आ वाड्य कहेलु छे। आ अपराधीना निवारण भाटे अन्य कोई बीजुं प्रायश्चित्त न कर्वुं लेईये, आवुं कर्वाथी शरणधर्मनोज्ज लंग थर्ड जय छे। आ ज प्रकारे “भये” शब्दनुं तात्पर्य ये छे के कोई राज अथवा योरोनो भय थवा पर पश शरणभावनान् कर्वी लेईये। पोताना द्वारा करेलां पाप अवं भगवद्-अपराध ना विषयोभां सर्वत्र आधिभौतिक वगेरे त्रय प्रकारनां दुःखो थाय छे, ये जारी देखुं लेईये।

इस प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक समुदाय से आश्रय को कह दिया गया परंतु अब इन दोनों के भेद से विशेषरूप से आश्रय का स्वरूप दुःखहानौ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अर्थात् टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, अब तक तो आश्रय का स्वरूप ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों अर्थों में मिला-जुला कर कहा गया है परंतु अब यहाँ से इसी आश्रय के स्वरूप को इन दोनों अर्थों में एक-एक करके

कहा जा रहा है। भगवत्सेवा में प्रवृत्त होने वाले भक्तिमार्गीय को उपर्युक्त देह-इंद्रिय आदि से संबंधित आधिभौतिक आदि दुःखों को दूर करने के लिए एवं उस दुःख से चित में हुए उद्गेग-आदि को दूर करने के लिए धैर्यर्पूर्वक भगवान की ही शरणभावना करनी चाहिए। इसी से सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा अतः “देह-इंद्रिय के प्रत्येक कार्यों को भगवान के लिए कर रहे हैं” ऐसी भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है।

इसी प्रकार पाप का निवारण करने के लिए एवं भगवान की शरणागति करने से पहले प्रमादवश उत्पन्न हुए पाप का निवारण करने के लिए एवं सेवा में होने वाले भगवद्-विषयक और देह-इंद्रिय आदि से होने वाले भगवद्-अपराध का निवारण करने के लिए ही ‘मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा’ (भ. गी. १८/६६) यह वाक्य कहा गया है। इन अपराधों का निवारण करने के लिए अन्य कोई दूसरा प्रायशचिन्तन नहीं करना चाहिए, ऐसा करने से शरणार्थी ही भंग हो जाता है। इसी प्रकार भये शब्द का तात्पर्य यह है कि किसी राजा अथवा चोरों आदि से भय होने पर भी शरणभावना ही रहनी चाहिए। अपने द्वारा किए गये पाप एवं भगवद्-अपराध के विषयों में सर्वत्र आधिभौतिक-आदि तीन प्रकार के दुःख होते हैं, यह जान लेना चाहिए।

कामार्थपूर्णे इति । कामानामभिलाषाणां येर्थाः; पदार्थः, रेहिका भगवत्सम्बन्धिनश्च । तत्रायैहिकं द्विविधं, दैहिकमैद्रियकञ्च, तत्पूर्णे च, तत्रापि विशेषमाहुर्भक्तद्वोहे इति । प्रमादतो जीवस्वभाववशाद्भक्तस्य द्रोहो जातश्चेत् सोपराधः केनापि दूरीकर्तुं न शक्यते मर्यादावामपि, कि पुनः पुष्टिमार्गं । यथा दुर्वाससोम्बरीषविषये तथास्यापि । तथा सम्भवे शरणमेव भावनीयं नत्वन्यत् । भक्त्यभावे सेवायां प्रवृत्तस्यापि स्वरूपे स्नेहो नं जायते, तदर्थं भक्तेष्व स्वस्यातिक्रमे कृते सति, नहि भगवदीयानामयं स्वभावो यन्निमित्तं विना यस्य कस्याप्यतिक्रमं कुर्वन्ति । तत्करणे तु स्वदोषमेव विचार्य शरणं भावनीयं तदोषेनिवृत्यर्थम् ।

हुवे “कामार्थपूरूषे” शब्दनी व्याख्या करे छे. जे वस्तुतुओनी काभना अर्थात् अभिलाषा करवामां आवे छे, ते पदार्थ बे प्रकारना होय छे, ऐक लौकिक अने बीजे भगवत्संबंधी. अभां पशु लौकिक पदार्थ बे प्रकारना होय छे, ऐक हेहथी संबंधित अने बीज ईंटियोधी संबंधित; आ पदार्थोनी पूर्ति करवामां पशु हरिनीज शरणभावना करवी ज्ञेयचे. आ लौकिक अभिलाषाओमां पशु विशेष ऐक अभिलाषा “भक्तद्वोहे” वयेरे शहदोधी आचार्यरशों कही २५्यां छे. जे आपशाधी प्रमादवश अथवा तो लुप्तस्वभाववश श्री भक्ततनुं भराब थर्ई ज्यतो येवो अपराध कोईना पशु द्वारा दूर नथी थर्ई शक्तो. भर्यादाभार्यमां पशु अयो अपराध क्षम्य नथी तो पशी पुष्टिमार्गीनी वात शुं करवी ? जेवी रीते दुर्वासा अभिये राज अंभरीधनुं अनिष्ट करवानी ईश्वा. करी तो स्वयं अभेना पर विषप्ति आवी गर्इ. अने तेमने भगवाननी पासे पशु शरण न भय्यु. (दुर्वासा अने राज अंभरीष नी कथा भाष्यामा भाटे ज्युओ श्री. भा. ८/४/३५.....७१) तेवी रीते अहीं पशु समझवुं ज्ञेयचे. तेथी तेज रीते श्री भक्ततो द्रोह थर्ई ज्यता पर भगवाननी शरणभाववनाज करवी ज्ञेयचे, अन्य बीजुं कुर्ई नहीं. “लक्ष्यत्वात्” शब्दनो अर्थ ए छे के, जे आपशामां भक्ति न होय तो सेवामां प्रवृत्त थवा छातां पशु भगवद्वस्वत्प्रभां स्नेह उत्पन्न नथी थतो. तेथी भगवद्वस्वत्प्रभां स्नेह उत्पन्न करवा भाटे जे श्री भक्त आपायुं अतिक्रमण करे, तो एवे विचार करवो ज्ञेयचे के भगवदीयों नो येवो स्वभाव तो होतो नथी के तेचो विना कारण ज्ञेनुं-तेनुं अपमान करी हे. तेथी तेवामां स्वयंनेज दोष विचारीने ते दोषनी निवृत्ति भाटे शरणभावना करवी ज्ञेयचे.

अब कामार्थपूरणे शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। जिन वस्तुओं की कामना अर्थात् अभिलाषा की जाती है, वे पदार्थ दो प्रकार के होते हैं, एक लौकिक और दूसरे भगवत्संबंधी । इसमें भी लौकिक पदार्थ दो प्रकार के होते हैं, एक देह से संबंधित और दूसरे इंद्रियों से। इन पदार्थों की पूर्ति करने में भी हरि की ही शरणभावना करनी चाहिए। इन लौकिक अभिलाषाओं में भी विशेष एक अभिलाषा भक्तद्वोहे इत्यादि शब्दों से आचार्यरचण कह रहे हैं। यदि हमसे प्रमादवश अथवा तो जीवस्वभाववश क्रिया भक्त का बुरा हो जाय तो ऐसा अपराध किसी के भी द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। मर्यादामार्ग में भी ऐसा अपराध क्षम्य नहीं है तो फिर पुष्टिमार्ग की वात क्या कहनी ? जिस प्रकार दुर्वासा ऋषि ने राजा अंबरीष का अनिष्ट करना चाहा तो स्वयं उन पर विषदा आ गई और उन्हें भगवान के पास भी शरण नहीं मिली, दुर्वासाजी एवं राजा अंबरीष की कथा जानने के लिए देखें श्री. भा. ९/४/३५.....७१ उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। अतः इस प्रकार किसी भक्त का द्रोह हो जाने पर भगवान की शरणभावना ही करनी चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं। भक्त्यभावे शब्द का अर्थ यह है कि, यदि हममें भक्ति न हो तो सेवा में प्रवृत्त होने पर भी भगवद्-स्वरूप में स्नेह उत्पन्न नहीं होता है। अतः भगवद्-स्वरूप में स्नेह उत्पन्न करने के लिए यदि कोई भक्त हमारा अतिक्रमण करें, तो यह विचार करना चाहिए कि, भगवदीयों का ऐसा स्वभाव तो होता नहीं

कि वे अकारण ही जिस-किसी का आगमान कर दें । अतः ऐसे में स्वयं का ही दोष विचार करके उस दोष की निवृति के लिए शरणभावना करनी चाहिए ।

किञ्च, अशक्ये वेति । स्वस्य कर्तुमशक्ये कार्ये शरणं भावनीयम् । अशक्य इत्युक्ते शक्यत्वे स्वयमेव कार्यमिति न इत्येवं, तत्राहुः सुशक्य इति । सर्वथा शरणं हरिः । स्वस्य सुतरां शक्यमपि, तथापि शरणमेव भावनीयं, प्रभुशरणेनैवेदं सिद्धं नान्यथेति । प्रभोविवातकरणे स्वस्य सामर्थ्यभावात्स्वकृतेनाभिमानाच्छरणयमौपि गच्छेदिति सर्वात्मना तदीयत्वानुसन्धानेन शरणमेव भावनीयम् । यतः प्रभुः हरिः सर्वदुःखहर्ता अशक्यादिदुःखं हरिष्यत्प्रवेत्यर्थः । अथवा, अशक्ये भगवत्सम्बन्धिनि साधनासाथ्ये सुशक्ये साधनसाथ्ये लौकिकेति तदेव भावनीयं, न तु स्प्रयत्नः कर्तव्यः, तत्करणे शरणधर्मो नश्येदिति ॥ ११ ॥

अने “अशक्ये वा” शब्दन्ते एव अर्थं छे के, आपशा द्वारा ऐ काम संभव थतां न हेषातां होय, तेमां पशु भगवाननी शरणागति नी भावना करवी ज्ञेयेते. अहीं “सुशक्य” पदं पशु कहुं छे तेथी एम न समज्यवुं ज्ञेयेने के केवल अशक्य परिस्थिति भावं भगवाननी शरणभावना जड़री छे अने शक्य परिस्थितिमां तो स्वयं कर्ता शक्य छे परंतु सुशक्य परिस्थितिम्योभावं पशु शरणभावना राखवी आवश्यक छे. आज्ञा वात ने भताववा भटे आगण “सुशक्य” पदं पायुं छे. अनो ए अर्थं थाय छे के कोई कार्यं अशक्य होय के सुशक्य, सर्वदा हरिनी व शरणभावना आवश्यक छे. अने भलं ने कोई कार्यं करवुं आपशां भटे सरणताथी शक्य पशु होय तो पशु शरणभावना तो करवीज्ञ ज्ञेयेते, प्रभुशरणाथी व आ वहुं सिद्ध थाय छे, अन्यथा नहीं. अने ज्ञे प्रभु आपशा कोई कार्यनो विघात करी दे तो ते हुः ख सहन करवानी शक्ति आपशामां नथी होती, तेथी तेनाथी “हवे हुं व भेताना प्रयत्नोथी आ काम करीश” अवेष्टा प्रकारनुं अभिमान उत्पन्न थर्थं ज्य छे अने आपशो शरणधर्मज्ञ नष्ट थर्थं ज्य छे. तेथी सर्वं प्रकारथी भगवदीयतानुं अनुसंधान राखता राखता भगवान नी शरणभावनाज्ञ करवी ज्ञेयेते. डेम्के प्रभु हरि छे, सर्वहुः भेनुं हरण करवा वाणा छे तेथी अशक्यता ज्वेवा हुः खोने हरशेज्ञ, अवो अर्थं छे. अथवा “अशक्य” पदं नो अवो अर्थं करी लर्थेते, लग्बद्-संबंधी साधन प्राप्त न थवा पर; अने “सुशक्य” पदनो अवो अर्थं करी लर्थेते, लौकिकमां साधन प्राप्त थवां छतां पशु; आ भने परिस्थितिम्योभावं भगवाननीज शरणभावना करवी जड़री छे, आपशो प्रयत्न न करवी ज्ञेयेते डेम्के अवुं करवाथी शरणधर्मनो भंग थर्थं ज्य छे ॥ ११ ॥

और, अशक्ये वा पद का यह अर्थ है कि, हमारे द्वारा जो कार्य संभव होते न दिखाई देते हों, उनमें भी भगवान की शरणभावना करनी चाहिए । यहों सुशक्य पदं भी कहा गया है, अतः यह नहीं समझ लेना चाहिए कि, केवल अशक्य परिस्थिति में ही भगवान की शरणभावना आवश्यक है और शक्य परिस्थिति में तो स्वयं किया जा सकता है परंतु सुशक्य परिस्थितियों में भी शरणभावना रखनी आवश्यक है । इसी वात को बताने के लिए आगे सुशक्य पद विद्या गया है । इसका ये अर्थ बनता है कि कोई कार्यं अशक्य हो या सुशक्य, सर्वदा हारि की ही शरणभावना आवश्यक है । हम भले ही किसी कार्य को करने शक्य भी हों, तथापि शरणभावना तो करनी ही चाहिए, प्रभुशरण में ही यह सभी कुछ सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं । और यदि प्रभु हमारे किसी कार्य का विघात कर दें तो उस दुःख को सहन करने की समर्थ्य हमारे नहीं होती अतः इससे ‘अब मैं ही अपने प्रयत्नों से करूँगा’ इस प्रकार का अभिमान पैदा हो जाता है और हमारा शरणधर्म ही नष्ट हो जाता है । अतः सभी प्रकार से भगवदीयता का अनुसंधान रखते हुए भगवान की शरणभावना ही करनी चाहिए । क्योंकि प्रभु हरि हैं, सर्वदुःखों का हण करने वाले हैं अतः अशक्यता जैसे दुःखों को हरोगे ही, यह अर्थ है । अथवा अशक्य पद का यह अर्थ कर ले कि, भगवद्-संबंधी साधन प्राप्त न होने पर; एवं सुशक्य पद का यह अर्थ कर ले कि, लौकिक में साधन प्राप्त होने पर भी; इन दोनों परिस्थितियों में भगवान की ही शरणभावना आवश्यक है, हमें प्रयत्न नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर शरणधर्म भंग हो जाता है ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेनास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

किञ्च, अहङ्कारकृते चैव जीवस्वभाववशात्केनापि उदासीनेन भक्तेन च सहाहङ्कारः कृतस्तदा तेनासुरावेशो भवत्येवेति, पश्चाद्विवेके जाते पश्चात्तापो जायते मयाऽसमीकीनं कृतमिति, तदोपरिहारार्थं शरणमेव भावनीयम् । यद्वा, प्रभुकृपाभरणं प्रौढवा प्रभुणा सहैवाहङ्कारः कृतस्तदा परिहार्य तदेव भावनीयम् । किञ्च, पोष्याणां पोषणं रक्षणं च, तत्करणेषि तदेव भावनीयं, न तु प्रयत्नः कार्यः ।

हवे “अहंकार इते चैव” वगेरे शब्दोनी व्याख्या करी रहयां छे. आ पंक्तिनो अर्थ एे छे के जे कोई भगवद्धर्ममां उदासीन व्यक्ति शूष्टव्यभाववश कोई भक्तनी साथे अहंकार करे छे तो ते अहंकार थी ऐनामां आसुरावेश उत्पन्न थई जय छे. आना पछी ज्यापे तेनामां विवेक लग्युत थाप छे त्यारे तेने “आ मे बरोभर नथी कर्तु” अवो पश्चात्ताप उत्पन्न थाप छे. ते दोप ने दूर करवा भाटे भगवाननीज शरणभावना करवी ज्ञेठ्ये. अथवा एवो अर्थ करी लर्हये के प्रभुनी अनिदृपा थई जय अने अनि प्रगाढ भावधी भक्त प्रभुनी साधेण अहंकार करी नापे, त्यारे पाण ते दोप ने दूर करवा भाटे भगवाननीज शरणभावना करवी ज्ञेठ्ये. अने तेमध, ज्यारे आपापे परिवारजनोनुं पालनपोषण करीने, त्यारे पाण भगवाननीज शरणभावना करवी ज्ञेठ्ये. अन्य व्रतन न करवो ज्ञेठ्ये.

अब अहंकारकृते चैव इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि यदि कोई भगवद्-धर्म में उदासीन व्यक्ति जीवस्यभाववश किसी भक्त के साथ अहंकार करता है तो उस अहंकार से उसमें आसुरावेश उत्पन्न हो जाता है। इसके पश्चात् जब उसमें विवेक जागृत होता है तब उसे “यह मैंने उचित नहीं किया” इस प्रकार का पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। उस दोष को दूर करने के लिए भगवान की ही शरणभावना करनी चाहिए। अथवा यों अर्थ कर ते कि प्रभु की अतिकृपा हो जाय और अति प्रगाढ भाव से भक्त प्रभु के साथ ही अहंकार कर वैठे, तब भी उस दोष को दूर करने के लिए भगवान की ही शरणभावना करनी चाहिए। और भी, जब हम परिवारजनों का पालनपोषण करें, तब भी भगवान की ही शरणभावना करनी चाहिए, हमें प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

पोष्यातिक्रमणे चैव। पोष्यादीनां भार्यादीनां चकारादन्येषां बन्धुदासर्पन्तानामप्यतिक्रमे, तथान्तेवासी स्वशिष्यसत्कृतेप्यतिक्रमे शरणमेव भावनीयं, न तु क्रोधादिकम्, तन्करणे आसुरावेशसम्भवात्। किञ्च, तुपारि स्वस्य क्रोधकरणे शिष्यस्यानिष्ट भवन्त् इति सुकृतिनां नायं स्वभावो यददीकृतं त्यजन्तीति। तम्य दण्डादिकं प्रभुरेव करियतीति तत्राभिमानेन न स्वर्गमहानिः कार्येति भावः ॥ १२ ॥

हवे “‘पोष्यतिक्रमणे चैव’” वगेरे शब्दोनी व्याख्या आप करी रह्या छे. जे पत्नी वगेरे परिवारजनो नुं पोषण करी रह्या छीने, तेयो आपाशु जे अपमान करे, अने “‘च’” शब्दथी आपाशु जे भाई-भंधु, सेवक वगेरे पाण जे आपाशु अपमानित करे, अथवा वजी आपाशु अन्तेवासीशिष्य पाण आपाशु अपमान करे (अन्तेवासी तेमने कलेवाय छे के जे आपाशु धरमां आपाशी निकट रहेता होय. प्राचीन सम्भवां अध्ययन हेतु शिष्य पोताना गुड्जनो ना आश्रममां रहेता हता. तेज शिष्यो ‘अन्तेवासी’ कहेवाता हता) त्यारे पाण वैष्यपूर्वक भगवाननीज शरणभावना करवी ज्ञेठ्ये. तेमना पर २० छोध-वगेरे न करवा ज्ञेठ्ये, एवं करवाथी आसुरावेश थाप छे. अने तेमध, तेमना पर क्रोध करवाथी शिष्यनुं अनिष्ट थाप छे अने सज्जनोनो अ स्वभाव नथी होतो के ब्येने अपनावे तेनो त्याग करी है. तेमने ६५ वगेरे प्रभुज आपाशो तेथी अभिमान करीने स्वर्गम लंग न करवो ज्ञेठ्ये, एवो भाव छे ॥ १२ ॥

अब पोष्यातिक्रमणे चैव इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। हम जिन पत्नी-आदि परिवारजनों का पोषण कर रहे हैं यदि वे हमारा अपमान करें, और ‘च’ शब्द से जो हमारे भाई-बंधु, सेवक आदि भी यदि हमें अपमानित करें; या फिर हमारे अन्तेवासी शिष्य भी हमारा अपमान करे अन्तेवासी उसे कहते हैं जो हमारे घर में हमारे निकट रहता है। प्राचीन समय में अध्ययन हेतु शिष्य अपने गुरुजनों के आश्रम में रहा करते थे। उहीं शिष्यों को ‘अन्तेवासी’ कहा जाता था तब भी वैष्यपूर्वक भगवान की ही शरणभावना करनी चाहिए। उन पर क्रोध-आदि नहीं करना चाहिए, ऐसा करने पर आसुरावेश आ जाता है। और भी, उन पर क्रोध करने से शिष्य का अनिष्ट होता है अतः सज्जनों का यह स्वभाव नहीं होता है कि जिन्हे अपना लिया है उसका त्याग कर दें। उहें दंड-आदि भी प्रभु ही दे देंगे अतः अभिमान करने स्वर्गम भंग नहीं करना चाहिए, यह भाव है ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतानां चित्तादीनामध्यासनिवृत्तिरतिकिना, तदभावे सर्वमेव कठिनमिति चेत्तत्राहुरलौकिकेति ।

अलौकिकमनः सिद्धौ सर्वर्थे शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं बाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

मन इत्युपलक्षणम् । किन्तु सर्वेषां देहन्दिव्यादीनां प्राकृतांशनिवृत्या यथा अलौकिकत्वं भवति तत्सिद्धौ तदनन्तरं सर्वार्थेऽलौकिकिकसकलपदार्थसम्पत्यर्थमपि हरिरेव शरणं भावनीयो नान्यत्, तदेवाहुरेवमिति । एवं प्रकारेण चित्ते ज्ञानस्त्वे, न तु जटे, मदा निग्नन्तरं भावना कार्या । अथ च बाचापि परितः कीर्तयेभिरनन्तरं मुखेन कथयेदित्यर्थः ।

हये अहीं एक शंका थाय छे के, लौटिक ज्ञवेना चित्त वर्गेना अध्यास नी निवृत्ति थवीं तो धार्षी कठिन होय छे (अध्यास नो अर्थ थाय छे “भ्रम”। ज्ञवरे ज्ञव पोताना चित्त पर अने पोताना शरीर पर अने भौतिक वस्तुओं पर भगवाननी सत्ताने भुलावीने भ्रमवश पोतानी सत्ता मानी ले छे, तो तेने “अध्यास” कहे छे।) अने जे आ अध्यासोनी निवृत्ति न थाय तो बधुं भुक्तेल थर्थ ज्य छे तेथी अनुं समाधान “अलौडिक” वर्गे शज्हो थी आस्थायरणों करी रह्यां छे।

अहीं भू॒ष्म॑लो॒डिकों कहेवुं मन तो उपलक्षणा भाव छे (जे वस्तु ना सकेत द्वारा कोई बीजू वस्तु भतावपामां आवी रही होय, ते सकेत वस्तुने उपलक्षण कहे छे। ज्ञेभ दूर कोई भकान्ने भतावपामा भाटे कोई छाड पर ऐसेता कागडानी दिशा नो सहारो लहिने ते भकान भतावपामां आवे, तो कागडो उपलक्षण थयो। आ प्रकारे अहीं मन तो उपलक्षण भाव छे, मननी साथे-साथे बीजू इंद्रियोनी तरफ पशु सकेत करवामां आवी रहो छे, तेवो अर्थ छे।) वर्णी केवण मन व नहीं पशु समस्त देह-इंद्रियोनी लौडिकता निवृत्त थर्थिने जे प्रकारे अलौडिकता थर्थ ज्य, ते अलौडिकता प्राप्त कर्था पछी समस्त अलौडिक पदार्थोने भाटे हरिनी शरणभावना ज करवी लेईचे, अन्य भीजा कोईनी नहीं। आ वात ने “ऐवं” वर्गे शज्होथी कहेवामां आवी रही छे। अर्थात् आ प्रकारे ज्ञानवान चित्तमां सदा, निरंतर हरिनी शरणभावना करवी लेईचे, ज्ञज्बुद्धिथी नहीं। अने, वाणी द्वारा पशु निरंतर प्रभुनुं कीर्तन करवुं लेईचे। अर्थात् निरंतर मुख्यी प्रभुनुं गुणगान कहेवुं लेईचे, ऐवो अर्थ छे।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, लौकिक जीवों के चित्त-आदि के अध्यास की निवृत्ति होनी तो अति कठिन होती है। अध्यास का अर्थ होता है ‘‘भ्रम’’। जब जीवं अपने चित्त पर और अपनी देह पर और भौतिक वस्तुओं पर भगवान की सत्ता को भुला कर भ्रमवश स्वयं की सत्ता मान लेता है, तो उसे ‘‘अध्यास’’ कहते हैं। और यदि इन अध्यासों की निवृत्ति न हो तो सभी कुछ कठिन हो जाता है अतः इसका समाधान अलौकिक इत्यादि शब्दों से दिया जा रहा है।

यहाँ मूलश्लोक में कहा गया मन तो उपलक्षण मात्र है। जिस वस्तु के सकेत द्वारा कोई दूसरी वस्तु बताई जा रही हो, उस सकेतवस्तु को उपलक्षण कहते हैं। जैसे दूर किसी एक मकान को बताने के लिए किसी पेड़ पर बैठे कौए की सीध का सहारा लेकर उस मकान को बताया जाय, तो कौआ उपलक्षण हुआ। इसी प्रकार यहाँ मन तो उपलक्षण मात्र है, मन के संग-संग अन्य दूसरी इंद्रियों की ओर भी सकेत किया जा रहा है, यह अर्थ है। किंतु केवल मन ही नहीं अपितु समस्त देह-इंद्रियों की लौकिकता निवृत्त होकर जिस प्रकार अलौकिकता हो जाय, वह अलौकिकता प्राप्त करने के पश्चात् समस्त अलौकिक पदार्थों के लिए हरी की शरणभावना ही करनी चाहिए, अन्य किसी दूसरे की नहीं। इसी बात को एवं इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है। अर्थात् इस प्रकार के ज्ञानवान चित्त में सदा, निरंतर हरि की शरणभावना करनी चाहिए, ज्ञज्बुद्धि से नहीं। और, वाणी द्वारा भी भतीभाँति प्रभु का कीर्तन करना चाहिए अर्थात् निरंतर मुख से प्रभु-गुणगान कहना चाहिए, यह अर्थ है।

क्षणमात्राकथने तदैवासुरभावप्रवेशः स्यादित्युक्तं सदेति । चित्तस्य ज्ञानस्तपत्वाभावेषि कीर्तनमस्यावश्यकमिति कीर्तनमुक्तम् । एतदेवोक्तं नवरत्ने 'तस्मात्सर्वात्मने' त्यावा 'न्तःकरणे तथाभावेऽत्थाभावे बा बदनामावश्यकमिति' ति । यद्वा, चक्रारात् कायेन सेवापि कर्तव्या, मनसा भावना, वाचा कीर्तनमिति त्रिविधापि प्रपत्तिर्निरूपिता । एवं सति सर्वमेव पूर्वोक्तं शक्यं भविष्यतीति भावः ॥ १३ ॥

“सदा” कहेवानो अर्थ ऐ छे के क्षणमात्र भाटे पशु प्रभुनाम धूटी ज्य तो तेज क्षणे आसुरभाव प्रविष्ट थर्थ ज्य छे। चित्तमां भगवद्-धर्म नुं शान उपत्पन्न न पशु होय, तो पशु ज्ञवे तेभनुं कीर्तन करवुं ज़री छे, तेथी कीर्तन करवानुं कह्यु छे। आज वात नपरत्नयंथ ना। “तस्मात् सर्वात्मना (६)”, आ लोक ना विवरणामां प्रभुयरणोये “अन्तःकरण मां अभुनी शरणागति नो भाव होय, अष्टाक्षर बोलता रहेवुं तो ज़री छे” आ वाक्य द्वारा कही छे। अथवा भूतपंक्ति मां आवेला “चक्रार” द्वारा ऐवो अर्थ करी शकाय के शरीरथी प्रभुसेवा, मनथी अभमनी शरणभावना अने वाणी द्वारा तेभनुं कीर्तन, आम त्रण प्रकारनी शरणागति करवाथी पहेला कहेली समस्त वातो संख्य थर्थ ज्ञेव, ऐवो भाव छे। ॥ १३ ॥

सदा कहने का अर्थ यह है कि क्षणमात्र के लिए भी प्रभुनाम छूट जाय तो उसी क्षण आसुरभाव प्रविष्ट हो जाता है। चित्त में भगवद्-धर्म का ज्ञान उत्पन्न न भी हुआ हो, तब भी जीव को उनका कीर्तन तो आवश्यक है ही अतः कीर्तन करना कहा गया है। यही बात नवरत्नग्रंथ के ‘‘तस्मात् सर्वात्मना (१)’’ इस श्लोक के विवरण में प्रमुचरणों ने “अन्तःकरण में प्रभु की शरणागति का भाव हो या न हो, अष्टाक्षर बोलते रहना तो आवश्यक है” इस वाक्य द्वारा कही है। अथवा मूलपंक्ति में आए ‘‘चक्रार’’ द्वारा यों अर्थ कर लें कि शरीर से प्रभु-सेवा, मन से

उनकी शशंभावना एवं वार्णी द्वारा उनका कीर्तन, इस तरह तीन प्रकार की शशणगति निरूपित की गई है। इस प्रकार की शशणगति करने पर पूर्व में कही समस्त बातें संभव हो जायेंगी, यह भाव है ॥ १३ ॥

नन्देवमपि सति महत्यशक्य एवार्थे हरिः शरणं भावनीयः स्वशक्यार्थे भगवति भारः किमर्थं देय इति तदर्थं देवान्तरभजनं चेत् कुर्यात्त्राहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना: कार्यमात्रेषि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य देवान्तरस्य भजनं स्वतस्तदर्थगमनमपि वर्जयेन्न कुर्यात् । चक्रारादन्यप्रेरणापि तत्र न गच्छेत् । यदि न वर्जयेत्तदा शशणपदार्थो गच्छेदित्यर्थः । इदमेवोक्तं ‘न्यासादेवोप॑’इत्यत्र ‘मदितभजनापैश्चणमि’ति । ननु प्रभौ प्रार्थनाया अनुचितत्वात् कदाचित्प्रादाधर्पिक्षायां देवान्तरादौ प्रार्थना मात्रं कुर्यात् तु भजनगमनादिकं तत्राहुः प्रार्थना इति । यथा अन्यस्य भजनगमनादिकं न कुर्यात्तथा कार्यमात्रे महति स्वल्पिणी वा प्रार्थना अपि विवर्जयेत् । विशेषणं सर्वथा न कुर्यात्, कापि प्रार्थना न कार्येति बहुवचनमुक्तम् ।

छतांपशु अहीं ऐक शंका एव थाय छे के, उचित तो ऐब छे के आपशाा भाटे ज्वे अन्यतंत्र असंभव कार्य होय तेना भाटेज्व लुरिनी शशंभावना करीअे पशु ज्वे काम आपशाा द्वारा पशु संभव थर्थ शके छे, तेवा कार्यो भाटे केम व्यर्थमां भगवान् पर भार आपयो ? एवा कार्यो भाटे तो अन्य देवताओ ना भजन द्वारा पशु काम चलावी रकाय छे. ज्वे आवी शंका होय तो आचार्यरथराशो हुए “अन्यस्य” वगेरे शभटीरकण करी रह्यां छे.

अन्य देवताओनुं भजन, तेमन्ज सामे चालीने तेमनी पासे ज्वन्, आ बधुंज वर्जित करी हेवुं लोईअे अथर्तु तेवुं न करवुं लोईअे. अने ‘च’ शब्दधी ए पशु समजवुं लोईअे के कदाच कोई भीजुं त्यां ज्वा भाटे प्रेरित करे, तो पशु न ज्वन् लोईअे. ज्वे अेवुं नहीं करीअे तो शशंधर्भनो लंग थर्थ रहो, तेवा अर्थ छे. आज वात न्यासादेशशंथना “भारा (श्रीकृष्ण) विना भीज कोई नुं भजन करवुं अथवा अपेक्षा राखवी निषिद्ध छे (१)” आ वाक्य द्वारा कडेल छे. परंतु प्रश्न ए थाय छे के, चालो भानी लक्ष्ये के आपशाा प्रभुने प्रार्थना करवी अनुचित छे अने अन्य देवताओ नुं भजन भले न करवामां आपे पशु तेमने प्रार्थना ज्व करी लेवामां आवे तो शुं कोई हानि छे ? तो ज्वेनुं समाधान “प्रार्थना” वगेरे शभटीधी करी रह्यां छे. अहीं एम समजवुं लोईअे के, ज्वेअन्य देवताओनुं भजन न करवुं लोईअे अथवा तेमनी पासे न ज्वन् लोईअे, तेवी रीते तुच्छ कार्य भाटे का तो कोई भोटा कार्य भाटे पशु तेमने प्रार्थना न करवी लोईअे. अहीं ध्यानमां राखवुं के भूमि करिकामां “विवर्जयेत्” पदमां “वि” उपसर्गं प्रयुक्त थयो छे, ज्वेनो अर्थ ए छे के प्रार्थना तो सर्वथा न करवी लोईअे. अने, प्रार्थना शब्द पशु अहीं बहुवचनमां वपरयो छे, ज्वेनो अर्थ छे “प्रार्थनाओ” । एटेले तात्पर्य ए थवुं के कोई पशु प्रकाशनी प्रार्थना न करवी लोईअे.

तथापि यहाँ एक शंका यह होती है कि, उचित तो यही रहेगा कि जो हमारे लिए अल्पतं असंभव कार्य हो तेवल उहीं के लिए हरि की शशंभावना करें किंतु जो कार्य हमारे द्वारा भी संभव हो सकते हों, ऐसे कार्यों के लिए क्यों व्यर्थ में भगवान् पर भार देना ? ऐसे कार्यों के लिए तो अन्य देवताओं के भजन-द्वारा भी काम चलाया जा सकता है । यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यवचन अब अन्यस्य इत्यादि शब्दों से स्पष्टीकरण कर रहे हैं ।

अन्य देवताओं का भजन एवं स्वयं चला कर उनके पास जाना, ये सभी कुछ वर्जित कर देना चाहिए अर्थात् ऐसा नहीं करना चाहिए । और ‘च’ शब्द से यह भी समझना चाहिए कि यदि कोई दूसरा वहाँ जाने को प्रेरित करे, तब भी नहीं जाना चाहिए । यदि ऐसा नहीं करेंगे तो शशंधर्म भंग हो जायेगा, यह अर्थ है । यही वात न्यासादेशशंथ के “मेरे श्रीकृष्ण बिना किसी अन्य का भजन करना अथवा अपेक्षा रखनी निषिद्ध है” (१) इस वाक्य द्वारा कही गई है । किंतु प्रश्न यह उठता है कि, चलो मान लें कि अपने प्रभु से कोई प्रार्थना करनी अनुचित है और अन्य देवताओं का भजन भले ही न किया जाय पर उनसे प्रार्थना ही कर ली जाय तो क्या कोई हानि है ? तो इसका समाधान प्रार्थना: इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । यहाँ यह समझना चाहिए कि, जैसे अन्य देवताओं का भजन नहीं करना चाहिए या उनके पास नहीं जाना चाहिए, वैसे ही तुच्छ कार्य के लिए या बड़े कार्य के लिए भी उनसे प्रार्थना नहीं करनी चाहिए । यहाँ ध्यान दें कि मूल कारिका में ‘विवर्जयेत्’ पद में त्रिं उपसर्गं प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ यह है कि प्रार्थना तो सर्वथा नहीं करनी चाहिए । और, प्रार्थना शब्द भी यहाँ वहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है ‘प्रार्थनाएँ’ । अर्थात् नात्पर्य यह हुआ कि किसी भी प्रकार की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए ।

★ अत्र केचन पूर्वपंशं कुर्वन्ति, प्रार्थनारहिता न केपीति, यतो लौकिकं पारमार्थिकं वा सर्वेषां प्रार्थनीयमस्ति । परमविरक्ता अपि पारमार्थिकं प्रार्थयन्त्येव । केचन मुत्त्यादिमपि न बाच्छन्ति, तथापि भगवत्परारबिन्दनुरागरूपां भक्तिं प्रार्थयन्त्येव । ते तु तादृष्टम् त्यत्यनन्तरं किमपि न प्रार्थयन्तीति चेत्तदात्यन्तं परमप्रेमासक्तिव्यसनवन्तो ब्रजवासिनसते तु स्थले स्थले प्रार्थितवन्तः । अन्ये तु मुत्त्यादिकं प्रार्थयन्ति । ब्रजवासिनान्तु दावानलशुद्धयादिजनितलौकिकप्रार्थना तिष्ठतीति तद्रहितभक्तजनाभावात् प्रार्थनानियेभः कथं क्रियते ?

अहीं कोई पूर्वपक्षी ऐ वात भां संदेह करे छे के, प्रार्थना रहित तो कोई होतुं वज नथी केम्हे लौडिक दे अलौडिक, बधा कथ्यो भाटे प्रार्थना तो करवामां आवे वज छे । परम विरक्त व्यक्तिं पाण अलौडिक भाटे प्रार्थना तो करेव छे. कोई व्यक्तिं मुक्तिं वगेरे भसे न भांगता होय छितां पाण भगवत्-चरणारविंही अनुरागरूपा भक्तिनी प्रार्थना तो करेव छे. तेओ ऐ पाण कहे छे के- जे तमे एम कहो के अेवी अनुरागरूपा भक्ति प्राप्त थया भधी तेओ कोई पाण प्रार्थना नथी करता, तो जुओ, अत्यंत प्रेमासक्त तथा व्यसनी व्रजवासीओऐ तो जग्या जग्या पर प्रार्थना करी छे. तेमनाथी अलग बीजलओऐ तो मुक्तिं वगेरेनी प्रार्थना करी छे परंतु व्रजवासीओऐ तो दावानलना भयथी, भूभने कराणे अने वर्षाना भयथी प्रभुने प्रार्थना करी छे. तेथी प्रार्थना थी. रहित कोई भक्तजन छेव नहीं तो आप प्रार्थना नो निषेध डेम करो छे ?

यहाँ कोई पूर्वपक्षी इस बात में संदेह करते हैं । वे कहते हैं कि, प्रार्थनारहित तो कोई होता ही नहीं क्योंकि लौकिक या अलौकिक, सभी कार्यों के लिए प्रार्थना तो की ही जाती है । परम विरक्त व्यक्ति भी अलौकिक के लिए तो प्रार्थना करते ही हैं । कुछ व्यक्ति मुक्ति-आदि भले ही न मांगते हों तथापि भगवत्-चरणारविंद की अनुरागरूपा भक्ति की प्रार्थना तो करते ही हैं । वे यह भी कहते हैं कि,- यदि आप ऐसा कहें कि ऐसी अनुरागरूपा भक्ति प्राप्त हो जाने के पश्चात् वे कोई भी प्रार्थना नहीं करते- तो देखिए, अत्यंत प्रेमासक्त एवं व्यसनी व्रजवासियों ने तो जगह-जगह प्रार्थना की है । इनसे भिन्न अन्यों ने तो मुक्ति-आदि की प्रार्थना की है परंतु व्रजवासियों ने तो दावानल के भय से, भूख के कारण एवं वर्षा के भय से प्रभु से प्रार्थना की है । अतः प्रार्थना से रहित ऐसे कोई भक्तजन हैं ही नहीं तो फिर आप प्रार्थना का निषेध करों कर रहे हैं ?

तत्रोच्यते । रे दुर्विदग्ध ! सन्दिग्धतयैव विदर्घमन्योसि, यतो यद्विहादीनां मनसाप्याकलयितुं न शर्वं तत्स्वरूपे ये सुमिनाग्धः प्रेमासक्तिव्यसनिनः येषां तद्यतिरिक्तं लौकिकं पारमार्थिकं वा न किञ्चनास्ति । तेषां लौकिकनिमित्प्रार्थनादिकं ब्रवीपि । यदि वदसि श्रीशुक्रूरकं, तत्रोच्यते । एतत्स्वरूपानभिङ्गः ? स्वरूपनिष्ठः सन् शृणु । येषां तदन्तराये त्रुटिर्युगायते तेषां तदन्तरायस्यासहिष्णुत्वात् स्वानिष्ठे सम्पन्ने संभवतीति प्रार्थनं व्यसनस्वभावेन न तु स्वनिष्ठ भवतीति कुतो लौकिकनिमित्प्रार्थनसम्भावनापि ।

तो सांभणो, अभे तेनु सभाधान कहीं छीअे. अभे भगेली भुद्धियाणा ! संदेह थी ताङ्गे भन भणी थ्यक्कुं छे. केम्हे जे स्वदृप्तिनुं भ्रश्याहि देवता पाण आकलन नथी करी शक्ता अेवा भगवद्-स्वदृप्तना आ प्रजवासीओ प्रेमी छे अने प्रेमासक्तिव्यसन दशाने प्राप्त थर्थ गया छे. जेमना भाटे भगवान वगर लौडिक अथवा अलौडिक कांइ पाण नथी, तेमनी प्रार्थना ने तु लौडिक प्रार्थना कही रहो छे ? जे तु अभे कही रहो छे के अेवुं श्रीशुक्रदेवलुअे कहुं छे तो सांभण, अभे अेनो ज्वाल आपी रहा छीअे. व्रजभक्तोना आवा स्वदृप्ती अन्ताण ! प्रजभक्तोना स्वदृप्तमां निष्ठ थर्थ अभारी वात सांभण. जे व्रजवासीओ अभगवद्-प्राप्तिभां अंतराय आपी ज्वाली क्षाणभर पाण युग्मी लेम प्रतीत थाय छे (जुओ श्री. भा. १०/१८/१६ अने १०/३१/१५) आवा व्रजवासीओ भ्रुभुनो अंतराय असहनीय छे केम्हे प्रभुदृशनं न प्राप्त थवाथी तेमनुं अनिष्ठ थंतु हुं तु. तेथी तेमनी ते प्रार्थना अभना व्यसन स्वभावने कराणे छे, प्रार्थना करवी तेमनो स्वभाव नथी. हवे अहीं कोई लौडिक कार्य ना निभिते प्रार्थना नी संभावना वज क्यां छे ?

तो सुनिए, हम इसका समाधान कह रहे हैं । अरे जली हुई बुद्धिवाले ! संदेह से ही तेरा मन जल चुका है । क्योंकि जिस स्वरूप का ब्रह्मादि देवता भी आंकलन नहीं कर सकते, ऐसे भगवद्-स्वरूप के ब्रजवासी सनेही हैं एवं प्रेमासक्तिव्यसनदशा को प्राप्त हो गये हैं । जिन के लिए भगवान के दिना लौकिक अथवा अलौकिक कुछ भी नहीं है, उनकी प्रार्थना को तू लौकिकप्रार्थना कह रहा है ? यदि तू ये कह रहा है कि ऐसा शुक्रदेवजी ने कहा है तो सुन, हम इसका उत्तर दे रहे हैं । ब्रजभक्तों के ऐसे स्वरूप से अनभिज्ञ ! ब्रजभक्तों के स्वरूप में निष्ठ होकर हमारी बात सुन । जिन ब्रजवासियों को भगवद्-प्राप्ति में अंतराय आ जाने से क्षण भर भी युग की भाँति प्रतीत होता है (देखें

★ अम् पूर्वपक्षोत्तरे समुपलभ्येतु प्राचीनेतु नवसु पुस्तकेषु नस्तः । अर्बाचीनपुस्तकद्वये वर्तते । अतः केनाप्याधुनिकेन विदुषा प्रक्षिप्ते ते स्याताम् ।

श्री. भा. १०/१९/१६) एवं (श्री. भा. १०/३१/१५) ऐसे ब्रजवासियों को प्रभु का अंतराय असहनीय है क्योंकि प्रभुदर्शन प्राप्त न होने से उनका अनिष्ट होता था। अतः उनकी वह प्रार्थना उनके व्यसनस्वभाव के कारण है, प्रार्थना करना उनका स्वभाव नहीं है। अब यहाँ किसी लौकिक कार्य के निमित्त प्रार्थना की संभावना भी कहाँ है?

यथापि तादृशानां मध्ये अनिष्टं न सम्भवति, तथापि तत्र क्रीडासावेशन यत्किञ्चिदपि प्रभौ स्वसाम्याधिक्यज्ञाने तत्त्विरोधार्थं प्रभुणैव क्रियत इति ज्ञेयम् । अन्यथा तत्त्विरोधो विशेषप्रसानुवच्च न भवेत् । एतेव दावानलप्रस्तावे गोणेषु भगवति लौकिकभावेन स्वसाम्येव क्रीडासक्तेषु, गोषु च तृणलोभेन भगवन्तं विस्मृत्यं बनगढ़नं प्रविष्टासु प्रपत्तिहीनैः सह भगवत्क्रीडा न भवतीति तत्त्विरोधार्थं प्रभुणैव बनाश्रित्यापितः । अन्यथा तादृशप्रभुक्रीडायां विष्वकरणे कः समर्थः । अत एव तत्प्रपत्यनन्तरमेव तस्य या शान्तिः कृता सापि प्रभुणैव कृता न तु साधनैः । तत्केवलं स्वीयत्वं ज्ञापनाय, इतरसम्बन्धे स्वीयत्वाभावात् ।

ज्ञेऽपि एवा तादृशीज्ञनोने कोई अनिष्ट होवानी संभावना न थी होती छांतां तेमनुं ले कांઈ पाण अनिष्ट थतुं देखाई आवे छे, ते ऐना भट्टे के भगवान्नी साथे क्रीडा करता करता भावावेशने कारणे तेमणे थोडा धांधा पाण पोताने प्रभुनी समान मानी लीघेता अने अहंकार करी नाखेलो, तेने दूर करवा भट्टे अने खोताना स्वतुपमां तेमोनो निरोध करवा भट्टे प्रभुणेज्ज तेमनामां प्रार्थनानी प्रवृत्ति उत्पन्न करी हती, आ जाणी लेवुं ज्ञेऽपि. अन्यथा न तो ऐमनो निरोध सिद्ध थतो अने न तो तेमने प्रभुना विशेष रस नो अनुभव थतो। दावानण ना प्रसंगमां पाण एज्ज थयुं के गोपोच्चे भगवान साथे क्रीडा करता करता तेमनामां लौकिकभाव राखीने तेमने खोतानी समानज्ज-समझ लीधा अने गायो चारा ना लोकमां भगवान्नने भूलीने गव्हरवनमां याती गष्ठ। केव्वल आवा शरणागतहीनों नी ज्ञेऽपि भगवत्क्रीडा नथी थर्थं शक्ती तेथी तेमनो निरोध करवा भट्टे प्रभुणेज्ज वनमां आग लगावी हती। अन्यथा तो आवी प्रभुक्रीडामां विद्धन करवामां कोङ्ग समर्थ छे? तेथीज्ज ज्यारे तेमोच्चे अंतमां प्रभुनी शरणागति लीधी, त्यारे प्रभुणेज्ज ते अशि ने शांत कर्मों आ पाण प्रभुणेज्ज कर्मु, बीजा कोई साधनोच्चे नहीं। आ बधुज्ज प्रभुणे तेमने स्वीयज्ञन भतावधा भाटे कर्मु केव्वल ज्ञेऽपि अस्तु ध्यान प्रभुयी अलक्ष होत, तो तेमो स्वीय न थर्थं शक्ता।

यथापि ऐसे तादृशीज्ञनों को किसी अनिष्ट के होने की संभावना नहीं होती है तथापि उनका जो कुछ भी अनिष्ट होता दिखाई देना है, वह इसलिए है क्योंकि भगवान के साथ क्रीडा करते हुए भावावेश के कारण उहोने यत्किञ्चित् भी अपने आप को प्रभु के समान मान लिया था और अहंकार कर वैठे थे, उसको दूर करने के लिए एवं स्वयं में उनका निरोध करने के लिए प्रभु ने ही उनमें प्रार्थना की प्रवृत्ति उत्पन्न की थी, यह जान लेना चाहिए। अन्यथा न उनका निरोध सिद्ध होता और न ही उन्हें प्रभु के विशेष रस का अनुभव होता। दावानल के प्रसंग में भी यही हुआ कि गोपों ने भगवान के संग क्रीडा करते हुए उनमें लौकिकभाव रखने हुए उन्हें अपने समझ लिया और नाएँ चारे के लोभ में भगवान को भूलकर गव्हरवन में चली गई। चूँकि ऐसे शरणागतहीनों के संग भगवत्क्रीडा नहीं हो सकती अतः उनका निरोध करने के लिए प्रभु ने ही वन में आग लगा दी। अन्यथा तो ऐसी प्रभुक्रीडा में विज्ञ करने में कौन गमर्थ है? अतएव जब उन्होने अंतोगत्वा प्रभु की शरणागति ली, तब ही प्रभु ने ही उस अशि को शांत किया। यह भी प्रभु ने किया, किसी अन्य साधनों ने नहीं। यह सभी कुछ प्रभु ने उन्हें रवींजन वताने के लिए किया क्योंकि यदि उनका ध्यान प्रभु ये इन द्वागा, तो वे स्वीय नहीं हो सकते थे।

अग्रे तैरपि तथैव विज्ञापितम् तदा, 'नूनं त्वद्वान्धवाः कृष्ण न चाहन्त्यवसीदितुं, वयं हि सर्वधर्मज्ज त्वत्त्वाथास्त्वत्परायणा' इति । अस्यार्थस्तु ये केवलं त्वद्वान्धवाएव तेषि नावासीदिति, किं पुनः प्रपञ्चा इति । स्वप्रपत्तिं ज्ञापयन्ति वयमिति । अत्रायां गूढाभिसन्धिः । केवलं वन्युत्वेन तत्स्वभावात् कदाचित् स्वसाम्येनापि प्रभुणा सह क्रीडाकिं संभवति, एवमिदं तत्प्रपत्यनामनिष्टकारकं तदस्माकं पूर्वं जातमिति स्वापराधनिवेदनं, तथापि सा क्रीडास्माकं त्वां विना न भवति, किन्तु, त्वया सहैव, त्वद्वतिरेकेण जीवनमेव न भवेदितिविशेषणद्येन घोत्यते । अतः सर्वात्मना प्रपत्यनां नो वनाश्रिभयं न भवति, किं तर्हि, पूर्वोक्तापाराधेन महदनिष्टे सति त्वत्स्वरूपान्तरायस्तु ततोप्यसह्य इति प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वापराधं प्रपत्तं च ज्ञापयन्ति ।

दावानल ना प्रसंग पछी आगतो तेमोच्चे पाण प्रभुणे "हे कृष्ण! ज्ञेभना भाई-बधु बधु तमेज्ज छो, तेमने तो कोई प्रकारनुं कष्ट न थयुं ज्ञेऽपि. हे समस्त धर्मो ना ज्ञाता । तमेज्ज अभारा रक्षक अने स्वामी छो, अमने तमारा ४२ ज्ज भरोसो छे. (श्री. भा. १०/१८/१०)" वरेरे वाक्यों कह्यां छे. आनो अर्थ ए छे के, हे कृष्ण! ज्यां तेवण तमारा बांधव पाण होय तो तेमो दुःभी नथी थता, तो तमारा शरणागत केवी रीते हुः भी थर्थं रक्षे छे? अहीं गोपभालकोच्चे "वयं" शब्द कहीने पोतानी शरणागति भताई छे ("वयं" शब्दनो अर्थ थाय छे "अभे") अर्थात् गोपभालकोच्चे "अभारा स्वामी आप ४२ छो" तेम कहीने तेमनी शरणागति स्वीकारी छे, आवो अर्थ छे.) अहीं एक गूढ वात ए समझवी ज्ञेऽपि के, गोपभालकोच्चे भगवान्नने

जे उपरनी प्रार्थना करी तेमां ऐम कहुँ के, केवल भगवानना बंधु होवाथी अने बंधुस्वल्पाव ने कारणे अने कदाच भगवान ज्ञेऽ पोतानी समानता होवा ने कारणे पाण प्रभुनी ज्ञेऽ ऐमनी कीडा थई. परंतु भगवानने आ रीते पोताना समान भानी लेवा शरणागतो माटे अनिष्टकारी थाय छे अतः तेचोचे “अभारा थी आयो अपराध थई गथो” ऐम कही पोतानो अपराध तो स्वीकार कर्यो परंतु ऐम पशु निवेदन कहुँ के “अभारी कीडा तभाराविना नहीं परंतु तभारी साथेज संबल थई शके छे. तभारा विना तो अभारङ् लुप्तन वज संबल नथी.” आज कारणे तेमझे भगवान भाटे “ककड़” अने “स्वामी” आभ ऐ विशेषज्ञो कह्या. तेथीज तेचो कही रह्यां छे के, “अभे यारेखाकुथी तभने शरणागत थया छीये अने तेथी अभने वननी अग्निनो तो भय नथी परंतु अभे पहेला ने अपराध कर्यो छे तेनाथी अभारङ् बहु अनिष्ट थयुँ छे. पशु ते अनिष्ट थी वधारे अविड असह्य आपना स्वरूपनो अंतराय छे.” (अर्थात् अनिष्टी पशु वधारे कष्टकरी भगवानना स्वरूपदर्शनभान् थतुं विध्न छे) आवी रीते तेचो प्रार्थना लेवुँ काईक करता करता पोताने अपराध अने शरणागति भताथी रह्या छे.

दावानल प्रसंग के पश्चात् आगे तो उन्होने भी प्रभु से “हे कृष्ण ! जिनके भाई बंधु सब कुछ तुम्हीं हो, उन्हें तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिए। हे समस्त धर्मों के ज्ञाता ! तुम ही हमारे रक्षक और स्वामी हो, हमें तुम पर ही भरोसा है (श्री. भा. १०/१९/१०) ” इत्यादि वाक्य कहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, हे कृष्ण जहाँ केवल तुम्हारे वांधव भी दुःखी नहीं होते, तो तुम्हारे शरणागत कैसे दुःखी हो सकते हैं ? यहाँ गोपवालकों ने ‘वयं’ शब्द कह कर अपनी शरणागति प्रदर्शित की है। वयं शब्द का अर्थ होता है ‘हम’। अर्थात् गोपवालकों ने ‘हमारे स्वामी तुम ही हो’ यह कहकर उनकी शरणागति स्वीकार की है, यह अर्थ है यहाँ एक गूढ़ वात यह समझनी चाहिए कि, गोपवालकों ने भगवान से जो उपर्युक्त प्रार्थना की उसमें यह कहा कि, केवल भगवान के बंधु होने के कारण एवं बंधुस्वभाव के कारण और कदाचित् भगवान संभ स्वयं की समानता होने के कारण भी प्रभु के साथ उनका खेलना हुआ। परंतु भगवान को इस प्रकार से अपने समान मान लेना शरणागतों के लिए अनिष्टकारी होता है अतः उन्होने “हमसे ऐसा अपराध हो गया” यह कह कर अपना अपराध तो स्वीकार किया परंतु यह भी निवेदन किया कि “हमारी क्रीडा तुम्हारे विना नहीं अपितु तुम्हारे संग ही संभव हो सकती है। तुम्हारे विना तो हमारा जीवन ही संभव नहीं है”। इसी कारण उन्होने भगवान के लिए ‘रक्षक’ एवं ‘स्वामी’ यह दो विशेषण कहे। अतएव वे कह रहे हैं कि, “हम चहुँओर से तुम्हारे शरणागत हुए हैं अतः हमें वन की अग्नि का तो भय नहीं है परंतु हमने पहले जो अपराध किया है उससे हमारा बड़ा अनिष्ट हुआ है। किंतु उस अनिष्ट से अधिक असह्य आपका स्वरूप-अंतराय है”। अर्थात् अनिष्ट से भी अधिक कष्टकरी भगवान के स्वरूपदर्शन में होता हुआ विघ्न है इस प्रकार से वे प्रार्थना जैसा कुछ करते हुए स्वयं का अपराध एवं शरणागति बता रहे हैं।

अत एव पूर्वस्थोके सर्वथा प्रार्थनाया अनौचित्यमित्यभिग्रायेव त्रातुमहर्थत्युक्तं, न तु “त्राही”ति। पूर्वमपि कालियसङ्गानन्तरं दावानलोद्देशे न शक्नुमस्त्वचरणं सन्त्यकुमकुतोभयमित्येवोक्तम्। दाहस्तु सेहुं शक्यो न तु चरणवियोग इति विवरणे विवृतं, न हि व्यसनव्यतिरेकोणैव चरनं सम्भवतीतिभावः। ननु पूर्वमेव कथमेताद्वारी प्रपत्तिर्न कृता तत्राहुः ‘सर्वधर्मज्ञैः’ति। सर्वधर्मं त्वमेव जानासि, वयं तु मूढा अतोसमाकं तदुपवेशाभावेन तदज्ञानात् क्रीडारसावेशेन त्वत्पत्रप्रपत्तिविस्मृतिर्भवतीत्यर्थः। इदानीं प्रमेयबलदेव तज्जानं जातपिति सर्वथा प्रणवानामस्याकं त्वत्वरूपान्तरायो मा भवत्विति स्वरूपासक्तिस्वभावेनैव प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वशरणागतिरेव ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम्।

आज कारणे उपरना १८ोक्तनी पहेलां “प्रार्थना सर्वथा उिथित नथी” तेवा अलिप्रायथी गोपबालकों भगवानने ऐम कहुँ के “आप अभारी रक्षा करवामां समर्थ छो”, ऐम न कहुँ के “आप अभारी रक्षा करो” (श्री. भा. १०/१६/६). आज आपेलां अर्थात् कालियदर्भन पठी अने दावानलप्रसंगना आरंभ थी पहेलां पशु तेमझे भगवानने,” हे प्रभु ! अभे तभारा चरणारविद्वोने छोड़वामां असमर्थ छीये (श्री. भा. १०/१७/२४)” ऐम कहुँ छे. आ १८ोक्तना सुबोधिनीभान् आचार्यचरणों ऐ कहुँ छे के गोपबालक ऐम कही रह्यां छे के “अभे अग्निनी दाहकता तो सहन करी शक्यै छीये पशु आपना चरणोनो विशेषण नहीं”。 व्यसन थाया वगर तो आपा वयन कहेवा संबल नथी, तेवो भाव छे. हवे कोई पूर्वपक्षी ऐवी शंका करे के, जे ऐलुंज छे तो ते गोपबालकों अपराध करता पहेलाज भगवाननी शरणागति केम न करी ? तो ऐनुं समाधान उपरना १८ोक्त मां आवेल “सर्वधर्मज्ञ” पदमां छे. गोपबालकों भगवानने सर्वधर्मज्ञ (समस्त धर्मों ना जाता) कह्यां छे. अने तेचो कही रहेयां छे के, “तभेज समस्त धर्मोना ज्ञाकार छो. अभे तो भूद छीये तेथी धर्मो उपदेश प्राप्त न थायथी अभने धर्मनुं शान नथी अने कीडारसना आवेश थी अभने आपनी शरणागति भूवार्ष ज्वाय छे. अभने तो आपना प्रभेयबल थी हमाइंज आ शान थयुँ छे तेथी सर्वथा शरणागत थयेला अभो भक्तो ने तभारा स्वरूपदर्शनभान् विध्न न थाय तेवुँ करो”, आ प्रकारे तेचो पोतानी

સ્વરૂપાસક્તિના સ્વભાવથીજ પ્રાર્થના જેવું કરી કરતા કરતા પોતાની શરણાગતિજ ભતાવી રહ્યાં છે તેથી આ બધુંજ ઉચિત છે અને તેને પ્રાર્થના ન માનવી જોઈએ.

ઇસી કારણ ઉપર્યુક્ત શ્લોક સે પહેલે “પ્રાર્થના સર્વથા ઉચિત નહીં હૈ” ઇસી અમિત્રાય સે ગોપવાલકોને ભગવાન સે યહ કહા કિ “આપ હમારી રક્ષા કરને મેં સમર્થ હું”, યહ નહીં કહા કિ “હમારી રક્ષા કરિપુ” (દેખો શ્રી. ભા. ૧૦/૧૯/૩)। ઇસકે પહેલે અર્થાત્ કાતિયદમન કે પશ્ચાત् એવં દાવાનલપ્રસંગ આર્થ કે પહેલે ભી જહોને ભગવાન સે “હે પ્રમુ! હમ તુમ્હારે ચરણાર્થિઓનો કો છોડ્ને મેં અસર્મથ હું (શ્રી. ભા. ૧૦/૧૭/૨૪)” યહ કહા હૈ. ઇસ શ્લોક કી સુવોધિની મેં આચાર્યચર્ચણોને કહા હૈ કે ગોપવાલ ય કહ રહે હું કી “હમ અસ્ત્રી કી દાહકતા સહન કર સકતે હૈ પરંતુ આપકે ચર્ચણો કા વિયોગ નહીં” વ્યસન હુએ બિના એસે વચન કહેને તો સંમબ હી નહીં હૈનું, યહ ભાવ હૈ. અચ યદિ કોઈ પૂર્વપદી યહ શંકા કરો કિ, યદિ એસા હી હૈ તો ઊન ગોપવાલકોને અપરાધ કરને સે પહોંચે હી ભગવાન કી શરણાગતિ કર્યો નહીં કર લી? તો ઇસકા સમાધાન ઉપર્યુક્ત શ્લોક મેં આ સર્વધર્મજ્ઞ” પદ મેં હૈ. ગોપવાલકોને ભગવાન કો સર્વધર્મજ્ઞ (અન્યાંત્રી સમસ્ત ધર્મો કે જ્ઞાતા) કહા હૈ. ઔર વે યે કહ રહે હું કી “તુંગ હી સમસ્ત ધર્મો કે જાનકાર હો. હમ તો મૂઢ હું અત: ધર્મ કા ઉપદેશ પ્રાસ ન હોને સે હુમેં ધર્મ કા જ્ઞાન નહીં હૈ એવં ક્રીડારસ કે આવેશ સે હુમેં આપકી શરણાગતિ વિસ્તૃત હો જાતી હૈ. હુમેં તો આપકે પ્રેમેયબલ સે અમી હી યહ જ્ઞાન હુआ હૈ અત: સર્વથા શરણાગત હુએ હમ ભક્તો કો તુમ્હારે સ્વરૂપદર્શન મેં વિઘ ન હો એસા કરો” ઇસ પ્રકાર સે વે અપની સ્વરૂપાસક્તિ કે સ્વભાવ સે હી પ્રાર્થના જેસી કુછ કરતે હુએ સ્વયં કી શરણાગતિ હી પ્રદર્શિત કર રહે હું અત: યહ સમી કુછ ઉચિત હૈ ઔર ઇસે પ્રાર્થના નહીં માનની ચાહિએ।

નન્દેતાવદપિ પ્રાર્થિતમિતિ ચેતનોચ્ચતે | ભૃણુ | શ્રીગોકુલં તુ કેવલ તદેકપરં, તેણાં ભાવોપિ તાદ્વશ એવેતિ તાદ્વશસ્ય તસ્ય પ્રમુપિ સ્વયં તદેકપર એવેત્યુભ્યો: પરસ્પરૈકપરત્વમેવ લોકે જ્ઞાપયિતું તન્નિયન્તૃત્વેન પ્રભુપૈવ તથા પ્રેરિતં યથા તૈ: પ્રાર્થિતં, તદનન્તરં તદૈવ સ્વયમેવ સાક્ષાત્તન્ત્રિવૃત્તિ ચ કૃતવાનિતિ ન તત્કૃતપ્રાર્થિનેતિનિગર્વં: | પ્રકૃતેપિ પ્રપત્યભાવે કૃતેપિ પ્રાર્થને તત્ત્વ કરોતીતિ સ્વસ્ય તાદ્વશ પ્રતિ તત્પરત્વભાવ એવ જ્ઞાપ્ત ઇતિ ભાવ: |

અને આટાલા સ્પષ્ટીકરણ પછી પણ જો તુ એ કહી રહ્યો હોય કે “આટલી તો આટલી પણ પ્રાર્થના તો કરીજ ને” તો તને એનો ઉત્તર આપીએ છીએ. અરે કુતર્ક બુદ્ધિવાળા ! સાંભળ, શ્રીગોકુલ તો કેવળ ભગવદ્-પરાયણ ભૂમિ છે અને ગોકુલવાસિઓનો ભાવ પણ એવોજ છે. અને આવા શ્રીગોકુલ-પ્રભુ પણ સ્વયં તે ગોકુલવાસીઓમાં પરાયણ જ છે. તેથી બંનેના પરસ્પર આવા ભાવ ને લોકમાં ભતાવા માટે અને તેમના નિયન્તા હોવાને કારણે પ્રભુએજ એમને પ્રાર્થના કરવા માટે પ્રેરિત કર્યા અને તેઓએ એવી પ્રાર્થના કરી. તેમની પ્રાર્થના કર્યા પછી તેજ સમયે સ્વયં ભગવાનેજ સાક્ષાત્ તેમના કષ્ટનું નિવારણ કર્યું તેથી આ પ્રાર્થના ગોકુલવાસીએ દ્વારા કરવામાં નથી આવી, આ ગૂઢાર્થ છે. અહીં પણ એ પ્રકારે સમજે કે જો આપણે ભગવાનની શરણાગતિ નથી કરી તો ભલેને આપણે પ્રાર્થના કરીએ, તો પણ તેઓ એનો સ્વીકાર નથી કરતા. તેથી ભગવાનને આવા શરણાગતિલિત જીવો માટે તત્પરતા નથી, એમ ભતાવી રહ્યા છે, તેવો ભાવ છે.

ઇને સ્પષ્ટીકરણ કે બાદ ભી યદિ તૂ યે કહ રહ રહો હો કી “ઝનીની હી સહી પંતુ ફિર ભી પ્રાર્થના તો કી હી” તો તું હુદે ઇસકા ઉત્તર દે રહે હું હૈ. અરે કુતર્ક બુદ્ધિવાળે ! સુન, શ્રીગોકુલ તો કેવલ ભગવદ્-પરાયણ ભૂમિ હૈ ઔર ગોકુલવાસિયોની ભાવ ભી વૈસા હી હૈ. ઔર એસે શ્રીગોકુલ-પ્રભુ ભી સ્વયં ઉનું ગોકુલવાસિયોને પરસ્પર એસે ભાવ કો લોક મેં બતાને કે લિએ ઉનું નિયન્તા હોને કે કારણ પ્રભુ ને હી ઉહેં પ્રાર્થના કરતે કે લિએ પ્રેરિત કિયા ઔર ઉહેંને વૈસી પ્રાર્થના કી. ઉનકે પ્રાર્થના કરને કે પશ્ચાત્ ઉની સમય સ્વયં ભગવાન ને હી સાક્ષાત્ ઉનકે કષ્ટ કા નિવારણ કિયા અત: યહ પ્રાર્થના ગોકુલવાસિયો દ્વારા કી હી નહીં ગઈ હૈ, યહ ગૂઢાર્થ હૈ. યહોઁ ભી ઇસી પ્રકાર સે સમજીએ કે યદિ હમને ભગવાન કી શરણાગતિ નહીં કી હૈ તો ભલે હી હમ પ્રાર્થના કરો, વે તવ ભી ઉસે સ્વીકાર નહીં કરતે હું. અત: ભગવાન કો એસે શરણાગતિ સે રહિત જીવો કે લિએ તત્પરતા નથી, યહ જ્ઞાપિત કર રહે હું, યહ ભાવ હૈ।

પ્રાર્થનાદિનેધસ્તુ સાધનદશાયાં ન તુ ફલાનુભવે. તથા ચ, શ્રીગોકુલં તુ ફલરૂપં ફલોપ્યોગિસર્વરસાત્મકં ભગવતા સ્વલીલાર્થ સ્વસ્વરૂપેણેવ સાક્ષાત્વક્તીકૃતમ્. સા લીલા બહિલોકાનુસારિણી, અન્તસ્ત્વલૌકિકી, બહુપ્રોજનગમ્ભેતેતિ યથા યથા તત્ત્વદસાત્મકાસ્તાસ્તા લીલા ભવેષુ; તત: સ્વમાહાત્મ્યમુણાદિકં સર્વજનીનં ચ ભવેત્તથા તથા ભગવાનેવ સર્વ કરોતિ, ન તુ તેણાં તત્સ્વરૂપવ્યસનવતાં તં દન્યક્રિયાદ્વિક્ષિતમ્. અત એવ દ્વિજપત્ન્યનુગ્રહં કર્તુ મનસૈવ તાદ્વશાનાનું કૃષ્ણમુત્પાદિતવાનું. અન્યથાઽકસ્મિકી તાદ્વશી દુઃસા સા કથમુત્પયેત ? એવ સતિ શ્રીગોકુલે તત્ત્વિરોધાર્થ સર્વ ભગવાનેવ કરોતીતિ ન કિંચિત્તૂર્પક્ષાવસર: ।

अहीं ए पशु जाशो के प्रार्थना-वर्गेरेनों निषेध तो साधन दशामां छे, इतनो अनुभव थया पछी नथी. ते ए प्रकारे के, श्रीगोकुल तो इलोप्पोगिसर्वरसात्भक-इत्युप छे अने भगवाने तेने पोतानी लीला करवा भाटे पोताना स्वप्नप द्वाराज साक्षात् प्रकट कर्यु छे. भगवाननी आ लीला बहारथी तो लौकिकी देखाय छे पशु अंदरथी अलौकिक छे अने ते लीला ना गर्भमां अनेक प्रयोजना छूपायां छे. ते लीलाओ लेम लेम, ते ते अलौकिक रसो थी युक्त थती जय छे अने भगवानना माहात्म्य अने गुण वर्गेरे सार्वजनिक थता जय छे तेम तेम आ बद्यु भगवानज डे छे. तेथी लेभने भगवानना आवा स्वप्नप अने लीलानु व्यसन थर्थ गयु छे, ते भगवान सिवाय कोई पशु अन्य वस्तुनी अपेक्षा नथी करता, आज कारणे भगवाने ते द्विष्टपत्नियो भूम अनुग्रह करवा भाटे भन द्वाराज गोपबालकोमां भूम उत्पन्न करवी दीधी. अन्यथा तेमनामां अचानक आवी असह्य भूम केवी रीत उत्पन्न थर्थ गई? आ प्रकारे गोकुलमां ते गोपबालकोना चित स्वयंमां निरुद्ध करवा भाटे भगवानज सर्व कांठ करी रहां छे, अवुं सिद्ध थयुं. तेथी हवे कोई पशु पूर्वपक्षनो कोई अवसर २३ जतो नथी.

वहाँ यह भी जानिए कि प्रार्थना-आदि का निषेध तो साधनदसा में है, फल का अनुभव होने पर नहीं। वह इस प्रकार कि, श्रीगोकुल तो फलोपयोगि-सर्वरसात्मक-फलरूप है और भगवान ने उसे अपनी लीला करने के लिए अपने स्वरूप द्वारा ही साक्षात् प्रकट किया है। भगवान की वह लीला बाहर से तो लौकिकी दिखाई देती है परंतु भीतर से अलौकिक है और उस लीला के गर्भ में अनेक प्रयोजन हुये हुए हैं। वह लीलाएँ जैसे जैसे, उन-उन अलौकिक रसों से युक्त होती जाती हैं और भगवान का माहात्म्य एवं गुण-आदि सार्वजनिक होते जाते हैं, वैसे वैसे भगवान ही सभी कुछ करते हैं। अतः जिनको भगवान के ऐसे स्वरूप एवं लीला का व्यरस हो गया है, वे भगवान के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते। इसी कारण भगवान ने उन द्विष्टपत्नियों पर अनुग्रह करने के लिए भन द्वारा ही गोपबालकों में भूम उत्पन्न करवा दी। अन्यथा उनमें अचानक ही ऐसी असह्य भूम कैसे उत्पन्न ही गई? इस प्रकार गोकुल में उन गोपबालकों का चित स्वयं में निरुद्ध करने के लिए भगवान ही सब कुछ कर रहे हैं, यह सिद्ध हुआ। अतः अब किसी भी पूर्वपक्ष का कोई अवसर नहीं रह जाता है।

किञ्च, तेषां स्वरूपापेक्षापि आसक्तिव्यसनस्वभावत एव न तु कृत्रिमा। ताद्वाही चेत् प्राप्तौ शास्येत्। इयं तु तत्त्वासावपि उत्तरोत्तरं बद्धत इत्येतत्स्यः सर्वतो भिन्नैव रीतिर्नान्यमार्गीयपूर्वपक्षादिना कलुपयितुं योग्येति दिक्। किञ्च, प्रार्थनं तु यावन्मनोरथं भवति, प्रकृते मनोरथान्तमानन्दं ददत्वात् इति प्रार्थनानपेक्ष एव सर्वकर्त्तैति किमर्थं प्रार्थनं भवेत्? यन्न इत्यते तत्र हेतुः पूर्वमुक्त एवेति सर्व सुस्थम्। एवं सति श्रीगोकुलस्वरूपलीलाकृतीनामज्ञानात् तत्त्वार्थनावलोकनेन तदितरस्यापि प्रार्थना कर्त्तव्येतिपक्षो निरस्तः।

अने तेमज, ते गोपबालकों नी भगवद्व्यप्तप भाटेनी अपेक्षा पशु तेमना आसक्ति-व्यसन वाणा स्वभावने कारणे छे, भनावटी नथी. जे भनावटी होत तो भगवानना स्वप्नपदर्शन पछी शांत थर्थ गई होत. तेमनी अपेक्षा तो स्वप्नप्राप्ति थया पछी पशु उत्तरोत्तर वधी रही छे तेथी ए सिद्ध थयुं के पुष्टिभृतिमार्गनी आ रीत अन्य बीलु रीतोथी सर्वथा भिन्न छे अने अन्यमार्गीयोना पूर्वपक्षी शंकाने अहीं कोई स्थान नथी, आ प्रकारे आ दिशा स्पष्ट थर्थ. अने, एपशु समझे के प्रार्थना तो मनोरथ पूर्ण थवा सुधीज सीमित रहे छे परंतु अहीं तो भगवाने ब्रजवासीओं ना मनोरथों पूर्ण क्यां पछी पशु आनंद आप्यो छे तेथी भगवान प्रार्थनानी अपेक्षा राघ्या वगर पशु बद्युज करवाने समर्थ छे तेथी ११ भाटे प्रार्थना करवी? ज्यां मनोरथ पूर्ण थत्ता देखाता नथी त्यां “प्रबुनी ऐवी ईच्छा नथी”, ए कारण पहेलाज कही दीद्यु छे, तेथी आ सर्व कांठ सुदृढ सिद्धांत छे. आ प्रकारे भगवानना श्रीगोकुलमां स्वप्नपीली लीलाकृति नु अज्ञान होवाने कारणे ज्येष्ठो आ पक्ष राखे छे के “ब्रजवासीयोनी देखाएजी बीज्जयो ए पशु प्रार्थना करवी ज्ञेत्रये”, तेमनो पक्ष निरस्त थर्थ गयो.

और भी, उन गोपबालकों की भगवत्स्वरूप की अपेक्षा करनी भी उनके आसक्ति-व्यसन वाले स्वभाव के कारण ही है, बनावटी नहीं है। यदि बनावटी होती तो भगवान के स्वरूपदर्शन के पश्चात् शांत हो गई होती। उनकी अपेक्षा तो स्वरूपप्राप्ति होने बाद भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है अतः यह सिद्ध हुआ कि पुष्टिभृतिमार्ग की यह रीत अन्य दूसरी रीतियों से सर्वथा भिन्न है और अन्यमार्गीयों के पूर्वपक्ष की शंका का यहाँ कोई स्थान नहीं है, इस प्रकार यह दिशा स्पष्ट हुई। और, यह भी समझिए कि प्रार्थना तो मनोरथ पूर्ण होने तक ही सीमित रहती है परंतु यहाँ तो भगवान ने ब्रजवासियों के मनोरथ पूर्ण करने के पश्चात् भी आनंद दिया है अतः भगवान प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना ही सभी कुछ करने में समर्थ हैं, इसलिए क्यों प्रार्थना करनी? जहाँ मनोरथ पूर्ण होते नहीं दिखाई देते, वहाँ ‘प्रभु की इच्छा ऐसी नहीं है’ यह कारण पहले कह ही दिया गया है, अतः यह सभी कुछ सुदृढ सिद्धांत हैं। इस प्रकार से, भगवान के श्रीगोकुल के स्वरूप की लीलाकृति

का अज्ञान होने के कारण जो यह पक्ष रखते हैं कि “ब्रजवासियों की देखादेखी दूसरों को भी प्रार्थना करनी चाहिए”, उनका पक्ष निरसन हो गया।

प्रस्तुतमाहुः । ननु सर्वेषां देवानां धर्माणां च त्यागेन केवलं भगवच्छरणगतावपि को वेद भगवानपेक्षितं दास्यति वा न वेति चेत्तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्माख्यचातकौ भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

अस्मिन् शरणगमनेऽविश्वासो न कार्यः, यः सर्वथा बाधकः । वाधकान्तरपेक्ष्याऽयमधिकबाधक इति सर्वयत्कृम् । यतोऽविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरणधर्मो गच्छेद्, इदमेवोक्तम् ‘अन्यसंमेलते वा ब्रह्माख्यन्याय उक्त’ इति तेन विश्वास एव कर्तव्य इतिभावः । अतः परं विश्वासे फलं भवत्पविश्वासे नेत्यत्र दृष्टान्तं निरूपयन्ति ब्रह्माख्येति । अविश्वासे ब्रह्माख्यं भाव्यं भावनीयमित्यर्थः । यथा हनुमद्विषये प्रयुक्तमपि तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे ततो निर्गतमासीन्यताप्यविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरणमन्त्रो यास्यति शरणधर्मो न तिष्ठतीति स न कर्तव्य इतिभावः ।

हे प्रस्तुत विषयनी चर्च्या कर्त्ताए छीअे. अहीं ऐ प्रश्न उभो थाय छे के, समस्ते देवताओं नुं भजन अने समस्त धर्मोनो त्याग करीने केवल भगवद्-शरण ज्वाथी पण कोण लागे छे के आपणुने ने ल्लैठए ते भगवान आपणुने आपशे के नहीं ? तो ऐनो उत्तर आचार्यरथरणो “अविश्वासः” वगेरे शब्दोथी आपे छे.

भगवाननी शरणागति लक्ष लीदा पछी अविश्वास न कर्वो ल्लैठए केम्भे ते सर्वथा बाधक छे. अन्य बीजत बाधको करता आ वधारे बाधक छे, तेथी तेने “सर्वथा बाधक” कह्यो छे. केम्भे अविश्वास करवाथी अन्य बीजत धर्मोथी संबंध थर्थ ज्यय छे अने ऐनाथी शरणधर्म नो लंग थाय छे. आज वात “अन्य धर्मोने शरणागति नी ल्लैठे भेणववाथी प्रह्लाद- न्याय तो कहीज हीथो छे (न्यासादेशः)” आ श्लोक द्वारा कही छे तेथी विश्वास कर्वो ल्लैठए तेवो अर्थ छे. हे आना पछी “विश्वास इलहायक होय छे अने अविश्वास करवाथी इन प्राप्त नथी थुं” , आ वातने दृष्टांत द्वारा समझावया. माटे आचार्यरथरणो भ्रह्माख्य वगेरे शब्दोथी कही रह्यां छे. अविश्वास थवा पर भ्रह्माख्य वाणा प्रसंगनी भावना करवी ल्लैठए तेवो अर्थ छे. ल्लैभ रापणुनी अशोक-वाटिकामां हनुमानल्लो भ्रह्माख्यथी बांधवाभां आव्या, पण ते राक्षसोने भ्रह्माख्य पर पूर्ण विश्वास न थयो अने तेमणे एक लोभंडनी कडीथी पण तेमने बांधी हीदा. त्यारे हनुमानल्ल भ्रह्माख्यनो आदर करीने पहेला तो बंधाया. पण पछी तेमनोज भ्रह्माख्यां अविश्वास ल्लैठ तेओ भ्रह्माख्य तोडीने भहर निकली गया. ते प्रकारे अहीं पण अविश्वासेने कारणे बीजत धर्मोनो संबंध थर्थ ज्वाथी शरणमंत्र व्यर्थ थर्थ ल्लैशे अने शरणधर्म पण नहीं रहे, तेथी अविश्वास न कर्वो ल्लैठए, आवो भाव छे.

अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करते हैं । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि, समरत देवताओं का भजन एवं समस्त धर्मों का त्याग करके केवल भगवद्-शरण जाने पर भी कौन जानता है कि हमें जो चाहिए वह भगवान हमें देंगे भी या नहीं ? तो इसका उत्तर आचार्यरण अविश्वासः इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं ।

भगवान की शरणागति कर लेने पर अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि ये सर्वथा बाधक है । अन्य दूसरे बाधकों का अपेक्षा यह और अधिक बाधक है, इस कारण इसे ‘सर्वथा बाधक’ कहा गया है । क्योंकि अविश्वास करने से अन्य दूसरे धर्मों से संबंध हो जाता हो जाता है और इससे शरणधर्म भेग हो जाता है । यही बात “अन्य धर्मों को शरणागति के संग मिलाने पर ब्रह्माख्य ‘न्याय’ तो कह ही दिया गया है (न्यासादेशः १)” इस श्लोक द्वारा कही गई है अतः विश्वास करना ही चाहिए, यह भाव है । अब इसके पश्चात् “विश्वास फलदायक होता है एवं अविश्वास करने से फल प्राप्त नहीं होता” इस बात को दृष्टांत द्वारा समझाने के लिए आचार्यरण ब्रह्माख्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । अविश्वास होने पर ‘ब्रह्माख्य’जाले प्रसंग की भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है । जैसे रावण की अशोक वाटिका में हनुमानजी को ब्रह्माख्य से बाँधा गया, पर उन राक्षसों को तिस पर भी ब्रह्माख्य पर पूर्ण विश्वास न हुआ और उहाँने एक और लोहे की कड़ी से उन्हें बाँध दिया । तब हनुमान जी ब्रह्माख्य का आदर रखते हुए पहले तो बाँध गये परंतु पश्चात् उहाँ का ब्रह्माख्य में अविश्वास देख कर ये ब्रह्माख्य को तोड़ कर निकल गये । उसी प्रकार यहाँ भी अविश्वास के कारण अन्य दूसरे धर्म का संबंध हो जाने पर शरणमंत्र व्यर्थ चला जाएगा एवं शरणधर्म भी नहीं ठिकेगा अतः अविश्वास नहीं करना चाहिए, यह भाव है ।

विश्वासे चातको भाव्यः । स्वातिजलविश्वासेन चेत्स तिष्ठति तदा मेघो वर्षत्येव, स च पिबतीतिभावनया विश्वास एव कर्तव्यो नन्त्यविश्वासः । शरणगतौ विश्वासे भगवान् सर्वं करिष्यतीतिभावः एवं विश्वासेन शरणस्थितौ भगवदिच्छ्या प्रयत्नं विना यदेव प्राप्तं भवेदनायासेन स्वल्पमपि तदेव प्राप्य, तत्रापि निर्ममः भगवदीयत्वात्तत्रापि ममतारहितः सन् प्रभुसेवां कुर्यात् तु विशेषार्थं पतं कुर्यात्तदेवाहुः प्राप्तमिति । सेवेतेतिपदेन तत्सर्वं भगवदुपयुक्तमेव कुर्यात् तु स्वाधीनिति सूचितम् ॥ १५ ॥

आ प्रकारे भगवान् परं पूर्णं विश्वासं राख्यामां “चातक” पक्षी लेवी भावना राख्यात् लेईच्चे. चातकपक्षी लंब्यते स्वातिजलं परं विश्वासं भनावी राखे छे, त्यारे भेदं वर्षा करेज छे अने त्यारे ते तेज जलने पीछे छे. आवी भावना राखता राखता राखता राखता राखता राखता नहीं. शरणागतिमां विश्वासं राख्याती भगवान् भधुंज करेह, ऐवो भाव छे. आ प्रकारे भगवान् परं विश्वासं राखीने शरणागत रहीने भगवदिच्छाथी प्रयत्नं वगर थोडुं धान् ले कंठि प्राप्त थाय छे, तेमां संतोष भानपो लेईच्चे. ते पाणि निर्ममं (भमता न राखता) केमके आप भगवदीयं छो तेथी ते प्राप्त थेपेल वस्तुमां भमता न राखी भगवद्वसेवाज करवी लेईच्चे, विशेष धनप्राप्तिमाटे कोई थत्न-प्रयत्नं न करवो लेईच्चे- आ “प्राप्तं” वगेरे शब्दोथी कहुं छे. “सेवेत” पद्धती अभि कहुं छे के ले कंठि पाणि प्राप्त थयुं होय, तेनो भगवानभान्ज विनियोगं करेहो लेईच्चे, पोताना भाटे नहीं, अभि सूचित कर्युं छे. (अर्थात् भगवानमां विनियोगं कर्या पछी ज भोताना भाटे उपयोगं करे; तेना पहेलां नहीं, तेवो अर्थ छे) ॥ १५ ॥

इसी प्रकार भगवान् परं पूर्णं विश्वासं रखने में ‘चातक’ पक्षी की भावना करनी चाहिए । चातकपक्षी जब स्वातिजल पर विश्वास बनाए रखता है तब मेघ वर्षा करते ही हैं और तब वह उसी जल को पीता है । ऐसी भावना रखते हुए विश्वास ही रखना चाहिए, अविश्वास नहीं । शरणगति में विश्वास रखने परं भगवान् सभी कुछ करेगे ही, यह भाव है । इस प्रकार भगवान् परं विश्वास रखते हुए प्रयत्नं विना थोड़ा बहुत जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतोष मानना चाहिए । वह भी निर्ममं ममता न रखते हुए होकर क्योंकि आप भगवदीय हो अतः उन प्राप्तं हुई वस्तु में ममता न रखते हुए प्रभुसेवा ही करनी चाहिए, विशेष धनप्राप्ति के लिए कोई यत्न-प्रयत्नं नहीं करना चाहिए. यह प्राप्तं इत्यादि शब्दों से कहा गया है । सेवेत पद से यह कहा गया है कि जो कुछ प्राप्त हुआ हो, उसे भगवान् में ही विनियोग करना चाहिए, खुट के लिए नहीं, यह सूचित किया गया है । अर्थात् भगवान् में विनियोग करने के पश्चात् स्वयं के लिए उपयोग करे उससे पहले नहीं, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

ननु धर्मान्तरसम्बन्धे शरणपदार्थो गच्छतीत्यावश्यकलौकिकवैदिककर्मणामपि त्यागे कदाचिदप्रामाण्यशङ्का स्यान्मार्गं, तदभावार्थं तत्करणप्रकारमाहुर्यथाकथश्चिदिति ।

यथाकथश्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्विरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

यथाकथमपि मार्गे लोकानामप्रामाण्यशङ्का न भवेत्तेऽचावचान्यावश्यकलौकिकवैदिकसम्बन्धीनि कार्याणि मार्गप्रामाण्यार्थं प्रभोराङ्गां ज्ञात्वा तानि कार्याणि, न तु स्वर्धमत्वेनेति । यथा “करिष्ये बचनं तवे” ति पार्थेन भगवदाज्ञा कृता तथेत्यर्थः । एवं सति शरणपदार्थो न गच्छेत् । इति पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता । तदेवोक्तं, पुष्टिप्राहमर्यादायां “लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापटव्यत्तेषु नान्यथे” ति ।

पाणि, अहीं जे ऐवी शंका थाय ते, जे भीज धर्मोथी संबंधं थई ज्याथी शरणागति तूटी जाय छे, तो जे लोकमां आवश्यक लौडिक-वैदिक कर्म छे (जेम के मुहुर्तं लेवुं, जन्माक्षर भेषजवा, गाडेश स्थापन, कुलदेवता स्थापन, पश वगेरे लौडिक-वैदिक कार्य), तेमनो पाणि त्याग करी देवाथी कदाचित् पुष्टिभक्तिभार्ग भाटे ऐवी शंका उत्पन्न थई शके छे के, आ संप्रदाय अप्रामाणिक छे. केमके ते लौडिक-वैदिक शास्त्रोक्त कर्मो ने नदी भानतो. तेथी आवी शंकाना निराकरण भाटे, ते लौडिक-वैदिक कार्यों ने केवी रीते करवा ? आ वात आचार्यरथारणो “यथाकथंचित्” वगेरे शब्दोथी भावावी रह्यां छे.

ते कोई पाणि प्रकारथी लोकोने भार्गमाणिकतानी शंका न थाय ते प्रकारथी ते नाना-भोटा आवश्यक लौडिक-वैदिक संबंधित कार्योंने प्रभुआच्चासा भानीने करवा लेईच्चे, जेनाथी भार्गनी प्रामाणिकता भनी रहे पाणि तेमने स्वर्धमं भानीने न करवा. जेवी रीते “हये हुं आपनी आज्ञानुं पालन करीश (भ. गी. १८/७३)” आ वाक्य द्वारा अर्जुने भगवद्-आज्ञानुसार कार्य कर्युं, तेवी रीते करवुं लेईच्चे तेवो अर्थ छे. आवुं करवाथी शरणार्थं भंग थतो नथी, तेथी हये उपरनी शंका दूर थई जाय छे. आज पु. प्र. भ. ग्रंथमां “भगवदीयो लौडिक-वैदिक कार्यों कपटउपथी करे छे (२०)” आ वाक्य द्वारा कहेलुं छे.

किन्तु यहाँ यदि ये शंका हो कि, यदि दूसरे धर्मों से संबंध हो जाने पर शरणागति भंग हो जाती है, तो जो लोक में आवश्यक लौकिक-वैदिक कर्म हैं जैसे मुहूर्त देखना, जन्मात्‌स्‌मिताना, गणेश-स्थापन, कुलदेवता-स्थापन, यज्ञ-आदि लौकिक-वैदिक कार्य उनका भी त्याग कर देने से कदाचित् पुष्टिक्रिमार्ग के लिए यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि, यह संप्रदाय अप्रामाणिक है क्योंकि यह लौकिक-वैदिक शास्त्रोक कर्मों को नहीं मानता। अतः ऐसी शंका के निराकरण के लिए, उन लौकिकवैदिक कार्यों को किस प्रकार करना? यह आचार्यचरण यथाकथश्च इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

जिस किसी भी प्रकार से लोगों को हमारे मार्ग में अप्रामाणिकता की शंका न हो उस प्रकार से उन छोटे-बड़े आवश्यक लौकिकवैदिक संबंधित कार्यों को प्रभुआज्ञा जानकर करने चाहिए, जिससे मार्ग की प्रामाणिकता बनी रहे किन्तु इन्हें स्वर्थम् मानकर नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार “अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा (भ. गी. १८/७३)” इस वाक्य द्वारा अर्जुन ने भगवद्-आज्ञानुसार किया, वैसे करना चाहिए, यह अर्थ है। ऐसा करने पर शरणाधर्म भंग नहीं होता, सो अब उपर्युक्त शंका निरस्त हो जाती है। यही पु. प्र. म. भे. ग्रंथ में “भगवदीय लौकिकवैदिक कार्य कपरलूप से करते हैं (२०)” इस वाक्य द्वारा कहा गया है।

अथवा, तदर्थमपि कर्माद्यकरणे न दोपः, शरणपदार्थयैव तावद्वृत्तात्तदाहुः किं वेति । बहुना प्रोक्तेन किम्, न किञ्चित्सिद्ध्यति, किन्तु सर्वत्र शरणमेव भावनीयं न तु लोकसङ्घार्थमपि कर्मकरणम् । तदर्थमपि विधिस्तर्पत्वेन कर्मकरणे शरणपदार्थभाव इति भावः । एतदेवोक्तम् भन्यसम्मेलने वे त्यत्र । एवं सति प्रभोराज्ञां मत्वा कर्मकरणमायातं नान्यथेत्यर्थः । नन्वेवं सर्वात्मना ज्ञानेन कदाचित्पापं सम्भवेत्तत्राहुर्विभित्ति । स हीरः सर्वदुःखर्ता तत्सम्भावनायां स एव पापादिकं दूरीकरित्यतीतिभावः । एतत्सर्वं “सर्वधर्मानि” त्यस्य निरूपणे न्यासादेशोचित्वं द्रष्टव्यम् । अतः परमुपसंहरन्ति एवमिति । एवं प्रकारेणाश्रयणमाश्रयस्वरूपं प्रकृष्टेन साहस्रमुक्तम् । तावता किमिति चेतत्राहुः सर्वेषामिति । सर्वेषां जीवानामाश्रमाणां वर्णानां सर्वदा क्रियमाणं सत् हितं हितकारि, साधनं विनायैहिकपारलौकिकसम्पत्तिसाधकमित्यतः परं किमविश्वायते ।

अथवा ऐसो अर्थ कीरीदो के, लौकिकवैदिक कार्यों ने पशु न करवाथी दोष नदी थतो केवल भगवाननी शरणागतिज्ञ भद्यु छे, आ वात “क्षि वा” वगेरे शब्दोदीथी कहेवार्ता रही छे. आ पंक्तिमां आचार्यरथराषो एम आज्ञा करे छे के, हवे वधारे कहेवाथी शुं सिद्ध थरो ? कार्ड पशु नहीं, तेथी सर्वत्र भगवाननी शरणाभावना करवी लेईए, लोकसंघाल अथवा लौकिकवैदिक कर्मों ने पशु करवानी झड़र नदी. लवे एमने विकृपथी करवानुं कहुं होष छतां पशु तेमनामां शरणाधर्म तो नदी, तेवो भाव छे. आज वात “अन्य धर्मो ने शरणागतिनी लेउ भेगवाथी “ब्रह्मात्र” वाणुं उदाहरण कहेलुं जु छे (न्यासादेश/१) ” आ वाक्य द्वारा कही छे. तेथी उपर कहेलां विश्वेषणो थी एम ब्रह्माय छे के, आ कर्मों ने प्रभु आज्ञा मानीने करवा लेईए अन्यथा नहीं, आयो अर्थ छे. परंतु अहीं एक प्रश्न एम थाथ छे के, भगवानने भवी रीते ब्रह्मुञ्ज भानी तो लईए परंतु कदाच लविष्यमां लुपथी कोई पाप थठ ज्य तो शुं करवुं ? तो तेनुं समाधान आचार्यरथराषो “हर्ति” वगेरे शब्दोदीथी करी रहां छे. भगवान हरि छे, समस्त हुः खोनुं हरण करवा वाणा छे अने ले एवा पाप थवानी संभावना थर्ति पशु तो तेऽनेज आ पापो ने दूर करो, एवो भाव छे. आ भद्युल “समस्त धर्मोनो त्याग करी भान मारी शरणमां आव (भ. गी. १८/६६)”, आ भगवद्गीताना शुलोकना नित्यपृष्ठ-ग्रन्थ “न्यासादेश” मां लेई लेलुं लेईए. हवे आना पछी “अवेष्” वगेरे शब्दोदीथी उपसंहार (सभापि) करवामां आवे छे. आनो अर्थ ए थाथ छे के, उपर कहेल प्रकारोथी आश्रयनुं स्वपृष्ठ व्यवस्थित अने संगोपांग रीते कही दीदू छे. आश्रयनुं आवां स्वपृष्ठ-नित्यपृष्ठ करवाथी शुं थेस, ते आचार्यरथराषो “सर्वेषां” वगेरे शब्दोदीथी कही रहां छे. “सर्वेषां” शब्दनो अर्थ ए छे के, समस्त आश्रम (प्रक्षयर्थ, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) अने समस्त वर्णों (प्राक्षाश, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) ना लुवो माटे भगवद्-आश्रय करवो सर्वदा हितकारी छे अर्थात् साधनोना वगर पशु औहिक-पारलौकिक समस्त संपत्तिनो साधक थर्ति ज्य छे तेथी एना पछी हवे शुं शेष रही ज्य छे ?

अथवा यों अर्थ कर लें कि, लौकिकवैदिक कार्यों को भी न करने से दोष नहीं होता क्योंकि भगवान की शरणागति ही सब कुछ है, यह बात कि वा इत्यादि शब्दों से कही जा रही है। इस पंक्ति में आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, और अधिक कहने से क्या सिद्ध होगा? कुछ भी नहीं अतः सर्वत्र भगवान की शरणाभावना करनी चाहिए, लोकसंग्रह या लौकिकवैदिक कर्मों को भी करने की आवश्यकता नहीं है। भते ही इन्हें विधिरूप से करना कहा गया हो तथापि इनमें शरणाधर्म तो नहीं है, यह भाव है। यही बात “अन्य धर्मों को शरणागति के संग मिलाने में ‘ब्रह्मात्र’ वाला उदाहरण कह ही दिया है (न्यासादेश/१) ” इस वाक्य द्वारा कही गई है। अतः उपर्युक्त विश्वेषणों से यह ज्ञात होता है कि, इन कर्मों को प्रभु-आज्ञा मानकर करना चाहिए, अन्यथा नहीं- यह अर्थ है। परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि,

भगवान को यमी प्रकार से सबकुछ मान नो लें परंतु यदि भविष्य में जीव से कोई पाप हो जाय तब क्या करना ? तो आचार्यचरण इसका समाधान हरिं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । भगवान हरि है, समस्त दुःखों का हरण करने वाले हैं और यदि ऐसे पाप होने की सम्भावना भी हुई तो वे ही इन पापों की दूर करेंगे, यह भाव है । यह सभी कुछ "समस्त धर्मों का त्याग करके मात्र मेरी शरण में आ (भ. गी १८/६६)" इस भगवद्-गीता के श्लोक के निरूपणग्रंथ 'न्यासादेश' में देख लेना चाहिए । अब इसके पश्चात् एवम् इत्यादि शब्दों से उपसंहार समाप्ति किया जा रहा है । इसका अर्थ यह होता है कि, उपर्युक्त प्रकारों से आश्रय का स्वरूप भविभावितपूर्वक अंगसहित कह दिया गया है । आश्रय का ऐसा स्वरूप-निरूपण करने से क्या होगा, यह आचार्यचरण सर्वेषां इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । सर्वेषां शब्द का अर्थ यह है कि, समस्त आश्रम (ब्रह्मचर्च, गृहस्थ, बानप्रस्थ, संन्यास) एवं समस्त वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के जीवों के लिए भगवद्-आश्रय करना सर्वदा द्विकारी होता है अर्थात् साधनों के बिना भी ऐहिक-पारतीकिक समस्त रांपति का साधक हो जाता है अंतः इसके पश्चात् अब क्या शेष रह जाता है ?

ननु सर्वयुगेषु साधनैरेव फलं भवतीत्यधुना तानि विहाय केवलं शरणमेव कथमुच्यते, तत्राहुः कलाविति ।

कलौ भज्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्भृगुभाचार्यचरणविरचितो विवेकपैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्ययुगेषु धर्मस्यैव प्राधान्याद्विहितभक्त्यादीनां साधनसाध्यत्वात् तैरेव विहितभक्त्युपासनाकर्मादीनां फलं भवति । कलिस्तु पापप्रधान इति साधनानामसम्भवाद्विहितभक्त्यादिमार्गा दुःसाध्याः, प्रत्युत यत् किञ्चिन्करणेण पापण्डवेशेन पापमपि जायत इति सर्वव्यादुःसाध्याः, यतो यत्र साधनसाध्या अपि भज्यादिमार्गाः कलौ दुःसाध्यास्तत्र कृतादियुगेष्वपि यो भक्तिमार्गः साधनसाध्यः केवलभगवदनुग्रहैकलभ्यस्तस्य कलौ सुत्तरामेव साधनासाध्यत्वेन दुःसाध्यत्वमिति सर्वात्मना शरण गतौ भगवान् तादृशे भक्तिमार्गेण्णुनुग्रहं करिष्यतीति, सर्वात्मना शरणमेव भावनीयं, नान्यत्कर्त्तव्यमिति स्वसिद्धान्तज्ञापनायोक्तं मे मतिरिति । मे मतिरित्येव । तेन स्वमार्गायाणामिदमेव कर्त्तव्यं नान्यदितिभावः ।

परंतु अहीं ऐक शंका थाय छे के समस्त युगोंमां तो साधनों द्वारा वै इष्ट प्राप्त थाय छे अने अहीं ते साधनोंने छोटी केवल शरणाग्नितज्ज करवानी केम कहेवामां आवी रही छे ? तो ऐनुं समाधान आचार्यचरण "कलौ" लगेरे शब्दोदीर्घी कहे छे.

सम्भव्युं ब्लैर्डेके, अन्य युगोंमां धर्मनीज्ञ प्रधानता होय छे धर्मि-स्वत्पुर्व श्रीकृष्णानी नहीं, तेथी ते-ते धर्मोंमां कहेली भक्ति साधनोंथी साध्य थाय छे अने तेल शरणाथी ते साधनों द्वाराज्ञ भक्ति-उपासना-कर्म वगेरेनुं इष्ट प्राप थर्त ज्ञय छे. परंतु कलियुग तो पापप्रधान छे, अहीं उपर कहेला साधनों संभव नथी होता भाटे कहेला भक्ति-वगेरे भार्गो अत्यंत कठिन होय छे. अध्यवा तो ऐम कहों के, कई साधन करीये तो पशु पाखंड वगेरेथी पाप पशु उत्पन्न थर्त ज्ञय छे तेथी ते साधनों सर्वथा दुःसाध्य (ज्वेमने साधवा अत्यंत कठिन होय तेवा) वै होय छे. आ करणुओंथी ज्यां साधनोंथी साध्य भक्ति वगेरे भार्ग पशु कलिकालमां दुःसाध्य छे त्यां सत्ययुग-वगेरेमां पशु वे भक्तिभार्ग छे ते पशु साधनोंथी असाध्य वै छे अर्थात् केवल भगवद्-अनुग्रहहीन प्राप थर्त शके छे तेथी कलिकालमां तो तेना करतां हज्ज पशु भधारे साधनोंथी असाध्य होवाने कारणे दुःसाध्य छे. तेथी बधी रीते भगवान्नी शरणाग्नित करवाथी भगवान आवा दुःसाध्य भक्तिभार्गमां पशु अनुग्रह करतो, आज करणुओंथी बधा प्रकारथी शरणाभावनाज्ञ करवी ब्लैर्डेके, अन्य बीजुं कांसी नहीं-आ खोतानो सिद्धांत भतावपा भाटे आचार्यचरणोये "मे मतिः" कह्युं छे. तेथो कहे छे के, आज भारी भति छे तेथी स्वभाग्योये आज करवुं ब्लैर्डेके-बीजुं कई नहीं, ऐ भाव छे.

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि समस्त युगों में तो साधनों द्वारा ही फल प्राप्त होता है और यहाँ उन साधनों को छोड़कर केवल शरणागति ही करनी क्यों कही जा रही है ? तो आचार्यचरण इसका समाधान कलौ इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

समझना चाहिए कि, अन्य युगों में धर्म की ही प्रधानता होती है अंतः उन-उन धर्मों में कही गई भक्ति साधनों से साध्य होती है और इसी कारण उन साधनों द्वारा ही भक्ति-उपासना-कर्म आदि का फल प्राप्त हो जाता है । परंतु कलियुग तो पापप्रधान है, यहाँ उपर्युक्त साधन संभव नहीं होते हैं अंतः कहे गये भक्ति-आदि मार्ग अत्यंत कठिन होते हैं । अपितु ये कहें कि, कुछ साधन करें भी, तो भी पापांड-आदि से पाप भी उत्पन्न हो जाता है अंतः वे साधन सर्वथा दुःसाध्य जिनको साधना अत्यंत कठिन हो ही होते हैं । इन कारणों से जहाँ साधनों से साध्य भक्ति-आदि मार्ग भी कलिकाल में दुःसाध्य हैं वहाँ सत्ययुग-आदि में भी जो भक्तिमार्ग हैं वह साधनों से असाध्य ही हैं

विवेकधैर्यश्रयः

अर्थात् केवल भगवद्-अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकते हैं अतः कलिकाल में तो अपेक्षाकृत और भी अधिक साधनों से असाध्य होने के कारण दुःसाध्य हैं । अतः सभी प्रकार से भगवान की शरणागति करने पर भगवान ऐसे दुःसाध्य भक्तिमार्ग में भी अनुग्रह करेंगे, इस कारण सभी प्रकार से शरणमावना ही करनी चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं- यह स्वयं का सिद्धांत बताने के लिए आचार्यचरणों ने मैं मति: कहा है । वे कहते हैं कि, यही मेरी मति है अतः स्वमार्गीयों को यही करना चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं, यह भाव है ।

श्रीमदाचार्यचरणशरणमरणेन मे ।

हृदयाता प्रणालीयं ग्रन्थस्याध्वानुसारिणी ॥ १ ॥

भक्तिमार्गं स्वकीयस्य दाढ़ीर्थं सर्वथा इमे ।

अपेक्षिता विवेकाचायासन्वेतदर्थं तदाश्रयः ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणीरिति ते वर्णिताः मुट्टम् ।

अतस्त एव चरणास्तदर्थं शरणं मम ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपीशचरणविरचिता

विवेकधैर्याश्रयविवृतिः

सम्पूर्णा ।

श्रीभद्राचार्यरशेना शरणना स्मरणथी,

ग्रंथमां क्षेत्र भागानुसार भारा हृदयमां आ प्राणाती समझमां आवी के, ॥ १ ॥

स्वकीयोने भक्तिमार्गमां दृढ़ता माटे भगवदाश्रय सर्वथा आपश्यक छे,

अने आज आश्रय माटे आ विवेक वगेरे पशु सर्वथा जड़ी छे ॥ २ ॥

आ कारणथी आचार्यरशेने तेमने स्पष्टतया कहां छे,

तेथी विवेक-आदि नी सिद्धि माटे तेमनाज रशेकमलो भाड़ शरण थाओ ॥ ३ ॥

“आ श्री धनश्यामात्मज-श्रीगोपीशशरणो द्वारा विरचित विवेकधैर्यश्रव्यनी विवृति संपूर्ण थई”

श्रीमदाचार्यचरणों की शरण के स्मरण से

ग्रंथ में कहे मार्गानुसार मेरे हृदय में यह प्रणाली समझ आई है कि, ॥ १ ॥

रवकीयों को भक्तिमार्ग में दृढ़ता के लिए भगवदाश्रय सर्वथा आवश्यक है

और उसी आश्रय के लिए ये विवेक-आदि भी सर्वथा अपेक्षित हैं ॥ २ ॥

इसी कारण श्रीमदाचार्यचरणों ने इन्हें स्पष्टतया वर्णित किया है ।

अतः विवेक-आदि की सिद्धि के लिए उनके ही चरणारविद मेरी शरण हों ॥ ३ ॥

यह श्रीघनश्यामात्मज-श्रीगोपीशचरणों द्वारा विरचित विवेकधैर्याश्रय की विवृति संपूर्ण हुई ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
 श्रीगोपीजनबहुभाव नमः ।
 श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
 श्रीभगवत्प्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितश्रीबहुभावाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवृतिः ।

शुद्धि शुद्धि

यत्पादाङ्गाश्रावादासन् सर्वे पूर्णमनोरथाः ।

तमेव गोकुलधैर्यां सर्वसिद्धयै समाश्रये ॥ १ ॥

अथ सकलकर्मादिमार्गाधिकारेषु सत्तु भक्तिमार्गानुसारेण भगवदाश्रय एव सर्वपुरुषार्थसाधकस्तदाश्रये च विवेकधैर्ये हेतु । तथाहि । विवेके सति सर्वोत्तमल्लं भगवति ज्ञात्वा तदाश्रयं करोति जीवः । धैर्ये च सति दार्दृष्यं भवति, तेन विवेकधैर्याभ्यामविरतं भगवदाश्रयो भवति तत्र स्वीयानां भक्तिसिद्ध्यर्थं विवेकधैर्याश्रयान् आचार्यां निरूपयन्ति विवेकधैर्ये इति ।

व्येभनां यरण्डकभूतोना आश्रयथी, छ्रुते सर्वे थथा “पूर्णमनोरथ” ।

तेष्व गोकुलाशीशनो, सर्वसिद्धि भाटे आश्रय हुं कङ् ॥ १ ॥

हे ज्ञान-कर्म-उपासना-प्रपत्ति वगेरे समस्त मार्गोना अविकारोभां भक्तिभाग्ने अनुसार भगवद्-आश्रयज्ञ समस्ता पुरुषार्थोनो साधक छे अने आश्रयने सिद्ध करवा भाटे “विवेक” अने “धैर्य” कारणभूत पदार्थ छे. ते अे भाटे के विवेक उत्पन्न थवाथीज्ञ लुप्त भगवानने सर्वथेष्ट ज्ञानीने अभनो आश्रय करे छे. अने धैर्य प्राप्त थर्थं गया पछी ते आश्रयनी दृढता सिद्ध थाय छे. तेथी विवेक-धैर्य द्वारा निरंतर भगवद्-आश्रय सिद्ध थाय छे. आपामां स्वीयज्ञनोनी भक्तिनी सिद्धि भाटे आश्रयथरणो “विवेक” अने “धैर्य” नुं निरूपण विवेकधैर्ये वगेरे शब्दोर्थी करी रख्यां छे.

जिनके चरणकमलों के आश्रय से समस्त जीव ‘पूर्णमनोरथ’ वाले हो गये हैं,

मैं उन्हीं गोकुलाशीश का समस्त-सिद्धि के लिए आश्रय करता हुूँ ॥ १ ॥

अथ ज्ञान-कर्म-उपासना-प्रपत्ति आदि समस्त मार्गों के अधिकारों में भक्तिमार्ग के अनुसार भगवद्-आश्रय ही समस्त पुरुषार्थों का साधक है और आश्रय को सिद्ध करने के लिए ‘विवेक’ और ‘धैर्य’ कारणभूत पदार्थ हैं । वह इस कारण क्योंकि विवेक उत्पन्न होने पर ही जीव भगवान को सर्वथेष्ट जानकर उनका आश्रय करता है और ‘धैर्य’ प्राप्त होने के पश्चात् उस आश्रय की दृढता सिद्ध होती है । अतः विवेक-धैर्य के द्वारा निरंतर भगवद्-आश्रय सिद्ध होता है । ऐसे मैं स्वीयज्ञों को भक्ति की सिद्धि के लिए, आचार्याचरण ‘विवेक’ एवं ‘धैर्य’ का निरूपण विवेकधैर्ये इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरीः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

विवेकधैर्ये निरन्तरं रक्षणीये । आश्रयो भगवदाश्रयः सोपि तथा निरन्तरं रक्षणीय इत्यर्थः । एतेषां रक्षणज्ञैतदनुसन्धानपूर्वकमेव तदनुकूलकृतिकरणम् । मुख्यो भगवदाश्रयः । तदङ्गे च विवेकधैर्ये इति ज्ञापनाय विवेकधैर्ययोरेकपदेन निरूपणम् । आश्रयनिरूपणं चान्येन । तत्र विवेकस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्त्रथम् विवेकं लक्षण्यन्ति विवेकस्त्विति । विवेकस्त्वयमेव, नत्यन्य इत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थस्तुताब्दः । विवेकस्वरूपमाहुर्हरिरिति । हरिः सर्वदुःखहर्ता, तेन यत्करिष्यति तद्वयमेव करिष्यतीतिभावः ।

विवेक अने धैर्यनुं निरंतरं अनुसारण करतां रहेवुं लेल्याए, भगवाननो आश्रय पछ आ रीते निरंतर रक्षणीय छे, ऐसो अर्थ छे. अभनुं रक्षण करवानुं तात्पर्य ए छे के आ त्रिषेणुं अनुसंधान राखीने भगवानने अनुकूल कर्थं करवुं. आ त्रिषेभां भद्रार्थी भुज्य “आश्रय” छे. “विवेक” अने “धैर्य” आश्रयनां अंगभूत तत्त्व छे, तेथी ते बने ऐक व्य पदभां कहेवाया छे, अने आश्रय बीज्ञ पदथी कहेवायो छे. अहीं सर्वप्रथम विवेकधैर्य शङ्कात करवामां आवी छे तेथी पहेला विवेकनुं ज लक्षण

विवेकस्तु शब्दधी आचार्यरणो भतावी रह्यां छे. आ पंक्तिनो अर्थ ए छे के, विवेक तो ऐज छे के भगवान जे करशे, तं पोतानी ईच्छाधी ७ करशे, बीजु डोई शिते नहीं. विवेकनु लक्षण् तो आज छे, अन्य बीजुं नहीं-आ अर्थ “तु” शब्दधी समझय छे. हये आ विवेकनु स्थपृष्ठ शुं छे, ते “हरि:” शब्दधी आचार्यरणो भतावी रह्यां छे. हरि समस्त दुःपोन्तुं हरेण करवावाणा छे एटेवे भगवान वे करशे ते साङ्गं करशे, एवो भाव छे.

विवेक एवं धैर्य का निंतर अनुपरण करते रहना चाहिए। भगवान का आश्रय भी इसी प्रकार निंगन रक्षाग्नीय है, यह अर्थ है। इनका रक्षण करने का तात्पर्य यह है कि, इन तीनों का अनुसंधान रखते हुए भगवान के अनुकूल कार्य करना। इन तीनों में सब से मुख्य ‘आश्रय’ है। ‘विवेक’ एवं ‘धैर्य’ आश्रय के अंगभूत नव्य हैं, इसी कारण ये दोनों एक ही पद में कहे गये हैं, और आश्रय दूसरे पद से कहा गया है। यहाँ सर्वप्रथम विवेक ही से अरंभ किवा गया है अतः पहले विवेक का द्वी लक्षण विवेकस्तु शब्द से किया जा रहा है। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, विवेक तो यही है कि- भगवान जो करेंगे, वह अपनी इच्छा से ही करेंगे। अन्य किसी प्रकार से नहीं। विवेक का लक्षण तो यही है, अन्य कोई नहीं-यह अर्थ ‘तु’ शब्द में ज्ञात होता है। अब इस विवेक का स्वरूप क्या है? यह हरि: शब्द से बता रहे हैं। हरि समस्त दुर्खों का हरण करने वाले हैं अतः जो करेंगे वह अच्छा ही करेंगे, यह भाव है।

तदपि कियत्कार्य कृत्वा निर्वित्तिष्ठत इति नास्तीत्याहुः सर्वमिति। निजेच्छातः स्वेच्छातः। तथा च न प्रार्थनीय इत्यर्थः। अत एव प्रल्हादवचनं, ‘नान्यथा तेऽस्मिलगुरोर्धते करुणात्मनः’। ‘यस्तु आश्रिष्ट आशास्ते न स भूत्यः स वै वर्णिक्,’ अत एव ‘नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्यादसेवाभिरता मदीयाः, येन्योन्यत्वे भागवतप्रधानाः सभाजयन्ते मम पौरुषाणी’त्यादिवाक्यानिं ॥ १ ॥

अर्ही पण, थोड़ां कार्यों कर्त्त्वी पछी ईर्षीधी अन्य बीजुं काम नहीं करे तेम नथी पण समस्त कार्यं सिद्ध करशे - आ अर्थने भतावाना भाटे सर्वभू शब्दनों प्रयोग करेलो छे. निजेच्छातः शब्दनो अर्थ ए छे के, तेओं जे करशे ते तेमनी ईच्छाधीज करशे तेथी तेमने प्रार्थना करवी उचित नथी. आ कारणेण प्रहलादलुभे कहुं छे के, “हे प्रभु! परीक्षा करवा सिवाय बीजुं डोई कारण देवाई नथी रह्युं ज्यां आपना द्वारा भक्तने कष्ट प्राप्त थतुं होय. ऐ सेवक आपनाधी पोतानीं कामनाओं पूर्णं करवा मांगे छे ते सेवक नहीं पण योभ्यो वाहियो छे (श्री. भा. ७/१०/४)” अने भगवाने कहुं छे के “भारी चरणसेवायां प्रीति राख्यावाणा अने भारी प्रसन्नताने भाटे ज समस्त कार्यों करवावाणा परस्पर नित्य भाराज गुणान करे छे, तेओं भने छोड़ीने भोक्षनी ईच्छा पण नथी राखता (श्री. भा. ३/२५ ३४)” ॥ १ ॥

यहाँ भी, कुछ कार्य करने के पश्चात् पिर अन्य दूसरे कार्य नहीं करेंगे, ऐसा नहीं है अपितु समरत कार्य सिद्ध करेंगे-इस अर्थ को बताने के लिए सर्वभू शब्द का प्रयोग किया गया है। निजेच्छातः शब्द का अर्थ यह है कि, वे जो करेंगे वह उनकी इच्छा से ही करेंगे अतः उनसे प्रार्थना करने का कोई औचित्य नहीं है। इसी कारण प्रल्हादजी के ‘हे प्रभु! परीक्षा करने के अतिरिक्त और कोई कारण देवाई नहीं देता जहाँ आपके द्वारा भक्त को कष्ट प्राप्त होता हो। जो सेवक आपसे अपनी कामनाएं पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं अपितु निरा बनिया है (श्री. भा. ७/१०/४)’ इस प्रकार के वाक्य हैं एवं भगवान के ‘मेरी चरणसेवा में प्रीति रखने वाले एवं मेरी प्रसन्नता के लिए ही समस्त कार्य करने वाले परस्पर नित्य मेरा ही गुणान करते हैं, वे मुझे छोड़कर मोक्ष की अपेक्षा भी नहीं रखते (श्री. भा. ३/२५/३४)’ इस प्रकार के वाक्य हैं ॥ १ ॥

ननु सेवकैः प्रभुः प्रार्थनीय एवेति चेत्तत्राहुः प्रार्थिते वेति ।

प्रार्थितेषि ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्राप्यसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वैः हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

प्रार्थितेषि ततः प्रार्थनात् किं स्यान्न किमपीत्यर्थः। तत्र हेतुः स्वाम्यभिप्राप्येति । यतः प्रभोरभिप्राप्यः पूर्वं ज्ञानुमशक्यः, प्रभुश्च स्वाभिप्रेतमेव करिष्यति । लौकिका अपीथरा: स्वतन्त्रा भवन्ति किं पुनः सकललोकमहेश्वरः। ननु निजेच्छातस्तदा करिष्यति यदि सामग्री सहजिता स्यात् । नद्यसमृतसामग्रीकः किमपि कर्तुं शक्नोतीति चेत्तत्राहुः सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्र सर्वस्मिन्नेबोयोर्योग्येषि देशे सर्वयोनिषु च सर्वैः वस्तु सिद्धमेवास्ति, अप्रतिहतेज्जत्वात् । अत एव ‘किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने’ इत्यादि ।

परंतु अर्ही प्रक्ष ए थाय छे के सेवकों पोताना प्रभुने तो प्रार्थना करताज छोय छे तो पछी अर्ही प्रार्थनानो निषेध केम करवाणा आवी रह्यो छे? तो ऐनो उत्तर प्रार्थिते वा पगरे शब्दधी आचार्यरणो आपी रह्यां छे. आ पंक्तिनो अर्थ ए

छे के, प्रभुने ग्रार्थना करीने पशु छेषे थशे शु ? काई पशु नहीं, ऐवो अर्थ छे. केम नहीं थाय ? आनुं कारण आचार्यरङ्गोमे स्वाभिप्राय वगेरे १०८०थी कहुं छे. आनो अर्थ ए छे के प्रभुनो अभिप्राय शु छे ? ए पहेलेथीज जाइ लेवुं संभव नथी, अने प्रभु पशु तेज करशे ज्वे तेओ ईच्छशे. लौडिक रवामी पशु आ अर्थमां स्वतंत्रज होय छे. तेमने पशु कोई प्रकार बांधी नथी शकता तो पुष्टिप्रभुतो समस्त लोकमां भेष्यश्वर छे, तेथी ज्वे एमने अभिप्रेत हशे तेज करशे. आवामां शंका ए थाय छे ते, चालो मानी लीधुं ते तेओ ज्वे करशे पोतामी ईच्छाथी ज्वे करशे परंतु करशे पशु त्यारेज, ज्यारे करवा भाटे तेमनी पासे सामग्री उपलब्ध थशे. ज्वे सामग्रीज न होय तो त्यारे केवी रीते करशे ? केम्हे उपभुक्त सामग्रीना वगर तो कोई पशु कोई कार्य नथी करी शकतुं. तो आ शंकानुं समाधान सर्वत्र वगेरे शब्दोथी आचार्यरङ्गो करी रह्यां छे. आ पंडितनो अर्थ ए छे के, भगवान जाटे अनुपयुक्त स्थान पर पशु अने समस्त प्राणियोमां सर्वत्र बधीज वस्तु सिद्ध ज्वे केम्हे एमनी ईच्छा ने कोई रोकी नथी शकतुं. आज कारणे श्रीमद्भागवतमां “भगवान प्रसन्न थई गथा पछी एवी कई वस्तु छे, ज्वे प्राप नथी थई शकती ? (श्री. भा. १०/३८/२)” आ वाक्य कहेलुं छे.

परंतु यह प्रश्न यह होता है कि सेवक अपने प्रभु से तो ग्रार्थना करते ही हैं तो फिर यहाँ ग्रार्थना का निषेध क्यों किया जा रहा है ? तो आचार्यरङ्ग इसका उत्तर प्रार्थिते वा इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, प्रभु से ग्रार्थना करने पर भी अंततोगत्वा होगा क्या ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। क्यों नहीं होगा ? इसका कारण उन्होंने स्वाभिप्राय इत्यादि शब्दों से दिया है। इसका अर्थ यह है कि, प्रभु का अभिप्राय क्या है ? यह पहले ही से जान लेना संभव नहीं होता, और प्रभु भी वही करेंगे जो वे चाहेंगे। लौकिक स्वामी भी इस अर्थ में स्वतंत्र ही होते हैं, उहें किसी प्रकार से बाँधा नहीं जा सकता तो पुष्टि-प्रभु तो समर्त तोक में महेश्वर हैं, अतः जो इन्हें अभिप्रेत होगा, वही करेंगे। ऐसे में शंका यह होती है कि, चलिए मान लिया कि वे जो करेंगे अपनी इच्छा से ही करेंगे परंतु करेंगे भी तो तभी, जब करने के लिए उनके पास सामग्री उपलब्ध होगी। यदि सामग्री ही न हो तब कैसे करेंगे ? क्योंकि उपयुक्त सामग्री के बिना तो कोई भी कार्य नहीं कर सकता। तो इस शंका का समाधान आचार्यरङ्ग सर्वत्र इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, भगवान के लिए अनुपयुक्त स्थान पर भी एवं समस्त प्राणियों में सर्वत्र सभी वस्तु सिद्ध ही है यर्क्योंकि उनकी इच्छा को कोई रोक नहीं सकता। इसी कारण श्रीमद्भागवत में “भगवान के प्रसन्न हो जाने पर फिर कौन सी वस्तु है, जो प्राप नहीं हो सकती ? (श्री. भा. १०/३९/२)” यह वाक्य कहा गया है।

ननु सम्भृतसामग्रीकोपि यदि स्वयमसमर्थः स्यात् तदा कर्तुं कुर्यात्तत्राहुः सर्वैति । ‘यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरितिश्रुतेः । सर्वप्रकारकं सामर्थ्यं विद्यत इति साधनन्यूनत्वे साधनमपि सम्पाद्य फलं दातुं समर्थः । साधन विनापि फलं दातुं समर्थ इत्यर्थः । अत एव ब्रजवासिभ्यो निःसाधनेभ्य एव फलं दत्तवान् । ’तेनावीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः । अब्रतातसतपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः । केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः स्वगा मृगाः । येन्ये मूढियो नामाः सिद्धा मामीयुरज्ज्वले त्यादिवाक्यात् । अत एव निर्द्वारक एवकारः । चकारादिच्छापि । नहीञ्जां विना कोपि किप्रपि करोति ॥ २ ॥

पशु अहीं एक शंका थाय छे के, ज्वे भगवद्कृपाथी धोअथ सामग्री उपलब्ध थई पशु ज्वे ज्वे, छतां पशु ज्वे आपहो स्वधं ते कार्य ने सिद्ध करवामां असमर्थ होइच्ये, तो शुं करवुं ? तो अनुं समाधान आचार्यरङ्गो सर्व ईत्यादि शब्द थी करे छे. “भगवान बधुं ज्वे ज्वे अने सर्वशक्तिमान छे” आ श्रुति अनुसार प्रभुभां बधा प्रकारनुं सामर्थ्य छे तेथी ज्वे लुप साधनसंप्रक्ष न होय, तो ते साधनो पशु संपादित करीने क्षण आपवामां समर्थ छे. तेलुं ज्वे नहीं पशु साधन वगर पशु क्षण देवामां समर्थ छे, आवो अर्थ छे. आज कारणे निःसाधन ब्रजवासीओने पशु एमाझे क्षलदान कर्त्तु. श्रीमद्भागवतमां “ब्रजवासीओने न तो वेदनुं अध्ययन कर्त्तु, न कोई महापुरुषनी उपासना करी, तेमणे व्रत-तपस्या पशु नहोती करी. तेवण सत्संगथी ज्वे एमणे मने प्राप करी लीघो. गोपीओ, गायो, वृक्ष, पशु, काणीयनाम वगेरे तो सर्वथा साधनहीन अने भूढ हुता. तेमणे तो तेवण भावधी भारी प्रापि करी लीघी” (श्री. भा. ११/१२/७८) - आ वाक्य द्वारा पशु आज सिद्ध थाय छे. “ऐव” शब्द पशु आज अर्थ ने सुदृढ करी रह्यो छे. भगवान्नी ईच्छा पशु स्वीयवन्नो पर इपा करवानी रहे छे, आ “च” शब्दना प्रयोग द्वारा समझ लेवुं ज्वेही केम्हे ईच्छा थथा वगर तो कोई पशु कई करवुं नथी ॥ २ ॥

किंतु यहाँ एक शंका होती है कि, यदि भगवद्-कृपा से योग्य सामग्री भी उपलब्ध हो जाय, तथापि यदि हम स्वयं उस कार्य को सिद्ध करने में असमर्थ हों, तब क्या करना ? तो इसका समाधान सर्व शब्द से किया है । “भगवान सभी कुछ जानते हैं एवं सर्वशक्तिमान हैं” इस श्रुति के अनुसार उनमें सभी प्रकार की सामर्थ्य है अतः यदि जीव साधनसंप्रक्ष न हो, तो वे साधन भी संपादित करके फल देने

में समर्थ हैं। और तो और, साधन के बिना भी फल देने में समर्थ हैं, यह अर्थ है। इसीकारण निःसाधन ब्रजवासियों को भी उन्होंने फलदान किया। श्रीमद्-भागवत के 'ब्रजवासियों ने न तो वेद का अध्ययन किया न किसी महामुख की उपासना की। उन्होंने ब्रन्-तपस्या भी नहीं की थी। केवल सत्संग से उन्होंने मुझे प्राप्त कर लिया। गोपिण्याँ, गायें, वृक्ष, पशु, कालिया नाग इत्यादि तो सर्वथा साधनर्हन एवं मृढ़ थे। इन्होंने तो केवल भाव से मेरी प्राप्ति कर ली (श्री. भा. ११/१२/७८)।' इस वाक्य द्वारा भी यही सिद्ध होता है। 'एव' शब्द भी इसी अर्थ को सुनूड़ कर रहा है। भगवान की इच्छा भी स्वीकृतजनों पर कृपा करने की रहती है, यह 'च' शब्द के प्रयोग द्वारा जान लेना चाहिए क्योंकि इच्छा हुए बिना तो कोई भी कुछ भी नहीं करता ॥ २ ॥

भगवद्गीता विविच्य जीवधर्मान् विवेचयन्त्यभिमानश्चेति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

विशेषतत्त्वेदज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

सेवकैः सर्वदा स्वाम्यधीनत्वमेव मनसि भावनीयं दासधर्मत्वात् । त्व्यवलोपेषणश्चमी । तथा च स्वाम्यधीनत्वभावनं प्राप्य अभिमानः सर्वथा सम्यक् त्वाज्यः । सवासनस्त्याज्य इत्युपसर्गः । अथवा, लौकिकस्त्वाज्यो नत्वलौकिक इति विवेकार्थमुपसर्गः । चकारादन्येषि कामक्रोधादयः ।

भगवानना आधर्मोनी विवेचना करीने हुवे लुधने भट्टे क्या धर्मो ज़रूरी छे, तेनी विवेचना अभिभानश्च वगेरे शब्दो द्वारा कृत्वामां आपी रही छे।

सेवकों भनमां सर्वदा स्वामीनी अधीनतानी न भावना करवी ज्ञेयेभे केमके घेमनो दासधर्म आज छे, अहीं "भावनात्" शब्दमां "त्व्य्" प्रत्ययनो लोप थर्थ गया पछी पंचभीविभक्ति थर्थ छे, आ प्रकारे ए अर्थ थाय छे के- पोताना स्वामी (भगवान)नी अधीनतानी भावना करता करता अभिभानने भधी रीते छोड़ी देवुं लेईये, वासनानी लेडे त्याग करवो ज्ञेयेभे, आज कारणाथी "त्वाज्यः" शब्दमां "सम्" उपसर्गनो प्रयोग छे, अथवा एम अर्थ कर्तीलो के लौडिक-अभिभान ने छोड़ी देवुं ज्ञेयेभे, अलौडिक नहीं, आज विवेकने भत्तापवा भट्टे "सम्" उपसर्गनो प्रयोग छे, "च" शब्दथी ए समज्य छे के काम, क्रोध वगेरे भीजा पशु छोड़वा ज्ञेयेभे.

भगवान के इन धर्मों की विवेचना कर के अब जीव के लिए कौन से धर्म आवश्यक हैं - इसकी विवेचना अभिमानश्च इत्यादि शब्दों से की जा रही है ।

सेवकों को मन में सर्वदा स्वामी की अधीनता की ही भावना करनी चाहिए क्योंकि उनका दासधर्म यही है। यहाँ 'भावनात्' शब्द में 'त्व्य्' प्रत्यय का लोप हो जाने के पश्चात् पंचमीविभक्ति हुई है। इस प्रकार अर्थ यह बनता है कि-अपने स्वामी (भगवान) की अधीनता की भावना करते हुए अभिमान का भलीभांतिपूर्वक सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। वासना के सहित त्याग करना चाहिए, इनी कारण 'त्वाज्यः' शब्द में 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग है। अथवा यों अर्थ कर लें कि लौकिक-अभिमान त्याग देना चाहिए, अलौकिक नहीं। इसी विवेक के बताने के लिए 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग है। 'च' शब्द से यह ज्ञात होता है कि काम, क्रोध आदि अन्य दोष भी त्याग देने चाहिए।

ननु भगवदीयानां लौकिकं वैदिकं वा यदि विशेषतः कार्यं कर्तव्यं स्यात् तदा केन प्रकारेण कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्विशेषतत्त्वेऽदिति । यदि विशेषतो भगवदाज्ञा स्यात्, तदा विशेषः प्रकारः: सर्वोपि कर्तव्यः । न तु भगवदाज्ञां विना । साप्यन्तःकरणपूर्विका न तु क्रोधेन परिहसेन वा, तदाहुरन्तःकरणगोचर इति ।

अहीं ऐक प्रश्न ए थाय छे के, जे भगवदीयेने लौडिक अथवा अलौडिक कोई विशेष कार्य कर्तव्यक्षेपे करवानुं होय तो कैरीते करवुं ज्ञेयेभे ? तो आनो उत्तर आयार्यवर्यराशो विशेषतत्त्वे वगेरे शब्दोथी आपी रहां छे, आ पंक्तिनो भावार्थ ए छे के, जे भगवाननी कोई विशेष आज्ञा थर्थ ज्ञाय, त्यारे तो तेज विशेष प्रकारे करवुं ज्ञेयेभे परंतु भगवदाज्ञा वगर नहीं, ते भगवद्वाज्ञा पशु आपशां अन्तःकरणमांज्ज सुरित थवी ज्ञेयेभे, एम नहीं के कोधना आवेशमां अथवा हास-परिहास मां चित्तमां उला थता कोई भावने आपशे भगवदाज्ञा मानी लईये.

आ वात आयार्यवर्यराशो "अन्तःकरणः" गोचर शब्द द्वारा कही रख्यां छे, (टीकाकारनी "सा...वा" सुधीनी पंक्तिनो वील रीते पशु अर्थ थर्थ शके छे, ते ए प्रकारे के - "आ आवश्यक छे के भगवद्वाज्ञा अन्तःकरणमां सुरित थवी ज्ञेयेभे, एम नहीं के प्रभुना ज्ञेयेभे सानुभावनी दशामां प्रभु जे कोधमां आवीने अथवा हास-परिहासमां प्रभु आज्ञा करे छे तो तेनु अनुकरण करी देखामां आवे." अहींपा ८४ वैष्णवोंनी वार्ता मां भटे रामदासल नो एक प्रसंग ध्यान राखवानो छे, भोटा रामदासल

महाप्रभुलुनी आज्ञानुसार राज्यभोग समये नेत्र वंध राज्य प्रभुने पंखो करता हता - एक समय स्वयं प्रभुने तेमने आज्ञा कर्दीकै, तेच्यो नेत्रो भौती तेमने राज्यभोग आरोग्यां बुअे. त्यारे गोटा रामदासलुचे श्रीमहाप्रभुलुनी आज्ञा लंगुं कारण भतावीने प्रभु आज्ञा न मानी. कहेवानो अर्थ ए छे के प्रभुनी लीला तो कई पश थर्ड शडे छे, पश ज्यां सुधी अन्तःकरणमां प्रभु आज्ञा न करे त्यां सुधी तेने भगवद्व्याज्ञा न मानवी लेर्दीचे, ऐवो अर्थ छे)

यहाँ एक प्रम यह होता है कि, यदि भगवदीयों को लौकिक या अलौकिक काई विशेष कार्य कर्तव्यरूप से करना हो तो किस प्रकार से करना चाहिए ? तो इसका उत्तर आचार्यचरण विशेषतश्चेत् इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि, यदि भगवान की कोई विशेष-आज्ञा हो जाय, तब तो उसी विशेष प्रकार से करना चाहिए, परंतु भगवद्-आज्ञा के द्विना नहीं। वह भगवद्-आज्ञा भी हमारे अन्तःकरण में ही सुरित होनी चाहिए, यह नहीं कि क्रोध के आवेश में या हास-परिहास के द्वारा चित्र में उठते हुए किसी भाव को हम भगवद्-आज्ञा मान लें। यह बात आचार्यचरण अन्तःकरणगोचर शब्द द्वारा कह रहे हैं। टीकाकार की 'सा.....वा' इस पंक्ति का अर्थ दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि - 'यह आवश्यक है कि भगवद्-आज्ञा अन्तःकरण में सुरित होनी चाहिए', यह नहीं कि प्रभु से सानुभाव की दशा में प्रभु यदि क्रोध में आकर या हास-परिहास में कोई आज्ञा करते हैं तो उसका अनुकरण कर लिया जाय। यहाँ चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अंतर्गत बडे रामदास जी का एक प्रसंग ध्यातव्य है। बडे रामदास जी महाप्रभुजी की आज्ञानुसार राजभोग के समय नेत्र बंद रख कर प्रभुको पंखा किया करते थे। एक समय रथयं प्रभु ने उन्हें आज्ञा दी कि, वे नेत्र खोलकर उन्हें राजभोग अरोगते हुए देखें। तब बडे रामदासजी ने श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा-भंग होने का करण बताते हुए प्रभु-आज्ञा नहीं मानी। कहने का अर्थ यह कि प्रभु की लीला तो कुछ भी हो सकती है परंतु जब तक अन्तःकरण में प्रभु आज्ञा न करें तब तक उसे भगवद्-आज्ञा नहीं माननी चाहिए, यह अर्थ है।

अजहस्त्रिमिदं पदम् । तेन लौकिक आवश्यके व्यवहारे नाज्ञाएक्षा, वैदिकेपि नित्यर्कमणि वेदरूपसामान्याङ्गैव तत्करणम् । तस्माद्गवदीयानां लौकिके वैदिके वा विशेषकार्ये कर्तव्ये भगवदाज्ञापेक्षा ।

"अन्तःकरणगोचर" पदमां "गोचर" पद "अजहस्त-लिंग" पद छे अने तेज कारणे ते शब्द आज्ञा शब्दनुं विशेषण होवा छतां पश बदलायो नथी। (चाचा गोपीशलुनी टीकामां "गोपलार्थ" शब्दना विवरणमां आ वात समजलवप्यामां आवी छे के विशेषण अने विशेष्य समान-वचन, समान विभक्ति अने समान-लिंगानां होय छे। स्त्रीलिंग शब्दनुं विशेषण पुळिंगमां नथी होई शक्तु अने पुळिंग शब्दनुं विशेषण नपुऱ्सक लिंगमां नथी होई शक्तुं वगेरे। आज वातानुं ध्यान राखीने मूलयंत्रना त्रील २लोकनो अर्थ करो। अर्थ ए छे के, भगवान्नी विशेष आज्ञा अने मानवी लेर्दीये जे अन्तःकरणगोचर होय। अहीं समझे के आज्ञा डेवी होवी लेर्दीये, तो कहुं के अन्तःकरणगोचर होवी लेर्दीये, तो अहींया आज्ञा "विशेष्य" छे अने अन्तःकरण गोचर "विशेषण" छे। तेथी जे "आज्ञा" स्त्रीलिंग शब्द छे तो "अन्तःकरणगोचर" शब्द न थर्डने "अन्तःकरणगोचरा" शब्द होनो लेर्दीये, परंतु तेम नथी। आनुं कारण भतावता टीकाकार कहे छे के "गोचर" शब्द "अन्तःहस्त-लिंग" नो शब्द छे। अजहस्त लिंग अने कहे छे के जेने भदे फोई पश शब्द साथै लेडी देवामां आवे परंतु बधी परिस्थितियोमां अनुं स्वत्रृप एक समान ज रहेशे, बहलाशे नहीं। आज कारणे अहीं "गोचर" ज कहीने "गोचर" ज कहुं छे, ए अर्थ छे) तेथी उपर्युक्त विवेचनोथी ए सिद्ध रथ्युं के अवश्यक लौकिक व्यवहारोमां भगवद्-आज्ञा अपेक्षित नथी होती अने नित्यना वैदिक कहों ने करवानी तो भगवद्वाज्ञा छे ज तेथी तेमने सामान्यक्षे करता। रहेहुं लेर्दीये। (तेमनामां निष्ठा न राखी लेर्दीये)। आज कारणे भगवदीयो ने लौकिक वैदिक सामान्य कार्यों मां तो नहीं पश विशेष कार्यों मां भगवद् आज्ञानी जड़रियात होय छे। (अहीं विशेष कार्यों भाटे ए अर्थ देवो लेर्दीये के जे कार्यों नित्यकमधी अलग होय तो तेमने विशेष कार्यों कही शकाये छे, जेम वार्ता प्रसंगोमां कुञ्जनदासलुनी वार्तामां आवे छे के तेमने सूतकमां दर्शन करावपामां आव्या। जेम एक स्त्री-वैष्णवने रघुस्वता थवा पर पश सेवानी आज्ञा आपवामां आवी। जेम श्रीगुंसार्दिलुचे नंदभहोत्सवना प्रसंगमां सूतक होवा छतां पश डेवण गिरिधरलुने प्रभुस्पर्शनी अनुभति आपी, वगेरे).

'अन्तःकरणगोचरः' पद में 'गोचर' पद 'अजहस्त-लिंग' पद है और इसी करण 'आज्ञा' शब्द का विशेषण होते हुए भी बदला नहीं है। चाचा गोपीशशी भी टीका में 'गोपभार्य' शब्द के विवरण में यह बात समझायी जा चुकी है कि विशेषण और विशेष्य समान-विभक्ति एवं समान-लिंग के होते हैं। स्त्रीलिंग शब्द का विशेषण पुळिंग में नहीं हो सकता और पुळिंग शब्द का विशेषण नपुऱ्सक लिंग में नहीं हो सकता इत्यादि। इसी बात का ध्यान रखते हुए मूलग्रंथ के तीसरे श्लोक का अर्थ करें। अर्थ यह है कि, भगवान की विशेष

आज्ञा उसे माननी चाहिए जो अन्तकरणगोचर हो । यहाँ समझें कि, आज्ञा कैसी होनी चाहिए ? तो कहा कि अन्तःकरणगोचर होनी चाहिए । तो यहाँ आज्ञा विशेष्य है एवं अन्तःकरणगोचर 'विशेषण' है । अतः यदि 'आज्ञा' स्थीलिंग शब्द है तो 'अन्तःकरणगोचर' शब्द न होकर 'अन्तःकरणगोचरा' शब्द होना चाहिए, परंतु नहीं है । इसका कारण बताते हुए टीकाकार कहते हैं कि 'गोचर' शब्द 'अजहन्त-लिंग' का शब्द है । अहजत्-लिंग उसे कहते हैं जो चाहे किसी भी शब्द के साथ प्रयुक्त कर दिया जाय परंतु सभी परिस्थितियों में उसका स्वरूप एक समान ही रहेगा, बदलेगा नहीं । इसी कारण यहाँ 'गोचरा' न कहकर 'गोचर' ही काहा गया है, यह अर्थ है । अतः उपर्युक्त विवेचनों से यह सिद्ध हुआ कि आवश्यक लौकिक व्यवहार में प्रभु-आज्ञा अपेक्षित नहीं होती और नित्य के वैदिक कर्मों को करना तो भगवान की आज्ञा है ही अतः उन्हें सामान्यरूप से करते रहना चाहिए, उनमें निश्च नहीं रखनी चाहिए । इसी कारण भगवदीयों को लौकिक वैदिक सामान्य कार्यों में तो नहीं परंतु विशेष कार्यों में भगवद्-आज्ञा की अपेक्षा आवश्यक है । यहाँ विशेष कार्यों के लिए यह अर्थ लेना चाहिए कि, जो कार्य नित्यक्रम से हटकर करने हों तो उन्हें विशेष कार्य कहा जा सकता है । जैसे वार्ताप्रसंगों में कुंभमदासजी की वार्ता में आता है कि उन्हें सूक्त में दर्शन कराए गये । जैसे एक स्त्री-वैष्णव को रजस्त्वा होने पर भी सेवा की आज्ञा दी गई । जैसे श्रीगुरुसाइंजी ने नंदमहोत्सव के प्रसाग में सूतक होते हुए भी केवल गिरिधरजी को प्रभु-स्वर्ण की अनुमति दी, इत्यादि ।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अत एव राजसूयोदयतेन धर्मराजेन विज्ञापितं 'यथे विभूतीर्भवत्' इति । लौकिकेषि पावदावश्यकं तावदेव कर्तव्यमधिकन्तु भगवदाज्ञातः । मर्तिर्गमनम्, तेन विशेषगतिस्तीर्थादियात्रा । आदिपदाद्यन्दियागान्तुकम् । तथा च, यत्क्षिद्विद्यागन्तुकं कार्यं, तत्र भगवदाज्ञापेक्षा । उत्पत्त्यर्थस्य★भूधातोर्ये, तत्य भावयत्युत्पादयतीत्यर्थः । तथा च भाव्यते क्रियत इति भाव्यं कर्तव्यमित्यर्थः ।

तेथीज्ज २५७सूत्र खण्ड ५२४ भाष्टे धर्मराज्ज धुविष्ठिरे "हुं आपनी विभूतियों नो यक्ष करवा भांगुं धुं" (श्री. भा. १०/७२/३) आ वाक्य द्वारा भगवाननी अनुमति लीकी । तेथी लौडिकमां पण जे काई आवश्यक होय तेज्ज करवुं जोर्छे, अने वधारे काईक करवा भाष्टे भगवद्-आज्ञा होय तो करवुं जोर्छे । "गतिः" नो अर्थ छे, गमन करवुं (जपुं). आप अर्थस्थी विशेषगतिन्दु तात्पर्य छे-तीर्थादिकोनी यात्रा पर जपुं । "आदि" शब्दस्थी ते कार्यों ज्ञानां जोर्छे, वे अचानक उपस्थित थर्ट जतां होय. आनाथी अे समझाय छे के, अचानक अेवां कोई पण कार्य आवी पडे तो तेमां भगवद्-आज्ञा लेवी आवश्यक छे । "भाव्यं" शब्दनो अर्थ समझे. दोई पण वस्तुनी उत्पत्ति थवाना अर्थमां "भू" धातू ज्ञेऽ "४४" प्रत्यय करीने "भाव्यं" शब्द बने छे. ज्ञेनाथी भावना करवामां आवे अथवा ज्ञेनाथी कोई वस्तुने उत्पन्न करवामां आवे ते कियाने "भाव्यं" कहे छे. तेथी "भाव्यं" नो अर्थ थथो- "भेवी भावना करवी लेर्नेहो" ।

अतपि राजसूय-यज्ञ करने के लिए धर्मराज युविष्ठिरे ने "मैं आपकी विभूतियों का यज्ञ करना चाहता हूं (श्री. भा. १०/७२/३)" इस वाक्य द्वारा भगवान की अनुमति ली । अतः लौकिक मैं भी जो कुछ आवश्यक हो वही करना चाहिए, और अधिक कुछ करने के लिए भगवद्-आज्ञा द्वारा । 'गतिः' का अर्थ है, गमन करना जाना । इस अर्थ से विशेषगति का तात्पर्य है- नीर्थादिकों की यात्रा पर जाना । इसमैं भी भगवद्-आज्ञा अपेक्षित है । 'आदि' पद से वे कार्य जाने चाहिए, जो अचानक उपस्थित हो जाते हों । इससे यह ज्ञात होता है कि, अचानक ऐसे जो कोई भी कार्य आ पड़े, उनमें भगवद्-आज्ञा लेनी आवश्यक है । 'भाव्यं' शब्द का अर्थ समझो । किसी भी वस्तु की उत्पत्ति होने के अर्थ में "भू" धातू से "४४" प्रत्यय करके "भाव्यं" शब्द बनता है । जिससे भावना की जाय अथवा जिससे किसी वस्तु की उत्पन्न किया जाय उस क्रिया को "भाव्यं" कहा जाता है, यह अर्थ है । अतः 'भाव्यं' का अर्थ हआ- 'ऐसी भावना करनी चाहिए' ।

ननु पुत्रादीनामुपनयनविवाहादावज्ञामपेक्षेत न वेत्याङ्गज्ञ, नेत्युहुभिर्जन्तु दैहिकादिति, दैहिकाद्विभव विशेषकार्यमाज्ञाय कर्तव्यं ननु दैहिकमित्यर्थः । तु शब्दः सन्देहवारकः, तेन पुत्रादीनामुपनयनविवाहादिकरणे नाङ्गापेक्षा, किन्तु निर्वाहमात्रं कर्तव्यं । न त्वधिको वृथा व्यादिः कर्तव्यः । ननु विपदादौ कथं व्यवहर्त्यमिति तत्राहुरपद्रत्यादीति । आपद्रतिरापत्यासिस्तत्र यानि कार्याणि तेषु होते न कार्यः, किन्तु यथा सौकर्यमेव विधेयम् । आदिपदाद्यगवदाज्ञा, आनार्याज्ञा, भगवदीयानामाग्रहः । तेष्वपि स्वकीयो हठो न कार्यः ।

अहीं एक शंका अे थाथ छे के पुन्र-वर्गेरे परिवर्तननो ना उपनयन संस्कार अथवा तो विवाह ज्ञेवा कार्यों भां भगवाननी

આજ્ઞાની આવશ્યકતા છે કે નહીં ? તો આચાર્યચરણોએ “ના” કહેવા માટે ભિન્નન્તુ દૈહિકાત્મ વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે. એવો વિરોધ કર્યો જે દૈહિક કાર્યોથી ભિન્ન હોય તેમેને ભગવદ्-આજ્ઞા લઈએ, દૈહિક-કાર્યોમાં તેની જરૂર નથી - એવો અર્થ છે. “તુ” શબ્દ આ અર્થમાં રહેલા સેફેન્નું નિવારણ કરે છે. તેથી એ નક્કી થયું કે પુત્ર વગેરે પરિવારજનના ઉપનયન, વિવાહ વગેરે કાર્યો કરવામાં (પ્રત્યક્ષરૂપથી અથવા અન્ત:કરણગોરત્પથી) ભગવદ्-આજ્ઞાની અપેક્ષા નથી. આ કાર્યોનો નિર્વાહ માત્ર કરી દેલો જેઠીએ, ધનનો અધિક નકારો વ્યય ન કરવો જેઠીએ. હવે પ્રક્રષ્ટે થાય છે કે જે કોઈ વિપત્તિ આવી પડે તો પછી કઈ રીતે વ્યવહાર કરવો ? તો એનું સમાધાન “આપદ્રત્યાદિ” વગેરે વાક્યો થી કરી રહ્યા છે. આનો અર્થ એ છે કે વિપત્તિને સમયે આ કાર્યો માં કોઈ પ્રકારે હઠ ન કરવી જેઠીએ, પરંતુ જે પ્રકારે સુગમતા હોય, તે પ્રમાણે કરવું જેઠીએ. (અર્થાત् “આપત્તિકાલે મર્યાદા નાસ્તિ” વાક્યાનુસાર આવા સમયમાં કોઈ નિયમ કે બંધન રાખવાની હઠ ન કરવી જેઠીએ. કહેવાનું તાત્પર્ય એ છે કે “માર્ગની રીતો એજ છે તેથી આજ કરવાનું છે”, “આખું કરવાથી નિયમભંગ થશે”, “આ શાસ્ત્રની વિદ્ધ છે” આ પ્રકારે હઠ ન રાખવી જેઠીએ. આવો અર્થ છે. પણ સ્મરણ રહે કે આ ઉપદેશ ડેવળ આપત્તિકાળ માટેજ છે, રોજબરોજની સામાન્ય પરિસ્થિતિ માટે નહીં.) અહીં “આપદ્રત્યાદિ” પદમાં યોજનેથાં “આદિ” પદનો અર્થ છે ભગવદ्-આજ્ઞા, આચાર્યચરણોની આજ્ઞા અને ભગવદીયોને આજ્ઞા; આ નશેમાં આપણે હઠ ન કરવી જેઠીએ.

યહું એક શંકા યહ હોતી હૈ કે પુત્ર-આદિ પરિવારજનોએ કે ઉપનયનસંસ્કાર યા ફિર વિવાહ જૈસે કાર્યો મં ભગવાન કી આજા કી આવશ્યકતા હૈ યા નહીં ? તો આચાર્યચરણ ‘નહીં’ કહને કે લિએ ભિન્નન્તુ દૈહિકાત્મ ઇત્યાદિ શબ્દોસે કહ રહે હોય. એસા વિરોધ કાર્ય જો કે દૈહિક-કાર્યોસે મિશ્ર હો, ઉસે ભગવદ्-આજ્ઞા લેકર કરના ચાહેલા, દૈહિક કાર્યોસે લિએ નહીં, યહ અર્થ હૈ. ‘તુ’ શબ્દ ઇસ અર્થ મેં રહે સંદેહ કા નિવારક હૈ. અત: યહ સિદ્ધ હુआ કે પુત્ર આદિ પરિવારજન કે ઉપનયન, વિવાહ આદિ કાર્યોસે કરને મં (પ્રત્યક્ષરૂપ સે યા અન્ત:કરણ ગોચરરૂપ સે) ભગવદ्-આજ્ઞા કી અપેક્ષા નહીં હૈ. ઇન કાર્યોસે નિર્વાહ માત્ર કર લેના ચાહેલા, ધન કા અધિક વ્યથા વ્યય નહીં કરના ચાહેલા. અને ગ્રસ યહ હોતા હૈ કે, યદિ કોઈ વિપત્તિ આ પડે તો ફિર પ્રકાર સે વ્યયહાર કરના ? તો ઇસકા સમાધાન ‘આપદ્રત્યાદિ ઇત્યાદિ વાક્યોસે કર રહે હોય’. ઇસકા અર્થ યહ હૈ કે વિપદા કે સમય ઇન કાર્યોસે કિસી પ્રકાર કા હઠ નહીં કરના ચાહેલા, કિંતુ જિસ પ્રકાર સુગમતા હો, વૈસે કરના ચાહેલા. અર્થાત् ‘આપત્તિકાલે મર્યાદા નાસ્તિ’ વાક્યાનુસાર ઐસે સમય મેં કિસી નિયમ યા બંધન રહેને કા હઠ નહીં રહ્યા ચાહેલા. કહને કા તાત્પર્ય યદ કે ‘માર્ગ કી વિધિ તો યદી હૈ અત: યદી કરના હૈ’, ‘શેષ કરને સે નિયમ ખંગ હોગા’ ‘યહ શાસ્ત્ર કે વિશ્વદ્વાર્ય હૈ’ ઇસ પ્રકાર કા હઠ નહીં રહ્યા ચાહેલા, યહ અર્થ હૈ. કિંતુ સરણ રહે કે, યહ ઉપદેશ કેવેલ આપત્તિકાલ કે લિએ હી હૈ, દૈનંદિની સામાન્ય પરિસ્થિતિ કે લિએ નહીં. યહું “આપદ્રત્યાદિ” પદ મેં પ્રયુક્ત હુએ ‘આદિ’ પદ કા અર્થ હૈ ભગવદ्-આજ્ઞા, આચાર્યચરણોસે આજ્ઞા ઔર ભગવાદીયોસે આગ્રહ; ઇન તીનોસે મેં હૈએ હઠ નહીં કરના ચાહેલા.

પરંતુ એક પ્રક્રષ્ટે એ થાય છે કે, વિપત્તિમાં હઠ કરવામાં પણ શું નુકસાન છે ? કેમકે ભગવાન તો પોતાના ભક્તોની હઠને પણ સહન કરીને મનોવાંછિત વસ્તુ આપી હોય. ભગવાન ક્યારેય પણ પોતાના જનોની -સ્વકીયોની ઉપેક્ષા નથી કરતા. ભગવાને તો ભગવદ्-ગીતામાં “જે મને જે ભાવથી શરણાગત થાય છે, તેને હું તે ભાવે-પ્રકારે પ્રામ થાઉં છું (ભ. ગી. ૪/૧૧)” આ વાક્ય દ્વારા એવી પ્રતિજ્ઞા પણ કરી છે. જે એવી શંકા કરો તો તમારી વાત સાચી છે. પરંતુ જે કોઈ કાર્ય પોતાની રીતેજ સ્વાભાવિકરૂપથી સંપત્ત થઈ રહ્યું હોય તો પ્રભુને તેવા તુચ્છ કાર્ય માટે કેમ કષ્ટ આપવું ? એ તો અનુચ્છિત જ છે. અને એનું પણ સ્મરણ રાખો કે, જે વિષયમાં હઠ કરવી પ્રભુને સ્વીકાર્ય નથી તે વિષયમાં તેઓ તે હઠને પૂર્ણ નથી કરતા.

પરંતુ એક પ્રશ્ન યદ હોતા હૈ કે, વિપદા મેં હઠ કરને પર ભી ક્યા નુકસાન હૈ ? ક્યાંકે ભગવાન તો અપને ભક્તોસે કા હઠ ભી સહન કરકે મનોવાંછિત વસ્તુ દે દેતે હોય. ભગવાન કરી મી સ્વભાવિકિયોસે કી ઉપેક્ષા નહીં કરતે. ભગવાન ને તો ભગવદ्-ગીતામાં ‘જો મુદ્રે જિસ ભાવ સે શરણાગત હોતા હૈ, ઉસે મેં ઉસી પ્રકાર સે પ્રામ હોતા હૈ’ (ભ. ગી. ૪/૧૧) ઇસ વાક્ય દ્વારા ઐસે પ્રતિજ્ઞા ભી કી હૈ. યદિ ઐસી શંકા કરો તો, આપકી વાત સત્ય હૈ. પરંતુ યદિ કોઈ કાર્ય અપને આપ હી સ્વભાવિકરૂપ સે સંપત્ત હો જા રહ્યો હો તો પ્રભુ કો ઐસે તુચ્છ કાર્ય કે લિએ કયો કષ્ટ દેના ? યદ તો અનુચ્છિત હી હૈ. અને યદ ભી સ્મરણ રહ્યે કે, જિસ વિષય મેં હઠ કરના ભગવાન કો સ્વીકાર્ય નહીં હૈ તું એ ઉસ હઠ કો પૂર્ણ નહીં કરતે।

ननूकमेव मया भगवान् कदाचिदपि प्रपञ्च नोपक्षत इति तत्कथमनिर्बाह इति चेत्, सत्यम् । यदि सर्वथा प्रपञ्चः स्यात् परन्तु भगवदनभिप्रेतस्य करणे प्रपत्तेरेव न्यूनत्वात् । न हि सर्वथा प्रपञ्चोऽयः स भगवदनभिप्रेतं कदाचिदपि करोति । तेन सर्वथा प्रपञ्चभावे भगवतोपि नावश्यको हठिनीर्वाहः । नन्वनभिप्रेतत्वं तेन कथं ज्ञातव्यमज्ञाते तु न तस्य दोष इति चेत्, सत्यम् । तथापि सन्देहेषि हृष्टस्यानुचितत्वादित्यलं विस्तरेण । एतत्सर्वमभिसन्धायाहुः सर्वथेति । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः । तथा च केनापि प्रकारेण हठो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

परंतु ऐ पूर्वपक्षी अेम कहे के- भे तो पहेलेथी अेम कहुं हठुं के भगवान् क्यारेय पण शरणागतोन्नी उपेक्षा नथी करता, तो पछी आप अेम कई रीते कही शको छो के भगवान् तेनी हठनो निर्वाह नहीं करे ? ऐ पूर्वपक्षीनुं आ कथन छे तो सत्य छे, परंतु सत्य त्यारे छे ज्यारे ते पूर्णकृपयी भगवानने शरणागत थयो होय. परंतु जे हठ भगवानने पसंद्यन नथी अने ले ते छाँ पण ते तेज हठ करी रह्यो छे, तो अनी शरणागतिमांज कोई खामी छे, ए समज्य छे. केमडे लेअो भगवानमां पूर्णज्ञपे शरणागत होय छे तेओ भगवानने अप्रिय होय तेवुं कार्य क्यारेय नथी करता. तेथी पूर्ण शरणागति न होवा पर भगवान् भाटे ते हठने निभावती जडी नथी. परंतु अलीं बीजो प्रक्ष एथ थाय छे के, भगवानने अमुक-कार्यो स्वीकार्य नथी - ते केवीरीते समज्य ? अने अक्षानन्थी तेवुं करीये तो दोष तो न लागे ने ? जे अेवी शंका होय तो तमारी वात साच्ची छे परंतु जे आपने हठ करवामां थोडो पण संदेह थर्थ लय के, आ कदाचित् भगवानने स्वीकार्य नहीं थाय, तो ते अनुचित ज छे. हवे आ विषय पर पर्याप्त विवेचन थर्थ चूक्युँ. आज समस्त उपेक्षो ने भतापवा भाटे आचार्यराजोअे सर्वथा पद्नो प्रयोग कर्यो छे.

“सर्वथा” नो अर्थ छे - भधाज अकारोती हठ न कर्तव्यी ज्ञेईये ॥ ४ ॥

किनु यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि-मैने तो पहले ही ये कहा था कि भगवान कर्भी भी शरणागानों की उपेक्षा नहीं करते, तो फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि भगवान उरका निर्वाह नहीं करते ? यदि पूर्वपक्षी का कथन यह है तो मत्य है, परंतु सत्य तय है जब वो पूर्णज्ञप से भगवान के शरणागत हो । परंतु जो हठ भगवान को पसंद ही नहीं है, और यदि वो तव भी हठ कर रहा है, तो उसकी शरणागति मे द्वी कोई कमी है, यह सिद्ध हो जाता है । क्योंकि जो भगवान में पूर्णज्ञप से शरणागत होते हैं, वे भगवान को अप्रिय कार्य कर्मी भी नहीं करते । अतः संपूर्ण ग्रणागति न होने पर भगवान के लिए भी उम हठ को निभाना आवश्यक नहीं है । परंतु यहाँ दूसरा प्रश्न यह होता है कि, भगवान को अमुक कार्य स्वीकार्य नहीं है- यह कैसे जाना जाय ? और अज्ञान से ऐसा करें तब तो दोष नहीं लगेगा न ? यदि ऐसी शंका हो तो आपकी वात गत्य है परंतु यहि आपके हठ करने में आपको थोड़ा भी संदेह हो जाय कि, यह कदाचित् भगवान को स्वीकार्य नहीं होगा, तो वह अनुचित हो है । अब इस विषय पर पर्याप्त विवेचन हो चुका । इन्हीं समस्त उपरेक्षाओं को बनाने के लिए आचार्यचार्यानों ने सर्वथा यह का प्रयोग किया है । ‘सर्वथा’ का अर्थ है- सभी प्रकारों ये हठ नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

एवं भगवत्कृत्येषु विचार्य लौकिकेषु व्यवस्थामाहुरनाग्रहश्चेति ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्मगदर्शनम् ।

विवेकोयं समास्यातो धैर्यन्तु विनिस्त्रप्यते ॥ ५ ॥

सर्वत्रा लौकिके व्यवहारोऽनाग्रहेण कर्तव्यः । किन्चौदासीन्येन व्यवहर्तव्यं, न केवलमौदासिन्यमेव कर्तव्यं लौकिके, किन्तु भक्तिविरोधिलौकिकांशस्य त्यागोपि कर्तव्य इति चकारार्थः । किंव, धर्माणामधर्माणां च पर्यवसानविचारेण तदनुसारेण व्यवहर्त्यमित्यावृद्धर्माधर्माधर्दर्शनमिति । एके स्मार्तधर्मा अपेरे श्रौतधर्मा अन्ये भगवद्धर्मा, ते सर्वेषि सम्पदापतिभेदेन द्विविधाः उत्तरोत्तरबलिष्ठाः । तत्र स्वाधिकारो विचार्यः । यदि भगवदाज्ञा भवति, तदा सापि विचार्या, भगवदिच्छा च विचार्या, आचार्याज्ञा च विचार्या । तथा च धर्माधर्माणां बलाकलमेतत्स्वर्वं च विचार्य यथा क्रियमाणे पर्यवसाने उत्तमं भवति तथा करणीयम् । तेनैवं पदयोजनिका । धर्माणामधर्माणाश्च यदग्रं पर्यवसानं तस्य दर्शनं विचारः कर्तव्य इति शेषः ।

आ प्रकारे भगवत्कृतिअनो विचार करीने हवे आचार्यराजो लौकिक कृतिअनी व्यवस्था अनाग्रहश्च वगेरे शब्दोथी कही रह्यां छे.

सर्वत्र शब्दनो अर्थ छे- लौकिकमां समस्त व्यवहार आग्रहरहित थईने करवा ज्ञेईये. अर्थात् तेभनामां उदासीन रहीने व्यवहार कर्वो ज्ञेईये; अने केवल उदासीनज नहीं पण भक्तिना विशेषी लौकिक-कार्यो ने छोडवां पण जड़ी छे, आ ‘ये

शब्दनोऽर्थं छे. अने धर्म तेमज् अधर्मना परिणामो नो विचार करीने तेने अनुसार व्यवहार करवो ज्ञेये, तेवुं धर्मधर्माग्रदर्शनम् शब्दोथी कहुं छे. एक स्मार्तधर्म होय छे, बीजे श्रौत धर्म होय छे अने त्रीजे भगवद्-धर्म होय छे. आ बधा सुध अने दुःखना भेदथी ऐ प्रकारना होय छे अने उत्तरोत्तर एक बीज थी भगवान छे. (वेदनी ने ऋचाओं ने स्मृति द्वारा अथवा याह करीकरीने लभवामां आवी छे, तेमने स्मृति कहे छे. अने मानवावाणां “स्मार्त” कहेवाय छे. ने ऋचाओंने सांबणी-सांबणीने लभवामां आवी ते “श्रुति” कहेवाई. तेमने मानवावाणां “श्रौत” छे. टीकाकार कहे छे के आ धर्मो उत्तरोत्तर भविष्य छे एटेले स्मार्तधर्म करता श्रौतधर्म अने श्रौतधर्म भगवद्-धर्म भगवान छे, आवो अर्थ छे. आ धर्मोमां आपणा अधिकारनो विचार करी लेवो ज्ञेये. एवामां जे कोई भगवद्दाक्षाया थती होय तो अनो पण विचार करवो ज्ञेये अर्थात् भगवाननी ईरच्छा अने आचार्यरचरणोनी आज्ञा, बने नो विचार करवो ज्ञेये. अने बनेनो विचार कर्त्ता पक्षी धर्मनुं भण अने अधर्मनी निर्भन्ता, आ बधानो विचार करीने वे करवामां परिणाम सुंदर आवत्तु होय, एवुं करवुं ज्ञेये. आ प्रकारे आ बधा पदो ऐ रीते जेडाशे के धर्म अने अधर्मनुं भविष्यमां लेवुं परिणाम आवत्तु होय, तेनो विचार करीने तेना अनुसार करवुं ज्ञेये:

इस प्रकार भगवत्कृतियों का विचार करके अब आचार्यचरण लौकिक कृतियों की व्यवस्था अनाग्रहश्च इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

सर्वत्र शब्द का अर्थ है-लौकिक में समस्त व्यवहार आग्रहरहित रहते हुए करने चाहिए। अर्थात् उनमें उदासीन रहते हुए व्यवहार करना चाहिए, और केवल उदासीन ही नहीं अपितु भक्ति के विशेषी लौकिक कार्यों को त्यागना भी करन्त्य है, यह ‘च’ शब्द का अर्थ है। और, धर्म एवं अर्थम् के परिणाम का विचार करके उसके अनुसार व्यवहार करना चाहिए, यह धर्मधर्माग्रदर्शनम् शब्दों से कहा गया है। एक स्मार्तधर्म होता है, दूसरा श्रौतधर्म होता है एवं तीसरा भगवद्-धर्म होता है। ये सभी सुख और दुःख के भेद से दो प्रकार के होते हैं एवं उत्तरोत्तर एक दूसरे से बलिष्ठ हैं। वेद की जिन क्रचाओं को स्मृति द्वारा या याद कर कर के लिखा गया है, उन्हें स्मृति कहा जाता है। इसे मानने वाले “स्मार्त” कहे जाते हैं। जिन क्रचाओं को सुन-सुन कर लिखा गया वे ‘कुति’ कहलायी। इन्हें मानने वाले “श्रौत” हैं। टीकाकार कह रहे हैं कि, ये धर्म उत्तरोत्तर बलिष्ठ हैं अर्थात् स्मार्तधर्म से बलिष्ठ श्रौतधर्म और श्रौतधर्म से बलिष्ठ भगवद्-धर्म हैं, यह अर्थ है। इन धर्मों में अपने अधिकार का विचार कर लेना चाहिए। ऐसे में यदि कोई भगवद्-आज्ञा होती हो तो उसका भी विचार करना चाहिए अर्थात् भगवान की इच्छा और आचार्यचरणों की आज्ञा; दोनों का विचार करना चाहिए। और दोनों का विचार करने के पश्चात् धर्म का बल एवं अर्थम् की निर्वलता, इन सब का विचार करके जो करने में परिणाम सुंदर आता हो, वैसा करना चाहिए। इस प्रकार से ये सभी पद इस प्रकार से जुड़ें कि धर्म एवं अधर्म का भविष्य में जैसा परिणाम आता हो, उसका विचार करके उसके अनुसार करना चाहिए।

उपसंहरन्ति, विवेकोयमिति। अभ्यमेव विवेको नत्पत्त्वं इति ज्ञापनायायमिति। सविस्तरमवान्तरभेदनिरूपणपूर्वकमिति समिति। आस्यातः कथितः। उद्देशानुसारेण धैर्यं लक्षण्यन्ति धैर्यमिति। विवेकानन्तरं धैर्यं विलम्बो न कार्यं इति ज्ञापनाय अव्यवधानेन पूर्वोपसंहारोत्तरोपक्रमयोर्निरूपणम्। तु ग्रन्थः प्रकारभेदद्वापकः विवेषणविस्तरप्रकारोणं निरूप्यते ॥ ६ ॥

हवे आना पछी विवेकोयं वगेरे शब्दोथी विवेकना निःपण्नो उपसंहार आचार्यरचो करी रख्यां छे. उपर्युक्त उपदेशज् “विवेक” छे. बीजे नहीं -आ भताववा भाटे “अभ्यं” शब्द कहुं छे. “समाध्यातः” शब्दमां “सभ्” उपसर्ग वपरायो छे. (“सभ्”) उपसर्ग नो प्रमोग सुच्याः प्रकारना अर्थने भताववा भाटे करवामां आवे छे. जेम कहेवामां आवे के अमुक व्यक्ति तुष्ट थयो. परंतु जे एम कहेवुं होय के अमुक व्यक्ति भहु सारी रीते तुष्ट थयो तो कहीशुं के, ते सभ+तुष्ट = संतुष्ट थयो. आ प्रकारे अहीं भूलमां कहुं छे “समाध्यातः”. आध्यातः नो अर्थ थाय छे “कहेवायुं”. हवे आजां “सभ्” उपसर्ग लगावीमे तो शब्द बनशे सभ+आध्यातः=समाध्यातः, एटेले भहु सारी रीते कहेवायुं -आ अर्थ छे). जेनाथी ऐ अर्थ थाय छे के विस्तारसहित अने विवेकना बीज लेदोनी साथे विवेकनुं निःपण करवामां आव्युं. आध्यातः नो अर्थ छे-कहेवायो अर्थात् उपर्युक्त प्रकारे विवेकने कहेवामां आय्यो. हवे पूर्वनिर्धारित धैर्यं तु लक्षणं धैर्यम् वगेरे शब्दोथी आचार्यरचो कही रख्यां छे. विवेक सिद्ध थर्थ गया पछी धैर्यं प्राप्त करवामां विलंब न करवो ज्ञेये, आ भताववा भाटे आचार्यरचो कोई पण प्रकारना अंतराय वगर पहेला विवेकने उपसंहार पछी तरतज धैर्याना निःपणनो आरंभ झ्यो छे. (टीकाकार कहेवा मांगे छे के, श्रीमहप्रभुलाली ईरच्छा छे के विवेक सिद्ध थर्थ लय पछी ज्वरा पण समय भगवाऽया वगर धैर्यनो प्रयास करवो ज्ञेये. आज करवो ऐमां पांथमा श्लोकमां विवेकनो उपसंहार करवानी ज्वेत ज्वरं धैर्यनुं निःपण करवानो आरंभ करी हीयो छे) “तु”

शब्द विवेकनिदृपण अने वैर्यनिदृपण ना प्रकारोना लेहने सूचवावा भाटे छे। (अर्थात् 'तु' शब्द ऐम बतावे छे के वैर्यप्राप्तिनो प्रकार विवेक प्राप्तिना प्रकारथी अलग छे, ऐवो अर्थ छ। "विनिदृप्ते" नो अर्थ छे - धैर्यनुं स्वदृप विशेषदृपथी विस्तारथी कहेवाई रह्यु छे ॥ ६ ॥

अब इसके पश्चात् विवेकोयं इत्यादि शब्दों से विवेकनिरूपण का उपसंहार कर रहे हैं। उपर्युक्त उपदेश ही 'विवेक' है, अन्य नहीं- यह बताने के लिए अयम् शब्द कहा है। 'समाख्यातः' शब्द में 'सम्' उपर्याप्त प्रयुक्त हुआ है। 'सम्' उपर्याप्त का प्रयोग भलीभाँति प्रकार के अर्थ को बताने के लिए किया जाता है। जैसे कहें कि अमुक व्यक्ति तुष्ट हुआ। परन्तु यदि ये कहना हो कि अमुक व्यक्ति बहुत अच्छी तरह से तुष्ट हुआ तो कहेंगे कि, वह सम् + तुष्ट = संतुष्ट हुआ। इसी प्रकार वहाँ मूल में कहा गया है, 'समाख्यातः'। आख्यातः का अर्थ होता है 'कहा गया'। अब इसमें 'सम्' उपर्याप्त लगा दें तो शब्द बतेना सम्+आख्यातः=समाख्यातः: अर्थात् बहुत अच्छी तरह से कहा गया, यह अर्थ है जिससे अर्थ यह निकलता है कि, वित्तासहित एवं विवेक के अन्य भेदों के सहित विवेक का निरूपण किया गया। आख्यातः का अर्थ है-कहा गया अर्थात् उपर्युक्त प्रकारों से विवेक कहा गया। अब पूर्वनिर्धारित धैर्य का लक्षण धैर्यम् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। विवेक सिद्ध हो जाने के पश्चात् 'धैर्य' प्राप्त करने में विलंब नहीं करना चाहिए, यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने बिना किसी व्यवधान के पूर्व विवेक का उपसंहार एवं उसके तुरंत पश्चात् धैर्य का निरूपण आरंभ किया है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि, श्रीमहाप्रभुजी को विवेक सिद्ध होने के पश्चात् किंचित् समय भी नष्ट करे बिना धैर्य का प्रयास अपेक्षित है। इसी कारण उहोंने पाँचवें श्लोक में विवेक का उपसंहार करने के साथ ही तुरंत धैर्य का निरूपण आरंभ कर दिया है। 'तु' शब्द विवेकनिरूपण एवं धैर्यनिरूपण के प्रकार का भेद बताने के लिए है। अर्थात् 'तु' शब्द यह बता रहा है कि धैर्यप्राप्ति का प्रकार विवेकप्राप्ति के प्रकार से भिन्न है। 'विनिरूप्ते' का अर्थ है-धैर्य का स्वरूप विशेषरूप से विस्तार से निरूपित किया जा रहा है ॥ ६ ॥

धैर्यस्वरूपमाहुतिदुःखेति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते: सर्वतः सदा ।

तत्कवद्वेषवद्वाच्यं जडवद्वोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणामाधिभौतिकाध्यात्मिकाधैदेविकामां दुःखानां सहनम्, लौकिकायास आधिभौतिको, धैदिक आध्यात्मिको, भगवदर्थ आधिदैविकः। मरणपर्यन्तं सहनमित्यहुरामृतेरिति । तत्पारी मध्ये मध्ये विद्युत्त्वा सहनं न सापकमित्याहुः सदेति निरन्तरमित्यर्थः। सर्वसमात्सहनं न तु तत्र हीनमायमत्वादिकं भावनीयमित्यर्थः। अयासनिवृत्तौ धैर्यं सुकरमिति देहाद्यथासनिवृत्तिकारमाहुस्तकवदिति ।

हे धैर्यनुं स्वदृप त्रिदुःख वगेरे शब्दोंथी आर्थार्थरयरसो इही रह्यां छे। "त्रिदुःख सहनं" नो अर्थ छे-आधिभौतिक, आध्यात्मिक अने आधिदैविक दुःखोने सहनं कर्युं. लौकिक कार्यों ने भाटे आपणे ले प्रथास करीये छीये अने ऐमां ले दुःख उत्पन्न थाय छे ते आधिभौतिक दुःख छे: वैदिक कार्योंमां थाता दुःख आध्यात्मिक-दुःख छे अने भगवान भाटे थतां दुःख आधिदैविक छे. आ त्राणे दुःखोने भरणपर्यंत सहनं करवां ज्ञेयचे आ आमृते: शब्द द्वारा कह्युं छे. तेना पर पण वथ्ये वथ्ये सहनशीलतानो लंग थर्थ लंग तो ते धैर्यनी साधक नथी आ भतावावा भाटे सदा। कह्युं छे, अर्थात् निरंतर सहन करता रहेवां ज्ञेयचे - आ अर्थ छे. भधा व्यक्तिज्ञो द्वारा आपेलुं दुःख (अर्थात् उत्तमाधिकारी, भध्यमाधिकारी, जघन्याधिकारी) सहनं कर्युं ज्ञेयचे. अभां हीन-भध्यम वगेरे भावना न करवी ज्ञेयचे (अर्थात् एवेलुं नहीं के वेळ उत्तम लोडो तरक्षी आपेलां दुःखोने ज्ञ सहन करे अने ज्ञधन्यो नुं नहीं अने प्रतिरोध-विरोध करवा। लागी लय पण वधाना द्वारा आपेला दुःखोने सहनं करवा ज्ञेयचे, आ अर्थ छे) अध्यासो (भ्रम) नी निवृत्ति थर्थ ज्ञवा पर "धैर्य" धारणा कर्युं सुगम थर्थ लय छे. (आ संपूर्णं जगत भगवान्ननुजु छे परंतु लुप अने भ्रमवश मोतानुं भानी ले छे अने जगतिक वस्तुओंमां अहंता-भमता राखवा लागे छे. -आने "अध्यास" कहे छे.) तेथी देह-अध्यासनी निवृत्तिनो प्रकार तक्षत् वगेरे शब्दोंथी इही रह्यां छे.

अब आचार्यर्यर्थ धैर्य का स्वरूप त्रिदुःख इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'त्रिदुःख सहनं' का अर्थ है-आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दुःखों को सहन करना। लौकिक कार्यों के लिए हम जो प्रयास करते हैं और उपर्याप्त जो दुःख उत्पन्न होता है, वह आधिभौतिक-दुःख है। धैदिक कार्यों में होते दुःख, आध्यात्मिक-दुःख हैं एवं भगवान के लिए होते दुःख आधिदैविक हैं। इन तीनों दुःखों को मरणपर्यन्त सहन करना चाहिए-यह आमृते: शब्द द्वारा कहा गया है। तिस पर भी वीच-बीच में सहनशीलता भंग हो जाय, तो वह धैर्य की साधक नहीं है- यह बताने के लिए सदा कहा है अर्थात् निरंतर सहन करते रहना चाहिए, यह अर्थ है। सभी व्यक्तियों द्वारा दिया गया दुःख अर्थात् उत्तमाधिकारी मध्यमाधिकारी, जघन्याधिकारी सहन करना चाहिए, उनमें हीन-मध्यम आदि भावना नहीं करने चाहिए। अर्थात्

ऐसा नहीं कि केवल उत्तम लोगों के द्वारा दिए गये दुःखों को ही सहन करे एवं जघन्यों का दुःख नहीं और प्रतिरोध करने लग जाय अपितु सभी के द्वारा दिया गया दुःख सहन करना चाहिए, यह अर्थ है। अध्यासों भ्रम के निवृति हो जाने पर 'धैर्य' धारण करना सुगम हो जाता है। यह संपूर्ण जगत् भगवान का ही है परंतु जीव उसे भ्रमवश अपना मान बैठता है और जागतिक वस्तुओं में अहंता ममता खड़ने लगता है। इसे 'अध्यास' कहते हैं। अतः देह-अध्यास की निवृति का प्रकार तक्षबृत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

देहवदिति, देहवता सङ्घाते तक्षबृत्तावना कार्या। तथाहि, अत्रैवमात्मायिका। कवित्राज्ञी केनवित्पापेण सम्बद्धविज्ञा सती तेन सह सङ्केतं कृतवती राजानमहं मारिष्यामि, तत्र भार्या भविष्यामिति। ततः कस्मिंश्चिद्द्वने तं स्वयपित्या स्वभवनमागत्य रात्रौ राजानं हत्वा तद्वन्नं प्रतिष्ठा। तत्र च पतित्वेन कल्पितं तं पुरुषं संवर्द्धेण हृष्टवती। तदन्तरमितस्तो ग्राषा सती कुत्रचिद्देशो गणिका बभूव। तत्र जाङ्गानात् स्वपुत्रेण सम्भुक्ता। तदन्तरं च प्रसङ्गत् ब्रातवती ममायं पुरु इति। तदन्तरमत्यन्तगलानिप्राप्या शरीरं त्वयुं चितां प्रविष्टा। तत्रापि, वहितापमसहमाना ततो निर्गत्य कुत्रचिद्देशो कस्यचिद्गोपस्य भार्या बभूव। तत्र च, गोरसविक्रयेण जीविकां चकार। सा चैकदा स्वसमानाभिर्बुभिः सह तक्षविक्रयाय निश्चक्राम। मध्येर्मार्गं केनवित्प्रत्यहेन पतितानि सर्वांसां भाण्डानि भग्नान्यन्वभवन्। तदान्याश्रुशुभुः, सा तु जहास। तदा हसन्तीं तां सर्वाः प्रच्छुः, कर्यं त्वं न क्षुभ्यसि किमिति च हससीति? तदा सा स्ववृत्तान्तकथनेन पद्यनैकेनोत्तरमदात्। तथाहि,

हत्वा नृपं पतिमवेश्य भुजङ्गददं देशान्तरे विधिवशाद्रणिकास्मि जाता।

पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमय तक्षमि? ति ॥

देहवत् वर्गेरे शज्जीने अर्थ ए छे ते देहधारियोंसे स्वयंधी संबंधित वस्तुओंमां (तड़) छाता लेवी भावना करवी ज्ञाईये। छाताना विषयमां एक कथा प्रसिद्ध है। कोई राजनी हत्या करी दृष्टि अने तारी पत्नी भनी जरूर। त्यारे तेषो पोताना प्रेमीने कोई वनमां भोकली हींदो अने पोताना राजभवनमां आवीने राजनी हत्या करी हींदी अने पाई तेज वनमां आवी गई। त्यारे जे पुरुष माटे तेषो पतिनी कल्पना करी हनी, तेने तो सापे ऊंची लींदो हतो। हवे ते न अहीं नी रही न त्यांनी अने तेथी बीज देशमां जर्ज वेश्या भनी गई। केलांक वर्षों पछी एकवार अज्ञानवश पोताना पुत्रने ज सारो ग्राहक समझने तेनाथी संबंध करी जेठी अने पक्षात् तेने शान थयुं के, आ तो भारो पुत्र छे त्यार अत्यंत ग्रानिथी ते चिता भां प्रविष्ट थर्थ परंतु तेनाथी अभि सहन न थर्थ, ते त्यांथी निकली अने बीज कोई देशमां कोई गोवाणियानी पत्नी भनी गई अने दूध-दहीना वेचाश द्वारा पोतानी आणुविका चलावया लागी। एक वार ते पोताना लेवी बीज ज्वालिनीयोंनी ज्ञाति करने तो हस्ताने निकली। वरचे रस्तामां कोई कारण ए अधीयोना वासांपे पडीने हूटी गयां। त्यारे बीज ज्वालिनीयोने तो दुःख थयुं पड़ आ तो हस्ताना लागी। तेने हस्ती ज्ञाति ने बीलुओंसे तेने पूछयुं के तु शोक केम नन्थी करती-केम हसे छे? त्यारे तेषो पोतानुं संपूर्ण वृत्तांत एक पद्य द्वारा जवाबमां कहुं। ते आ प्रकार थी छे...

“राज् (पति) नी हत्या करी पोताना प्रेमीने उसायेतो ज्ञात, भीज देशमां भाग्योगाग्थी थर्थ हुं वेश्या,

पुत्र ज्ञाते अनैतिक संबंधने कारणे चिताभां प्रवेशेती तेवी हुं अहीं ज्वालिन भनी गई, हवे शुं छाता माटे शेपक कङ्?”

देहवत् इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि देहधारियों को श्वयं से संवंधित वस्तुओं में तक्र छाछ के जैसी भावना करनी चाहिए। छाछ के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। किसी रानी का किरी तुच्छ व्यक्ति के संग प्रेमसंबंध हो गया। एकदा उसने उसे संकेत दिया कि आज मैं राजा की हत्या कर दूँगी और तेरी पत्नी बन जाऊँगी। तब उसने अपने प्रेमी को किसी बन में भेज कर अपने राजभवन में आकर रात्रि मैं राजा की हत्या कर दी और पुनः उसी बन में चर्ची आई। तब जिस पुरुष के लिए उसने पति की कल्पना की थी, उसने देखा कि उसे सर्प ने डस लिया है। अब वह न वहाँ की रही न वहाँ की अतः किसी दूररे देश में जाकर वेश्या बन गई। कई वर्षों के पश्चात् एक वार अज्ञानवश अपने पुत्र को ही अच्छा ग्राहक समझकर उससे संबंध कर बैठी और प्रस्तात् उसे ज्ञात हुआ कि, यह तो मेरा पुत्र है। तब अत्यंत ग्लानि से वह चिता में प्रविष्ट हुई परंतु उससे अग्नि सहन न हुई और वह वहाँ से निकल कर अन्य किसी देश में क्षाले की पत्नी बन गई और दूध-दही के विक्रय के द्वारा जीविका चलाने लगी। एक वार वह अपने समान अन्य ग्लानियों के संग छाछ बेचने निकली। वीच रास्ते में किसी कारण से उन सभी के बर्तन गिरकर फूट गये। तब अन्य ग्लानियों तो क्षोभ करने लगीं परंतु यह हँसने लगी। उसे हँसती हुई देखकर अन्यों ने उससे पूछा कि, तू क्षोभ क्यों नहीं करती हँसती क्यों है? तब उसने स्वयं का संपूर्ण वृत्तांत एक पद्य के द्वारा उत्तर में दिया। वह इस प्रकार से है.....

“राजा (पति) की हत्या कर, अपने प्रेमी को सर्पदंश से मरा देखकर मैं अन्य देश में दुर्भाग्यवश वेश्या बन गई ।

पुत्र के संग अनैतिक संबंध है जाने कारण मैं चिता में प्राचिष्ठ हुई पर वर्च गई और यहाँ ग्वालिन बन गई;

तो आव मैं इस छाठ के लिए क्या शोक करूँ ?”

तदाहुस्तकवदिति । सप्तम्यर्थे वति, तेन यथा तस्यास्तके उदासीनभावाना नल्भिमानः, तथा सहाते भावनीयमित्यर्थः । इयमात्यापिकानात्यत्र प्रसिद्धेति सुप्रसिद्धपौराणं हस्तान्तरमाहुर्जडवदिति । तृतीये जन्मनि भरतो जडस्तस्य यथा सहाते नाभिमानस्तथा भावनीयमित्यर्थः । यथाजडः स्वपन्धुषु सङ्गं त्यज्वानुदासीनेपि रहुगणे च सङ्गं कृतवान्, तथा श्रीमत्रभुवरणारविन्दानुपुक्तेषु वन्युष्पि सङ्गो न कार्यः, श्रीमत्रभुवरणारविन्दानुरक्षेषुदासीनेपि सङ्गः कार्यं इति जडदृष्टान्तेन सूच्यते ।

आज कथाने आचार्यराष्ट्रो तद्वत् शब्दोथी कही रहां छे. अहीं “तद्वत्” शब्दमां सप्तमी-विभक्ति ना अर्थमां “वत्” प्रत्यय थयो छे, आनाथी अर्थ ए थाय छे के जे प्रकारे ते ग्वालिनीने छाशामां उदासीनता हती, अभिभान नहींतुं, तेज प्रकारे लुपेपाण समस्त लौकिक पदार्थोंमां उदासीनतानी भावना करवी ज्ञेयचे, आ अर्थ छे. आ कथा तो अन्यत्र भीजे प्रसिद्ध छे तेथी हुए आचार्यराष्ट्रो भुप्रसिद्ध ऐक पौराणिक दृष्टांत “जडवत्” शब्द द्वारा आपाए रहां छे. तीन ज्ञन्भमां भरतल जडं हता, तेमने ज्ञेम पोताना शरीरनु अभिभान नहींतुं तेम आपाणे पण तेमना ज्ञेवीज भावना करवी ज्ञेयचे, आ अर्थ छे. (जुओं श्रीमद् भागवतना पांचमा संक्षेप नां सातमा अध्यायथी लक्ष्मि दशमा अध्याय सुधी) ज्ञेवी रीते जडभरतल ए पोताना बंधुबांधवो नो संग छोडीने भगवद्-धर्मो भां त्रिते राजवा वाणी राजन रहुगाण नो संग करी लीधो, तेम आपाणे पण श्रीमद् प्रभुचरणारविदो भां अनुप्रयुक्त बंधु-बांधवोंनो संग पण न करवो ज्ञेयचे. अने श्रीमद् प्रभुचरणारविदोभां अनुरक्त व्यक्तिजे ज्ञेआपाणा लोक संबंधी न होय, तो पण एमनो संग करी देवो ज्ञेयचे, आ “जड़” ना दृष्टांत द्वारा सूचित करवामां आपी रह्युं छे.

इसी कथा को आचार्यराण तद्वत् शब्द से कह रहे हैं । यहाँ ‘तद्वत्’ शब्द में सप्तमी-विभक्ति के अर्थ में ‘वत्’ प्रत्यय हुआ है, इससे अर्थ यह बनता है कि जिस प्रकार उस ग्वालिनी को तक्र में उदासीनता थी, अभिभान नहीं था, उसी प्रकार जीव को भी समस्त लौकिक पदार्थों में उदासीनता की भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है । यह कथा तो अन्यत्र कहीं प्रसिद्ध है अतः अब आचार्यराण सुप्रसिद्ध एक पौराणिक दृष्टांत जडवत् शब्द द्वारा दे रहे हैं । तीसरे जन्म में भरतजी जड थे; उन्हें जैसे अपने शरीर का अभिभान नहीं था वैसे हमें भी उनके जैसी ही भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है । देखें श्रीमद्-भागवत के पंचम स्कन्ध के साँतवें अध्याय से लेकर दसवें अध्याय तक जिस प्रकार जडभरतजी ने अपने बंधु-बांधवों का संग त्याग करके भगवद्-धर्मों में रुचि रखने वाले राजा रहुगाण का संग कर लिया, वैसे हमें भी श्रीमत्रभुवरणारविदों में अनुप्रयुक्त बंधु-बांधवों का संग भी नहीं करना चाहिए और श्रीमत्रभुवरणारविदों में अनुरक्त व्यक्ति यदि यदि हमारे लोक-संबंधी न हों, तो भी उनका संग कर लेना चाहिए । यह ‘जड़’ के दृष्टांत द्वारा सूचित किया जा रहा है ।

अत एव कर्दमं प्रति विज्ञापनन्त्या देवहूत्या ‘सङ्गो य संसृतेहृतस्तु विहितो धिया । स एव सापुषु कृतो निःसङ्गत्वापाः कल्पते’ (भा. ३-२३-५५) इत्युक्तम् । अत एव कपिलदेवनायुक्तम्, ‘प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव सापुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतमि’त्युक्तम् (भा. ३-२५-२०) । अत एव वृत्रेणापि प्रार्थितम्, “ममोत्तमलोकजनेषु सत्यं”मिति (भा. ६-११-२७) । यथा च प्रयत्नमकुर्वाणपि जडे भद्रकालीसम्बन्धी विप्रो न जातस्तथा सर्वेष्वेव भगवदीयेषु देवान्तरकृतो विप्रो न भवतीत्यपि सूच्यते । अत एव गर्भस्तुती, “त्वयाभिगुमा विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप मूर्दसु प्रभो” इति देववचनं गीयते । किं बहुना, कालेषि न प्रभुत्वं कर्तुमिष्टे । अत एव कपिलदेवनोक्तम्, “न कहिंचिन्मत्परः शान्तस्त्वे नंश्यन्ति नो मे निमिषो लेदि हेतिरिति” (भा. ३-२५-३८) । अनिमेषो हेति: कालः । अत एव यमेनायुक्तम् ‘ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा-ये साधवः समदशो भगवत्रपन्नाः । तानोपसीदत हरेर्दयाभिगुमान्तेषां वर्यं न च वयः प्रभवाम दण्ड’ इति (भा. ६-३-२७) वयः कालः । अत एव द्वितीयस्कन्धे द्वितीयायाये । न यत्र कालेति । (भा. २-२-१७)

आज कारणे देवहूतिये कंधि कर्दमने, “अक्षानन्दश असतपुरुषोनो संग संसारासक्ति वधारे छे अने तेज संग जे सतपुरुषोनी साथे करवामां आये तो संसारासक्ति धूटी ज्य छे (श्री. भा. ३/२३/५५)”, आ वात कही छे. आज कारणे कपिलदेवलये पण “विवेकी पुरुषो संग ने ज आत्मानुं बंधन भाने छे परंतु आज संग जे सतपुरुषोनो थर्थ ज्य तो ते भोक्तनुं भुझुं द्वार भनी ज्य छे (श्री. भा. ३/२५/२०)”, आज वात कही छे. आज कारणे वृत्रासुरे पण, “हे भगवान ! भने

ઉત્તમશ્લોક જનોનું સપ્ય મલે (શ્રી. ભા. ૬/૧૧/૨૭)" , આ રીતે પ્રાર્થના કરી છે. અને જે પ્રકારે જડભરતણાએ ભદ્રકાતીની સામે પોતાની ભલિ ચઢતી બેઈને પોતાના તરફથી ભયવાનો કોઈ ઉપાય ન કર્યો અને પ્રભુઙું પણ બધી ગયા, તો આ ઉદાહરણથી ભગવદ્ધીયોને અન્ય દેવતાઓ દ્વારા કરેલું વિઘ્ન પણ નથી થતું-એ પણ સૂચિત થર્થ રહ્યું છે. (જુઓ શ્રી. ભા. ૫/૬/૧૨. ૧૮) આજ કારણે ભગવાનની ગર્ભસ્તુતિમાં દેવતાઓએ, "હે પ્રભુ ! આપનાથી હૃદયબદ્ધ લાયો આ સંસારમાં વિદ્ધિકાર્તાઓનાં મસ્તક પર પણ મૂકીને નિર્ભય વિશ્રાણ કરે છે (શ્રી. ભા. ૧૦/૨/૩૩)" , આ પ્રકારે ગાયું છે. બીજુ શું કહીએ ? કાળ પણ તેમના ઉપર પોતાનું પ્રભુત્વ નથી જમાવી શકતો. આજ કારણે કપિલહેવળાએ "નેમનું સર્વકાર્ય હું જ છું, એ તેઓ મારા વૈકુંઠધામમાં દિવ્યભોગો મેળવે છે અને તેમને કાલયક્ષ પણ ગ્રસ્તી શકતું નથી (શ્રી. ભા. ૩/૨૫/૩૮)" , આ વાક્ય કહ્યું છે. ભગવાન નિરંતર વિદ્યમાન રહેવાવાણા કાળનાં પણ સ્વાધી છે. આજ કારણે યમરાજણાએ પણ "ને સજજનો ભગવાનને જ સર્વ કાર્ય જાહીને એમની શરણગતિ કરે છે, મોટા-મોટા દેવતાઓ પણ તેમના પવિત્ર ચરિત્રોનું ગાન કરે છે. ભગવાનની ગાં પણ સદ્ગુરૂ એમની રક્ષા કરે છે. એમને ન તો હું દાઝ આપી શકું છું, અને ન તો કાલ એમનું કાર્ય બગાડી શકે છે (શ્રી. ભા. ૬/૩/૨૭)" , આ પ્રકારે પોતાના દૂસો ને કહ્યું છે. અહીં "વયઃ" શબ્દથી કાળજ કહ્યો છે. તેથી જીવિત બીજાસર્કદના બીજી અધ્યાયમાં "ભગવદ્-ચિત્તનાં કાળની પણ ગતિ નથી (શ્રી. ભા. ૨/૨/૧૭)," આ વાક્ય કહ્યું છે.

ઇસી કારણ દેવહૃતિ ને ઋષિ કર્દમ સે "અહાનવશ અસત્યુલ્લાંકો કા સંગ સંસારસત્તા વડાતા હૈ ઔર વહી સંગ યદિ સત્યુલ્લાંકો કે સાથ કિયા જાય તો સંસારસત્તાની રૂદ્ધ જાતી હૈ (શ્રી. ભા. ૩/૨૩/૫૫)" યહ વાક્ય કહા હૈ । ઇસી કારણ કપિલહેવજી ને ભી "વિવેકી પુરુષ સંગ કો હી આત્મા કા બંધન માનતે હૈ ફંનું યહી સંગ યદિ સત્યુલ્લાંકો કા હો જાય તો વહી મોક્ષ કા ખુલા દ્વારા બન જાતા હૈ (શ્રી. ભા. ૩/૨૫/૨૦)" યહ વાક્ય કહા હૈ । ઇસી કારણ વૃત્તાયુદ્ધ ને ભી "હે ભગવાન ! મુખે ઉનમશ્લોક-જનોની કા સંય પ્રાસ હો (શ્રી. ભા. ૬/૧૧/૨૭)" ઇસ પ્રકાર સે પ્રાર્થના કી હૈ । ઔર જિસ પ્રકાર જડભગતજી ને ભદ્રકાતી કે સમક્ષ અપની ચલિ ચઢતે હૃપું દેખેન્દ્ર ભી કોઈ અપની ઓર સે વચ્ચે કા કોઈ પ્રાપ્તન નહીં કિયા ઔર પ્રભુઙું પણ બેચ નથી, તો ઇસ ઉદા સે ભગવદીયોનો અન્ય દેવતાઓને દ્વારા કિયા ગયા વિનન્દી ભી નહીં હોતા, યા ભી સૂચિત કિયા જા રહ્યા હૈ । (દેખો શ્રી. ભા. ૫/૧/૧૨...૧૮) । ઇસી કારણ ભગવાન કી ગર્ભસ્તુતિ મેં દેવતાઓને "હે પ્રમુખ ! આપણે હૃદયબદ્ધ જીવ ઇસ સંસાર મેં વિદ્ધિકાર્તાઓને મેસ્તક પર પૈર સુખ કર નિર્ભય વિચરણ કરતે હોએ (શ્રી. ભા. ૧૦/૨/૩૩)" ઇસ પ્રકાર સે ગાયા હૈ । ઔર કયા કહો ? કાલ ભી ઉન પણ અપના પ્રભુત્વ નહીં જમા સકતા હૈ । ઇસી કારણ કપિલહેવજી ને "જિમકા સવકુછ મૈં હી હું, વે મેરે વૈકુંઠધામ મેં દિવ્યભોગ પ્રાસ કરતે હૈ એવું ઉન્હે કાલચક્ર ભી નહીં ગ્રસ સકતા (શ્રી. ભા. ૩/૨૫/૩૮)" યહ વાક્ય કહા હૈ । ભગવાન નિરંતર વિદ્યમાન રહ્યેને વાતે કાલ કે ભી સ્વામી હૈન । ઇસી કારણ યમરાજ ને ભી "જો સજજન ભગવાન કો હી સવકુછ જાન કર ઉનકી શરણગતિ લેને હું, બઢે-બડે ડેવતા ભી ઉનકે પવિત્ર ચરિત્રો કા ગાન કરતે હોએ । ભગવાન કી ગાં ભી સરા ઉનકી રક્ષા કરતી હૈ । ઉન્હેની ન તો મૈં દંડ દે સકતા હું ઔર ન કાલ હી ઉનકા કુછ વિગાડ સકતા હૈ (શ્રી. ભા. ૬/૩/૨૭)" ઇસ પ્રકાર સે અપણે દૂરોં સે કહા હૈ । ચહોં 'વયઃ' શબ્દથી કાલ હી કહા ગયા હૈ । અતિષ્ઠ દ્વિતીયરંકથી કે દ્વિતીય અધ્યાય મેં "ભગવદ્-ચિત્તન મેં કાલ કી ભી ગતિ નહીં હૈ (શ્રી. ભા. ૨/૨/૧૭)" યહ વાક્ય કહા ગયા હૈ ।

એવું મથ્યે સુપ્રસિદ્ધ પૌરાણિક દાખાનાં પૂર્વાખ્યાયિકાયા: સત્યત્વદ્વાપનાય પુનસ્તત્સમ્વન્દિનમેવ દ્વાનાન્તમાહુર્ગોપમાર્યબદિતિ । ગોપેન પ્રિયતે પોષ્યત ઇતિ ગોપભાર્યઃ, તત્સા દેહસત્ત્ર યથા તત્સા ઉદાસીનબુદ્ધિસ્તથા દેહદૌ ભાવ્યમિત્યર્થ: । નનુ તક્રવિષયકશોકાભાવકથનાત્તકરિષયકમૌદાસીન્યં તત્સા આસીદિત્યું, પરન્તુ દેહદૌ તત્સા ઉદાસીનભાક: કર્ય નિર્ધારીતિ ચેતુ, સત્યમ, યદિ દેહદાવાસકિસ્તસ્યા: સ્વાતંદ્ર તક્રવિક્રયેણ જીવન્યાસત્સસ્યા દેહાદિપોષકે તક્રે કથમૌદાસીન્યં સ્વાતું ? તેન જ્ઞાયતે તત્સા ઉદાસીનબુદ્ધિરેવ દેહદૌ ।

આ પ્રકારે આચાર્યબરણો વચ્ચે એક સુપ્રસિદ્ધ પૌરાણિક દાખાનાં કહીને, પહેલાં કહેલી તે જ્વાલિનીની કથાની પ્રામાણિકતા સિદ્ધ કરવા માટે તેના શ્રી સંબંધિત એક દાખાનાં ગોપભાર્યાખ્યાત શબ્દથી આપી રહ્યા છે. અહીં "ગોપભાર્યા" શબ્દને સમજો. ગોપે નેમનું ભરણપોષણ કરે છે તે કે "ગોપભાર્યા" છે; તે ગોપભાર્યાઓની સ્વયંના શરીર પ્રત્યે જેવી ઉદાસીનબુદ્ધિ હતી, તેવી આપણે આપણાં દેહ-ઈદ્રિયોમાં પણ ઉદાસીન ભાવના રાખવી નેરીએ, આવો અર્થ છે. પરંતુ અહીં એક પ્રશ્ન એ થાય છે કે તે જ્વાલિનીની છાશ પડી જ્વાથી તેને છાશનો શોક ન થયો, એ તો બરોબર છે પરંતુ તેનાથી એને પોતાના દેહ-ઈદ્રિયોમાં પણ ઉદાસીનતા હતી, એમ કેવી રીતે કહી શકાય ? જે એવી શંકા હોય તો તમારું કથન સાચું છે પરંતુ એ વિચાર કરો કે જે તેમને પોતાના દેહ-

ईंद्रियो प्रत्ये आसक्ति होत तो ते छाश-विक्षयथी ४ पोतानी आलुविका चतुर्वाचा वाणी ते ज्वालिनीने पोताना देहनुं पोभण कर्त्तव्यावाणी छाशना पडी ज्वामां डेवी रीते उदासीनता थती ? आनाधी समज्जय छे के, तेने पोताना देह-ईंद्रियोमां उदासीन भुद्धि होती.

इस प्रकार आचार्यचरण मध्य में सुप्रसिद्ध पौराणिक दृष्टांत कह कर पूर्व में कही उस ग्वालिन की कथा की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उठी से संबंधित एक दृष्टांत गोपभार्यवत् शब्द से दे रहे हैं । यहाँ 'गोपभार्य' शब्द को समझें । गोप जिनका भरणपोषण करते हैं, वे 'गोपभार्य' हैं; उन गोपभार्याओं को खुद की देह में जैसी उदासीनबुद्धि थी, वैसे हमें अपनी देह-ईंद्रियों में भी उदासीनता की भावना करती चाहिए, यह अर्थ है । परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि उस ग्वालिन की छाछ गिर जाने पर भी उसे उस छाछ का शोक न हुआ, यह तो ठीक है परंतु इससे उसे अपनी देह-ईंद्रियों में भी उदासीनता थी, यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि ऐसी शंका हो तो, आपका कथन सत्य है । परंतु यह विचार करें कि यदि उसे अपनी देह-ईंद्रियों के प्रति आसक्ति होती तो उस छाछ-विक्रय से ही अपनी जीविका चलने वाली उस ग्वालिन को अपनी देह का पोषण करने वाली छाछ के गिर जाने में कैसे उदासीनता होती ? इससे ज्ञात होता है कि, उसे अपनी देह-ईंद्रियों में ही उदासीनबुद्धि थी ।

ननु प्रतिकाराशस्त्वा कृतोपि शोको व्यर्थ इति शोकं न कृतवती, नत्वनासत्किर्देहादाविति चेन्मैवम् । प्रतीकाराशक्तिं ज्ञात्वा प्रतीकारोदयम् मा कुर्यात् शोकाभावस्तु दुर्निर्वारः । यो देहो राज्यदशायामनेकदेहपोषकः सर्वसम्पत्तिसम्पन्नः सर्वसुखसन्दोहनिधानमासीत्स एव देहः पश्चात्यामरेण गोपेन पोष्यः, सर्वसम्पत्तिशून्यः सर्वदुखनिधानमजनीति ज्ञापनाय गोपभार्यवेन निर्देशः । तथा च, वर्त्थं धैर्यं त्वक्तव्यं ता: सम्पदशश्वला इव चश्वला इति । किमिति । सर्वदा स्थायिसकलपुरुषार्थप्रतिक्षणपोषकं प्रभुपादपद्मं (कथं) परित्यक्तव्यमितिभावः । तथा च देहवता तक्कब्जडब्लोपार्थवत् स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः पर्यवसनः ।

परंतु कोई पूर्वपक्षीने ऐ शंका थर्द १५ छे के, ते परिस्थितिभां तेनी पासे प्रतिकार कर्त्तव्यानी शक्ति नहोती, तेथी ते शोक करती तो पशु ते व्यर्थ थर्द ज्ञतो, आ कारणशी तेशे शोक न कर्यो । तेने पोतानी देह-ईंद्रियोमां आसक्ति नहोती तेवुं नथी. ज्ञे कोई आवी शंका करे तो, तेवुं नथी. केम्पे ज्ञे तेनामां प्रतिकार कर्त्तव्यानुं सामर्थ्यं नहोतुं तो भलेने ते प्रतिकार भाटे कोई प्रयत्न न करती तरंतु तेने पोतानी आलुविकाना साधनो नष्ट थर्द ज्ञया पर शोक न थयो तो अति कठिन ४४ हत्तुं. जेनुं शरीर राज्यदशामां अनेकोनुं भरणपोषक रक्तुं हत्तुं, सर्वसंपत्तिथी संपत्र हत्तुं, जेनी पासे समस्त सुखसमूहोनो भंडार हत्तो, तेज शरीर पाइणधी ऐक तुच्छ गोपथी पोषित थयुं, ते समस्त संपत्तिथी रहित थर्द गर्द, अने तेना पर समस्त दुःखोनो भंडार आवी पाइयो छातीं पशु तेषे धैर्य राख्युं आ भत्तव्या भाटे श्रीमदाचार्यराजेष्वे "गोपभार्या" शब्दथी निर्देश आप्यो छे. तेथी जाणीयो के ज्ञे संपत्ति भाटे धैर्यनो त्याग कर्त्तव्यामां आवे छे, ते संपत्तितो लक्ष्मीनी ज्ञेभ चंचल छे, शुं भजर आपाणी पासे रहे न रहे ? परंतु स्वदा स्थायी रहेवावाणा, समस्त पुरुषाणोने प्रतिक्षण पोषण आपवा वाणा, प्रभुयरणकभणोनो त्याग शा भाटे कर्त्तव्यो लेईयो ? आं भाव छे. तेथी आ प्रकारे देहधारियोचो ते छाश नी लेभ, जडनी लेभ अने गोपभार्यानी लेभ पोतानां देह-ईंद्रियोमां उदासीनतानी भावना कर्वी लेईयो, आ अर्थं संपत्र थाय छे.

परंतु किसी पूर्वपक्षी को यह शंका हो सकती है कि, उस परिस्थिति में उसके पास प्रतिकार करने की सामर्थ्य नहीं थी अतः यदि वह शोक करती भी, तब भी वह व्यर्थ ही होता, इस कारण से उसने शोक नहीं किया । उसे अपनी देह-ईंद्रियों में आसक्ति नहीं थी, ऐसा नहीं था । यदि कोई ये शंका करे तो, ऐसा नहीं है । क्योंकि यदि उसमें प्रतिकार करने की सामर्थ्य नहीं थी तो भले ही वह प्रतिकार के लिए कोई प्रयत्न न करती परंतु उसे अपनी जीविका के साधन के नष्ट हो जाने पर शोक न होना तो अति कठिन ही था । जिसकी देह राज्यदशा में अनेकों का भरणपोषण करती थी, सर्वसंपत्ति से संपन्न थी, जिसके पास समस्त सुखसमूहों के भंडार थे, वही देह बाट में एक तुच्छ गोप से पोषित हुई, समस्त संपत्ति से रहित हो गई और उस पर समस्त दुःखों के भंडार आ पड़े तथापि उसने धैर्य रखा-यह बताने के लिए श्रीमदाचार्यरचनां ने "गोपभार्य" शब्द से निर्देश दिया है । अतः जानिए कि जिस संपत्ति के लिए धैर्य त्याग दिया जाता है, वह संपत्ति तो लक्ष्मी की तरह चंचल है, क्या पता हमरे पास रहे न रहे ? परंतु सर्वदा स्थायी रहने वाले समस्त पुरुषाणों को प्रतिक्षण पोषण देने वाले प्रभुयरणकमलों का त्याग क्यों करना चाहिए ? यह भाव है । अतः इस प्रकार देहधारियों को उस छाछ की तरह, जड़ की तरह एवं गोपभार्या की तरह अपनी देह-ईंद्रियों में उदासीनता की भावना करनी चाहिए, यह अर्थं संपत्र होता है ।

દેહવતા ભાવ્યમિતિ તૃતીયાસમાસ: | દેહવતા દેહાભિમાનવતા તેન યત્કિઞ્ચિત્બિમાનોપિ સંરક્ષય: | તથા ચ ભગવત્સેવાદિવિષયક: સર્વથા સરસ્થો, લૌકિકવિષયકસ્ત્યાચ્ચ ઇતિ ભાવઃ, યદ્ધા, દેહવતાં મનુષ્યાધિકારકત્વનિયમો વ્યાખ્યાતિત: | તેન પશ્ચાદિશરીરેયેવં ભાવ્યમિતિમાબ: | અત એવ ભરતસ્ય હરિણજન્મનન્યવિષયાસનિવૃત્તિ: | તદુક્તમ, “તસ્મિન્નપિ કાલં સમીક્ષયમાણ: સંજ્ઞાચ ભૂશમુદ્રિગ્ર આન્મસહચર: શુષ્ઠુતૃપણાંગીરૂધાવર્તમાનો મૃગત્વનિમિત્તાવસાનમેવ ગણયન્મૃગશરીરં તીર્થોદક્ષ ક્લિન્મુત્સસર્જે” તિ તસ્મિનુલ્હાશ્રમે।

દેહવ્યાચ્છ્વં શાખનો અર્થ છે – દેહવારિઓએ એવી ભાવના કરવી જોઈએ. આ પદમાં તૃતીયા વિભક્તિની સાથે સમાસ થયો છે. અહીં “દેહવતા” શાખનો અર્થ છે, એવા વ્યક્તિઓ નેમને દેહનું અભિમાન હોય; તેનાથી એ સમજાય છે કે યત્કિઞ્ચિત્ અભિમાન તો રાખવું જ જોઈએ. આનો અર્થ એ છે કે ભગવત્સેવા વિષયક અભિમાન તો રાખવું જ જોઈએ અને લૌકિક વિષયક અભિમાન છોડી દેવું જોઈએ, એ ભાવ છે. (ટીકાકાર એ કહેવાની ઈચ્છા રાખે છે કે ભક્તોએ પોતાની ભગવત્સેવાનું થત્કિઞ્ચિત્ અભિમાન તો રાખવું જ જોઈએ. આ પક્ષને સમજવા માટે શ્રીમદ્-ભાગવતના દશમસ્કંધ ના ઓગણત્રીસમા અધ્યાયનો અંતિમ શ્લોક જુઓ. અહીં કહેલું છે કે, જ્યારે ગોપિકાઓને રાસમાં પ્રવેશ મળ્યો તો તેમને સૌભગ્યમદ થયો. તે પોતાને શ્રેષ્ઠ સમજવ્યાસાંગી. ભગવાન એમના મહને દૂર કરવા માટે મધ્ય રાસમાંની અંતર્ધારન થઈ ગયા. અહીં આ શ્લોકના સુભોધિનીછમાં આચાર્યચરણો આજા કરે છે કે ગોપિકાઓને ભગવત્ત્રામિને કારણે થયેલો મદ પૂર્ણિક્ષિપ્તી દોખને યોગ્ય નથી કેમકે જો એમને થોડો ઘણણોથ ભદ્ર ન થયો હોત તો તેમના ભગવદ્પ્રેમમાંજ ખાંબી રહી જતી. તેથી ટીકાકાર કહી રહ્યા છે કે થોડું ઘણણું ભગવત્સંબંધી અભિમાન તો રહેવું જ જોઈએ.) અથવા “દેહવતા” શાખનો એ અર્થ કરીલો કે, કેવળ મનુષ્ય નહીં પણ પશુ-વગેરે ના શરીરમાં પણ આ પ્રકારે વૈર્યપૂર્વક રહેવું જોઈએ. આજ કારણે ભરતલુને હરણ ના જન્મમાં પણ અધ્યાસની નિવૃત્તિ થઈ. આજ કથા શ્રીમદ્ભાગવતમાં “આશ્રમમાં પણ ભરતલુણ કાળની જ પ્રતીક્ષા કરી રહ્યા હતા. આસક્તિ થી તેમને ડર લાગતો હતો. સુકાં પતાં, ધાસ વગેરેથી નિર્વાહ કરતા કરતા પોતાના હરણના જન્મ વાળા ભાગ્યના સંપૂર્ણ થવાની રાહ જોતા રહ્યા. અન્તમાં તેમણે પુલહ ઝાપિના આશ્રમમાં શરીરનો અડધો ભાગ ગડકીના જલમાં દુખાડી ભૂગશરીર નો ત્વાગ કરી દીધો (શ્રી. ભા. ૫/૮/૩૧)” – આ વાક્ય દ્વારા કહી છે.

દેહવ્યાચ્છ્વં શબ્દ કા અર્થ હૈ– દેહવારિઓનો એસી માયના કરની ચાહિએ। ઇસ પદ મેં તૃતીયા-વિભક્તિ કે સંગ સમાસ હુંઆ હૈ। યહાઁ ‘દેહવતા’ શબ્દ કા અર્થ હૈ, એસે વ્યક્તિ જિન્હે દેહ કા અભિમાન હો; ઇસસે વહ જ્ઞાત હોતા હૈ કે યત્કિઞ્ચિત્ અભિમાન તો રહણના હી ચાહિએ। ઇસકા અર્થ યથ હૈ કે ભગવત્સેવા વિષયક અભિમાન તો રહણના હી ચાહિએ ઔર લૌકિકવિષયક અભિમાન તો રહણ દેના ચાહિએ, યહ ભાવ હૈ। ટીકાકાર યહ કહના ચાહ રહે હૈને કે ભક્તોનો અપની ભગવત્સેવા કા યત્કિઞ્ચિત્ અભિમાન તો રહણના હી ચાહિએ। ઇસ પક્ષ કો સમજાને કે લિએ શ્રીમદ્-ભાગવત કે દશમસ્કંધ કે ઉનતીસવે અધ્યાય કા અંતિમ શ્લોક દેખોએ। યહાઁ ચર્ચિત હૈ કે, જવ ગોપિકાઓનો કો રાસ મેં પ્રવેશ મિત્તા તો ઉન્હે સૌભગ્યમદ હુંઓાં। વે અપને આપ કો શ્રેષ્ઠ સમજાને લગ ગઈ। ભગવાન ઉનકે મદ કો દૂર કરને કે લિએ મધ્ય રાસ સે અંતર્ધારન હો ગયે। યહાઁ ઇસ શ્લોક કી સુબોધિની મેં આચાર્યચરણ આજા કરતે હૈને કે ગોપિકાઓનો ભગવત્પ્રાતિની કે કારણ હુંઆ મદ પૂર્ણિલ્પ સે દોષ કે યોગ્ય નહીં હૈ કર્યોંકિ યદિ ઉનકો યત્કિઞ્ચિત્ ભી મદ ન હુંઆ હોતા તો ઉનકે ભગવદ્-પ્રેમ મેં હી ન્યૂતના સિદ્ધ હો જાતી। અત: ટીકાકાર કહ રહે હૈને કે ધોડા-બહુત ભગવત્સંબંધી અભિમાન તો રહણ હી ચાહિએ। | અથવા ‘દેહવતા’ શબ્દ કા યોં અર્થ કર લે કે, દેહવતા શબ્દ કા અર્થ કેવેલ મનુષ્ય નહીં હૈને અપિતુ પણ-આદિ કે શરીર મેં ભી ઇસી પ્રકાર વૈર્યપૂર્વક રહણ ચાહિએ। ઇટી કારણ ભરતજી કો હિરણ કે જન્મ મેં ભી અધ્યાસ કી નિવૃત્તિ હુંડી હૈ। વહી શ્રીમદ્-ભાગવત મેં “આશ્રમ મેં ભી ભરતજી કાલ કી હી પ્રતીક્ષા કરતે રહે હૈ। આસક્તિ સે ઉન્હે ભય લગને લા થા। સુખે ફતે, ધાસ આદિ સે નિર્વાહ કરતે હુએ અપને હિરણજન્મ વાલે ભાવ્ય કે સંપૂર્ણ હોને કી પ્રતીક્ષા કરતે રહે હૈ। અત મેં ઉન્હોને ઉસ પુલહ ઝાપિ કે આશ્રમ મેં શરીર કા આધા ભાગ ગણકી કે જલ મેં ડુંગોકર મૃગશરીર કા ત્વાગ કર દિયા (શ્રી. ભા. ૫/૮/૩૧)” ઇસ બાક્ય દ્વારા કહા ગયા હૈ।

અથવા આ પંક્તિને ચિદુ: ખસહનમ્ભ પદથી સમજો. તાત્પર્ય એ છે કે ભક્તિમાં વિરોધ ઉત્પન્ત થવાથી થવાનાં દુઃખનો ઉપાય ન કરતા કાશિક-વાચિક-માનસિક નણેય પ્રકારનાં દુઃખોને મૃત્યુપર્યત બધાંથી સહન કરવાનાં તે “ધીર્ય” છે, આ અર્થ છે.

पोतानु शशीर अने पोतानी वस्तुओंमां आसक्ति वधी ज्वाथी दुःखनी संभावना वधी जय छे अने धैर्य धारण करवुं अशक्य थई जय छे. तेथी तेवी आसक्ति न राखवी लेर्हाए- आने आचार्यरशोगे तक्कवत् वगेरे दृष्टांतो द्वारा कहुं छे. ऐ जड लेवुं छे तेने “जडवत्” कहे छे. आ पदमां तृतीया विभक्तिना अर्थमां “वत्” प्रत्यय थयो छे. अने जे देहना लेवो छे, ते “देहवत्” छे, आ पदमां समझी-विभक्ति ना अर्थमां वत् प्रत्यय थयो छे. तेथी भद्यु मणीने ये अर्थ थयो के जडभरतलाए पोताना शरीरमां लेवी आसक्ति राखी हती, तेवी रीते कालों करवां लेर्हाए.

अथवा इस पंक्ति को त्रिदुःखसहनम् पद से समझो। तात्पर्य यह है कि भक्ति में विरोध उत्पन्न होने से उत्पन्न होने वाले दुःख का उपाय न करते हुए कायिक-वाचिक-मानसिक तीनों प्रकार के दुर्खों को मृत्युपर्यंत सभी से सहन करना ‘धैर्य’ है, यह अर्थ है। अपने शरीर एवं अपनी वस्तुओं में आसक्ति बढ़ जाने से दुःख की संभावना बढ़ जाती है और धैर्य धरना अशक्य हो जाता है। अतः ऐसी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए-इसे आचार्यचरणों ने तक्कवत् इत्यादि दृष्टांतों द्वारा कहा है। जो जड़ के समान है, उसे ‘जडवत्’ कहते हैं। इस पद में तृतीया-विभक्ति के अर्थ में ‘वत्’ प्रत्यय हुआ है। और जो देह के जैसा है, वह ‘देहवत्’ है; इस पद में सप्तमी-विभक्ति के अर्थ में ‘वत्’ प्रत्यय हुआ है। अतः कुल मिलाकर यह अर्थ हुआ कि जडभरत ने अपनी देह में जैसी आसक्ति रखी थी, वैसे कार्य करना चाहिए।

गोपभार्यद्वापभार्या तुर्यं, गृहे शितायाः खिया भरणीयत्वात्। भार्यात्वाभावाद्वस्तुत्वेन नपुंसकतानिर्देशः। तक्रबदिति सप्तमीसमर्थद्वितिः। गोपभार्या स्वतक इव स्ववस्तुष्वासक्तिः कार्यत्वर्थः। तेन स्वशरीरवस्तुनोर्निर्वाहार्यमासक्तिं कृत्वा जडभरतेनेव भगवत्पत्रतया स्थेयमिति भावः।

“गोपभार्यवत्” शब्दनो अर्थ छे के गोपगृहिणीनी लेम होय, केम्डे धरमां रहेवावाणी शिख्ये नुं ज भरणपोधण करवामां आये छे. ऐवो अर्थ भसे करी लेवायां आवे परंतु वास्तवमां तो अहीं “भार्या” शब्दनो प्रयोग न करीने आचार्यरशोगे “भार्या” शब्दनो प्रयोग कर्यो छे, तेथी “गोपभार्या” शब्द नपुंसकलिंग मां मानवो लेर्हाए. (टीकाकार एम कहेवा भावे छे के गोपगृहिणी अर्थात् गोपिकाओं केवण नाभनीज गोपोनी पत्नियो हती, अने केवण नाभनीज पोत-पोताना पतिभोथी भरणपोधण ईच्छती हती। वास्तवमां तो तेमने पोतानु भरणपोधण भगवानंथी अपेक्षित हतुं. आ कारणे टीकाकार कही रह्या छे के अहींया “भार्या” शब्दनो प्रयोग न करीने आचार्यरशोगे “भार्या” शब्दनो प्रयोग कर्यो छे जे नपुंसकलिंगमां छे. टीकाकार उपर “भार्या” शब्दनो अर्थ पाण करी आव्यां छे ज्यां नेव्यों बताव्युं छे के, जेओं गोपो वडे भरणपोधण चाहती होय ते “भार्या” छे. परंतु आ गोपिकाओने तो पोतानु भरणपोधण गोपोथी अपेक्षित न होई भगवानंथी अपेक्षित हतुं. जे गोपोथी होत, त्पारे तो आचार्यरशो “गोपभार्या” शब्दप्रयुक्त करता, परंतु तेम नहेनुं तेथी तेथो “भार्या” शब्दनो प्रयोग करी रह्या छे, आ अर्थ छे.) “तक्कवत्” शब्दमां सप्तमी विभक्ति ना अर्थमां “वत्” प्रत्यय थयो छे तेथी अर्थ एम थाय छे के, ते गोपगृहिणीओने पोताना दूध-दही-छासामां लेवी अनासक्ति हती, तेवी आपणे आपणी वस्तुओंमां पाण अनासक्ति राखवी लेर्हाए, आनाथी ये सभलय छे के पोताना शशीर भाटे उपयोगी वस्तुओंमां मात्र निर्वाह करवा सुधीनी आसक्ति राखीने जडभरतलानी लेम भगवत्पत्र थईने रहेवुं लेर्हाए, आ भाव छे.

‘गोपभार्यवत्’ शब्द का अर्थ है-जो गोपगृहिणी की भाँति हो क्योंकि घर में रहनेवाली ब्रियों का भरणपोषण किया जाता है। ऐसा अर्थ भले ही कर लें परंतु वास्तव में तो आचार्यचरणों ने यहाँ भार्या’ शब्द का प्रयोग न करके ‘भार्या’ शब्द का प्रयोग किया है अतः ‘गोपभार्या’ शब्द नपुंसकलिंग में मानना चाहिए। टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि गोपगृहिणी अर्थात् गोपिकाएँ केवल नाममात्र के लिए गोपों की पत्नियाँ थीं और केवल नाममात्र के लिए अपने-अपने पति से भरणपोषण चाहती थीं। वास्तव में तो उन्हें अपना भरणपोषण भगवान से अपेक्षित था। इसी कारण टीकाकार कह रहे हैं कि यहाँ पर ‘भार्या’ शब्द का प्रयोग न करके आचार्यचरणों ने ‘भार्या’ शब्द का प्रयोग किया है जो नपुंसकलिंग में है। टीकाकार उपर ‘भार्या’ शब्द का अर्थ भी कर आए हैं जहाँ उन्होंने बताया है कि, जो गोपों से अपना भरणपोषण चाहती हों वे ‘भार्या’ हैं परंतु इन गोपिकाओं को अपना भरणपोषण गोपों से अपेक्षित न होकर भगवान से था। यदि गोपों से होता तब तो आचार्यचरण ‘गोपभार्या’ शब्द ही प्रयुक्त करते परंतु नहीं था अतः वे ‘भार्या’ शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, यह अर्थ है। ‘तक्कवत्’ शब्द में सप्तमीविभक्ति के अर्थ में ‘वत्’ प्रत्यय हुआ है अतः अर्थ यह बनता है कि, उन गोपगृहिणीयों को अपने दूध-दही-छाल में जैसे अनासक्ति थी, वैसे हमें अपनी वस्तुओं में भी अनासक्ति रखनी चाहिए। इससे यह ज्ञात होता है कि, अपने शरीर के लिए उपयोगी वस्तुओं में मात्र निर्वाह करने तक की आसक्ति रखकर जडभरतजी की तरह भगवत्पर होकर रहना चाहिए, यह भाव है।

ननु यदुक्तं त्रिदुःखसहनं धैर्यमिति तत्र यदि कदाचित् स्वत एव दुःखप्रतीकारः सिद्धस्तदापि किं तं प्रतीकारं निवार्य दुःखं सोढव्यमेवाहेमित्रीकारेण तद् दुःखमपोह्यम् ? इति सन्देहे निर्णयमाहुः प्रतीकार इति ॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेनाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येवामसतमशक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदृच्छातः, अनायासेन चेद् यदि प्रतीकारः दुःखप्रतीकारः सिद्धः सम्पन्नः स्यात्तदा आग्रही मयेदं दुःखं सोढव्यमेवेत्याग्रहवान्म भवेत् । इदमत्राकूतम्, अत्र हि भगवदाश्रयमिद्धर्थं विवेकधैर्येण उच्यते । तेन त्रिदुःखसहनरूपं यद् धैर्यं निरूपितं तदपि यदि भगवदाश्रयनिमित्तं तदा कर्तव्यं, नोचेत्प्रयोजनं विना किमिति तत्कर्तव्यं ? ‘न हि प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोपि प्रवर्त्तत’ इति न्यायात् । अत एव केनचिदुक्तम् ‘अनिषिद्धसुखत्वायां पशुरेव न संशयं’ इति । न केवलं प्रयोजनाभावमात्रं, प्रत्युत विपरीतत्वमासुरत्वम् । अत एव गीताम् भगवतायुक्तम्, ‘अशाश्विहितं धोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः । दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः । कर्षयन्तः शरीरस्य भूतग्राममचेतसः । माञ्जीवान्तः शरीरस्य तान्विद्ययासुरनिश्चयानि’ति ।

अहीं प्रश्न एव थाय छे के त्रिदुःखने सहन कर्वनु तेने “धैर्यं” तो कहुं छे परंतु जे कदाय पोतानी रीते जे दुःख नो प्रतीकार थई रह्यो होय तो शुं त्यारे ते प्रतीकार ने पशु हठावी दुःख सहन कर्वनु लेईच्ये के पछी ए प्रतीकार द्वारा दुःख दूर थवा देवुं लेईच्ये ? (टीकाकार कही रह्यां छे के, भलेने आपणे स्वयं ते दुःख ने दूर करवानो कोई प्रयास न करी ए, परंतु जे पोतानी गेणे जे अन्य कोई साधनो द्वारा दुःख दूर थई रह्युं होय तो शुं ते पशु न थवा देवुं लेईच्ये के थवा देवुं लेईच्ये -आ प्रश्न छे)) आवो सदेह थवा पर आनो निर्णय प्रतीकार वगेरे शब्दोथी आचार्यरणुओ आपी रह्यां छे.

आ पंक्तिनो अर्थ एव छे के, जे आप गेणे जे दुःखनो प्रतीकार थई रह्यो होय तो पछी “भारे तो आ दुःख ने सहन कर्वनु जे छे” आवा आग्रही न थवुं लेईच्ये. अहीं ए सम्बन्धे के भगवद्-आश्रयने सिद्ध करवा भाटे विवेक अने धैर्य भताववामां आव्यां छे. तेथी त्रिदुःखसहनकृप वे धैर्यर्थनु निरूपयुक्त छ्युं छे, ते दुःख पशु जे भगवद्-आश्रय सिद्ध करवा भाटे थत्तु होय, त्यारे तो उचित छे पशु जे ते दुःखनु भगवदाश्रयथी कोई लेवुं-देवुं न होय तो, अकारण जे ते दुःख शा भाटे सहन कर्वनु ? कहुं पशु छे के, कारण विना तो मूर्ख पशु कोई कार्य नथी करता. आज कारणे कोई ए कहुं छे के -वे सुधने ग्राम कर्वनु निषिद्ध न होय, अवा सुधनो त्याग करवावालो तो पशु जे छे. अने अहीं तो डेवण कारणनो अभाव जे नथी पशु आवी रीते जाणी लेईने दुःखने जीलता रहेवुं नीति थी विपरीत छे अने असुरता पशु छे. आज कारणे गीतामां पशु भगवाने “वे दंभी अने अहंकारी कामना, आसक्ति अने बल द्वारा प्रेरित थर्नै वेदविक्रद्ध तप करे छे तेओ पोताना शरीरनी साथे मुज अंतर्यामी परभात्माने पशु कष्ट आपे छे, तेओ निश्चित इपे असुर छे (भ. गी. १७/५-६)” आ वाद्य कहुं छे.

यहाँ प्रश्न यह होता है कि त्रिदुःख को सहन करना “धैर्य” कहा तो गया है परंतु यदि कदाचित् अपने आप ही उस दुःख का प्रतिरोध हो जा रहा हो तो क्या तब उस प्रतिरोध को भी हटा कर दुःख ही सहन करना चाहिए या फिर उस प्रतिरोध के द्वारा दुःख दूर होने देना चाहिए ? टीकाकार कह रहे हैं कि, भले ही हम स्वयं उस दुःख को दूर करने का कोई प्रयास न करें परंतु यदि अपने आप ही अन्य किसी साधनो द्वारा दुःख दूर हो रहा हो तब क्या वह भी नहीं होने देना चाहिए या फिर होने देना चाहिए, यह प्रश्न है । ऐसा सदेह होने पर इसका निर्णय प्रतीकार इत्यादि शब्दों से किया जा रहा है ।

इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, यदि अपने आप ही दुःख का प्रतीकार हो जा रहा हो तो तब फिर “मुझे तो इस दुःख को सहना ही है” ऐसा आग्रही नहीं होना चाहिए । यहाँ यह समझिए कि, भगवद्-आश्रय को सिद्ध करने के लिए विवेक एवं धैर्य बताए मये हैं । अतः त्रिदुःखसहनरूप जिस धैर्य का निरूपण किया गया है, वह दुःख भी यदि भगवद्-आश्रय को सिद्ध करने के लिए होता हो, तब तो उचित है परंतु यदि उस दुःख का भगवद्-आश्रय से कोई लेना-देना न हो तो, अकारण ही दुःख क्यों सहन करना ? कहा भी गया है कि- कारण विना तो मूर्ख भी किसी कार्य को नहीं करते । इसी कारण किसी ने कहा है कि-जिस सुख को ग्रास करना निषिद्ध न हो, ऐसे सुख का त्याग करनेवाला तो पशु ही है । और यहाँ तो केवल कारण का अभाव ही नहीं है अपितु इस तरह से जानवृद्ध कर दुःख को झेलते रहना नीति के विपरीत है एवं असुरता भी है । इसी कारण गीता में भी भगवान् ने” जो दंभी एवं अहंकारी कामना, आसक्ति और बल द्वारा प्रेरित होकर वेदविरुद्ध तप करते हैं वे अपनी देह के साथ मुझ अन्तर्यामी परमात्मा को भी कष्ट देते हैं, वे निश्चित रूप से असुर हैं (भ. गी. १७/५, ६)“ यह वाक्य कहा है ।

यद्यच्छात इति, स्वयं तदर्थमायासो न कर्तव्य इति सूचितम् । तदर्थमायासकरणे स्वसर्वस्वप्रभुचरणारविन्दविस्मरणं यतः । “भूमिनिन्दप्रशंसा नित्ययोगेतिशायने । संसर्गस्त्वति विवक्षायां भवन्ति मातुब्रादयः” इति वाक्यानिन्दयापिभिन्न प्रत्ययोत्र । तथा चासदाग्रहवाऽन्न भवेदित्यर्थः । तेनायमर्थः पर्यवसन्नः । यदि किञ्चिदपि भगवतो भगवदीयानां वा कार्यं सिद्धयेत्, तदा स्वतः सिद्धेष्ठि प्रतीकारे दुःखं सोद्वयमेव । तत्राग्रहस्यासत्त्वाभावात् । न हि येन भगवतो भक्तानां वा सेवा सिद्धयति, तस्य कदाचिदप्यसत्त्वं भवति । यतो जन्मनो लाभः स एव यद्यगवतो भक्तानां वा कार्यसाधनम् । इदमपि स्त्रेहस्यापारिपाकदशायामुच्यते । परिपाकदशायां यथा यथा स्वयं क्लेशं सोद्वा भगवतो भक्तानां वा साधयति, तथा तथा परमसन्तोष एवेति दुःखमेव नास्ति किं सोद्वयम् ? ।

हे यद्यच्छातः शब्दन्ति व्याख्या करी रह्या छे. आनो अर्थ थाय छे— “भगवदित्यच्छाथी” आ पदधी ऐ समज्जय छे के आ दुःखो भगवदित्यच्छाथी पोतानी भेजे दूर थर्थ अथ तो ठीक छे परंतु तेमने दूर करवा भाटे कोई प्रयत्न नहीं करवा ब्लैर्ड्ये, आ सूचित कर्यु छे. केम्के ले आपले प्रयास कर्यु तो “आपणु सर्वस्व तो प्रभुचरणारविन्दज छे” आ भूषि सिद्धांतानु विस्मरण थर्थ जशे. शब्दकोशामां “मतुबृ” प्रत्यय भाटे “भूमि, निंदा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशायन, संसर्ग, विवक्षा-आटला अर्थोमां भतुबृ- प्रत्यय थाय छे” आ वाडयानुसार अहीं “मतुबृ” प्रत्यय निंदा ना अर्थमां छे. तेनाथी ऐ समज्जय छे के, अनुचित वस्तु भाटे आग्रही न थवुं ब्लैर्ड्ये. (आज वात नो विस्तार आगण श्रीब्रजराधज्जे पछा क्झों छे तेथी वधारे जाणवा भाटे तेमनी टीकामां ब्लैर्ड लेवुं)

उपर्युक्त विश्लेषण थी सेमज्जय ऐ छे के, जे तमारां दुःखो सहन करवाथी भगवाननु अथवा भगवदीयोनु थोडुं धारुं कार्य पाणि सिद्ध थर्थ रह्युं होय तो भवेते ते दुःख आपभेजे दूर थर्थ रह्युं होय, तो पाणि दुःख भज्ज सहन कर्यु ब्लैर्ड्ये. केम्के अहीं दुःखने सहन करवानो आग्रह राखवामां कोई दोष नदी. केम्के ले कार्यी भगवान अथवा भक्तोनी सेवा थर्थ रही होय, ते कार्य क्षारेय पाणि अनुचित नदी थर्थ शक्तुं. केम्के आ जन्मनी सङ्कणताज तेमां छे, के ले भगवान अथवा भक्तो ना कार्यो ने सिद्ध करवानु साधन भनी ज्ञय. एक वात ऐ पाणि समज्जे के भवे ने एभ कर्युं होय के दुःखने सहन कर्यु ब्लैर्ड्ये परंतु दुःखने सहन करवामां कष्ट पाणि त्यारेय थाय छे ज्यारे लुवने भगवान के भगवदीयो ब्लैर्ड परिपक्ष स्नेह नदी होतो. परिपक्ष स्नेह थवा पर तो भगवान के भगवदीयोना कार्यो सिद्ध करवामां ते लेभ लेभ दुःखने सहन करे छे, तेम तेम तेम परम संतोषज्ज प्राप्त थाय छे, दुःखो थवुं ज नदी भाटी ते सहन शुं करशे ?

अब यद्यच्छातः शब्द की व्याख्या करते हैं, इसका अर्थ होता है— ‘भगवदिच्छा से’ । इस पद से यह ज्ञात होता है कि ये दुःख भगवदिच्छा से अपेनाप दूर हो जाएँ तब तो ठीक है परंतु इनको दूर करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए, यह सूचित किया गया है । क्योंकि यदि प्रयास करेंगे तो “अपना सर्वव्य तो प्रभुचरणारविद ही हैं” इस मूल सिद्धांत का विमरण हो जायेगा । शब्दकोश में ‘मतुबृ’ प्रत्यय के लिए “भूमि, निंदा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशायन, संसर्ग, विवक्षा-इन्हें अर्थों में मतुबृ-प्रत्यय होता है”— यह वाक्य कहा गया है । इस वाक्यानुसार यहाँ ‘मतुबृ’ प्रत्यय निंदा के अर्थ में है । इससे यह ज्ञात होता है कि, अनुचित वस्तु के लिए आग्रही नहीं होना चाहिए । इसी वात का विस्तार आगे श्रीब्रजराधजी ने भी किया है अतः अधिक जानने के लिए उनकी टीका में देख ले

उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि, यदि आपके दुःख सहन करने से भगवान का या भगवदीयों का किंचित् कार्य भी सिद्ध हो रहा हो तो भले ही वह दुःख अपने आप दूर होता हो, तब भी दुःख ही सहन करना चाहिए । क्योंकि यहाँ दुःख को सहन करने का आग्रह खनें में कोई दोष नहीं है । क्योंकि जिस कार्य से भगवान या भक्तों की सेवा हो रही हो, वह कार्य कभी भी अनुचित नहीं हो सकता । क्योंकि इस जन्म की सफलता ही वही है, जो भगवान या भक्तों के कार्यों को सिद्ध करने का साधन बन जाय । एक वात यह भी समझिए कि भले ही यह कहा गया हो कि दुःख को ‘सहन’ करना चाहिए परंतु दुःख को सहन करने में कष्ट भी होता है जब जीव को भगवान या भगवदीयों से परिपक्व स्नेह होने पर तो भगवान या भगवदीयों का कार्य सिद्ध करने में वह जैसे-जैसे दुःख को सहन करता है, वैसे-वैसे उसे परम संतोष ही प्राप्त होता है, दुःख तो होता ही नहीं फिर वह सहन ही क्या करेगा ?

अभिमानस्त्वैव संसारत्वादपमानजनितदुःखसहनमतिकठिनम् । तत्रापि स्वाप्नाधीनैः कृतस्ततः सुतरां सोदुमशक्यस्तेन तत्सहने कदाचित्कर्त्यचिज्जिथिलता स्पादिति “त्रिदुःखसहनमि”¹ ति सङ्घेषणोक्तमपि पुनर्विशेषत आहुर्भार्यादीनामिति । भार्या आदर्वेष्यमिति । सर्व एव बान्धवास्तेषामाक्रमं तत्कृतिरस्कारं सहेत् ।

¹ “सम्बन्धे” इति गे गे ।

अभिमान संसारी होय छे तेथी अपमानज्ञनित हुःभ सहेवून् अति कठिन होय छे. तेना पर पण आपणार्थी हीन व्यक्तित्वां द्वारा करेलु अपमान सहन कर्वू तो भूषध कठिन होय छे. तेना पर पण आपणा अधीन व्यक्तित्वां द्वारा करेलु अपमान सहेवून् तो अनेनाथी पण वधारे कठिन होय छे तेथी आ अपमानने कडाच कोई सहन न करी शके तो त्रिदुःखसहनं वगेरे वाक्यां संक्षिप्तप्रयोगे कथ्या पछी पण आचार्यचरणां विशेषज्ञप्रथी भायादीनां वगेरे शब्दोदीक्षी कडी रथ्या छे. भायादीनां शब्दनो अर्थ छे - पत्नी, पुत्र अने अन्य परिवारजन. आ सभस्त बंधु-भांधयोना तिरस्कार के अपमान सहन करी लेवा ज्ञेईये.

अभिमान संसारी होता है अतः अपमान जनित दुःख सहना अति कठिन होता है। तिस पर भी अपने से हीन व्यक्तियों द्वारा किया गया अपमान सहन करना तो और भी कठिन होता है। तिस पर भी अपने अधीन व्यक्तियों द्वारा किया गया अपमान सहना तो इनसे भी अधिक कठिन होता है अतः इन अपमानों की कदाचित् कोई सहन न कर सके तो त्रिदुःखसहनं इत्यादि वाक्य संक्षिप्तरूप से कहने के बाद भी आचार्यचरण विशेषरूप से 'भायादीनां' इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भायादीनां शब्द का अर्थ है-पत्नी, पुत्र एवं अन्य परिवारजन। इन समस्त बंधु-बाँधवों का तिरस्कार या अपमान सहन कर लेना चाहिए।

आसमन्तात्क्रमः पादविषेषः, विरसि पादप्रहारपर्यन्तमपि तिरस्कारं सहेवित्यर्थः । पुत्रा अपि कदाचिद्विभागादिना स्वतन्त्रा भवन्ति । भायां तु केवलं भ्रतीयीनैवेति तत्कृतस्तिरस्कारो भर्तुरतिदुःमहस्ताहशोपि सोढव्य इति ज्ञापनाय प्रथमं भायाया निर्देशः । यथैतादशुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यस्तत्रान्यसहने कि बन्कव्यमिति कैमुतिकन्यायोप्यनेन सूचितः । तथा च, प्रभुचरणनलिनयुगलसमाश्रयणाय कि 'न कर्तव्यमिति भावोप्यसूचि' यतोत्राश्रयनिरूपणायैव विवेकपैद्येण निरूप्येते । बन्धुप्वप्यपि एकस्य द्रव्योर्बा सोढव्यो नास्ति, किन्तु सर्वेषामिति ज्ञापनाय बहुवचनम् ।

“आक्रमं” शब्दनो अर्थ छे-भधार प्रकारना तिरस्कारने सहन करी लेवा ज्ञेईये. आमां पादप्रहार पण आवी गयो अर्थात् भाया पर लातोना प्रहार सुधीनो तिरस्कार पण भूषध करी लेवो ज्ञेईये. आ अर्थ छे. पुत्रों तो कडाच संपत्तिनी वहेचणी पछी अलग पण थर्ड लाय परंतु पत्नी तो केवण पतिनेज अधीन होय छे अने पत्नी द्वारा करेलो तिरस्कार पति भाटे असहनीय होय छे परंतु ते पण सहन कर्वावो ज्ञेईये-आ बतावया भाटे सर्वप्रथम “भायां” शब्दनो निर्देश क्यों छे. ज्यां आवो असहनीय तिरस्कार पण सहन करी लेवो ज्ञेईये, त्यां भीज तिरस्कारने सहन करवावां शुं कडेवू ? आ केमुतिकन्याय पण सूचित थाय छे. अने, प्रभुचरणकमलयुगलानो आश्रय करवा भाटे शुं-शुं सहन न करी लेवु ज्ञेईये, आ भाव पण सूचित झों छे केवडे भगवद्-आश्रये भाटेव विवेक-धैर्य निरूपित करेलां छे. अहीं केवण कोई अथवा ये परिवारजननो नुं नहीं पण सभस्त परिवारजननो तिरस्कार सहन करी लेवो ज्ञेईये-आ बतावया भाटे बहुवचनमां सर्वेषां पद नो प्रयोग छे.

‘आक्रमं’ शब्द का अर्थ है-सभी प्रकार के तिरस्कारों को सहन कर लेना चाहिए। इसमें पादप्रहार भी आ गवा अर्थात् सिर पर लातों के प्रहार तक का तिरस्कार भी सहन कर लेना चाहिए, यह अर्थ है। पुत्र तो कदाचित् संपत्ति के बँटवारे के पश्चात् अलग भी हो जाएँ परंतु पत्नी तो केवल पति के ही अधीन होती है और पत्नी के द्वारा किया गया यता तिरस्कार पति के लिए असहनीय होता है परंतु वह भी सहन करना चाहिए-यह बताने के लिए सर्वप्रथम ‘भायां’ शब्द का निर्देश किया गया है। जहाँ ऐसा असहनीय तिरस्कार भी सहन कर लेना चाहिए वहाँ दूसरा तिरस्कार सहन करने में क्या कहना ? यह कैमुतिकन्याय भी सूचित होता है। और, प्रभुचरणकमलयुगल का आश्रय करने के लिए क्या-क्या नहीं सहन कर लेना चाहिए, यह भाव भी सूचित किया है क्योंकि भगवद्-आश्रय के लिए ही विवेक-धैर्य निरूपित किए गये हैं। यहाँ केवल किसी एक यां दो परिवारजन का ही नहीं अपितु समस्त परिवारजनों का तिरस्कार सहन कर लेना चाहिए-यह बताने के लिए बहुवचन में सर्वेषां पद का प्रयोग है।

ननु “सहं”मर्षणे, इति धातोरनुदातेत्वात्सहेदेति परस्मैपदं कथं चकास्तीति चेद्, इत्थम् ।

“चक्षिद्व्यक्तायां वाची”त्येकारसत्त्वेपि डकायाहणं यत्, तत् डितामेवात्मानेपदं नित्यमनुदातेतान्तु अनित्यमिति ज्ञापयति । तेन अनुदातेतां कदाचित् परस्मैपदमपि भवति, अत एव पण्डितप्रब्रणेन बोपदेवेन कविकल्पद्वमधातुपाठे अयम् उभयपुक्तः । अत एव महाकविना शाकलमग्नेनाप्यधिमत्समंतुमसहत्रपयन्ताविफलो भवेति मध्यवानमशासीदिति प्रयुक्तम् । अत एवानुकूलमप्यहति पण्डितो जनः इतिप्रयोगः ।

परंतु अहीं एक शंका एवे थाय छे के 'सहेत्' पद तो “सहभृष्टे” धातुथी बन्यु छे अने अनुदात-अर्थमां छे, तो पण अने परस्मैपदना अर्थमां केवी शीते योज्यवामां आव्यो ? आ प्रश्नना उत्तरामां एव ज्ञापुं ज्ञेईये के “यक्षिद्व्यक्तायां वाची” (“यक्षिद्”) धातु वाइनी अभिव्यक्तिमां प्रयुक्ता कराय छे) धातुने अनुसार अनुदातोमां क्यांक-क्यांक परस्मैपद पण प्रयुक्त

करवामां आवे छे. आज कारणे महापंडित बोपदेवणुचे पण पोताना “इविकल्पदूम्” नाभना धातु-पाठमां “सहभर्षणे” धातुने आत्मनेपद अने परस्मैपद बंनेभां प्रयुक्त करी छे. तेथी, आज कारणे महाकवि शाक्खमध्ये पण पोताना काव्यमां, “हे ईद्ध! बीजल्योनो आधिपत्यने सहन न करवामां तमे सकून बनो एनो ठूँद्ने आशीर्वाद आप्यो,” आ वाक्यमां “सह” धातुनो प्रयोग परस्मैपदमां क्वो छे तेथी अहीं पण ते परस्मैपदमां प्रयुक्त करी लीघो छे तो ते हीक ज छे. आज कारणे “पंडितजनो न कहेली वात ने पण पोतानी बुद्धिथी समलु ले छे” ऐम कहेवाय छे.

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि “सहेत्” पद तो “सह” मर्णे” धातु से बना है एवं अनुदात-अर्थ में है, फिर भी इसे परस्मैपद के अर्थ में कैसे प्रयुक्त कर दिया गया? इस प्रश्न के उत्तर में यह जानना चाहिए कि “चक्षिद्” व्यक्तायां वाची’ अर्थात् “चक्षिद्” धातु वार्णी की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त की जाती है धातु के अनुसार अनुदातों में कर्ही-कर्ही परस्मैपद भी प्रयुक्त किया जाता है। इसी कारण महापंडित बोपदेवजी ने भी अपने ‘कविकल्पदूम्’ नामक धातु-पाठ में “सह मर्णे” धातु को आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में प्रयुक्त किया है। और, इसी कारण महाकवि शाकलमण्डु ने भी अपने काव्य में ‘‘हे इंद्र! दूसरों के अधिपत्य को सहन न करने में तुम सफल बनो-ऐसा इंद्र को आशीर्वाद दिया’’ इस वाक्य में ‘‘सह’’ धातु का प्रयोग परस्मैपद में किया है अतः यहाँ भी यदि वह परस्मैपद में प्रयुक्त की गई है तो वह ठीक ही है। इसी कारण “पंडितजन न कही हुई वात को भी अपनी बुद्धि से समझ लेते हैं” ऐसा कहा जाता है।

ननु उदासीनाश्रेत् केपि तिरस्कुर्युस्तदा किं करणीयम् इत्याशङ्क्य, तत्रापि यदि तदसहने आश्रये कञ्चनानन्तरायः स्यात्, तदा सोढब्यमित्याद्यस्तथान्येषामिति । यथातिदुःसहोपि बन्धनां तिरस्कारः सोढब्यस्तथोदासीनानामपि तिरस्कारः सोढब्यः इत्यर्थः । ननु नीचश्रेत् कोपि तिरस्कुर्यात् तदा किं कारणीयमित्याशङ्क्य पूर्ववदेवाहुरसत इति । असतो जात्यादिहीनस्येत्यर्थः । यदि भगवत्सेवादिकं निर्वहति तदा तदर्थं म्लेच्छादीनामपि तिरस्कारः सोढब्यः इत्यर्थः । न केवलं तेषां तिरस्कारमात्रं सोढब्यं, प्रत्युत यदि तैः प्रभुसेवादिकं निर्विग्रं निर्वहति तदा बान्धवा उदासीना म्लेच्छादश्यथ त्रयोपि अनुसर्तन्या इति चकारार्थः ।

परंतु अहीं एक शंका ये थाय छे के ज्ञे भगवद्-धर्ममां उदासीन कोई व्यक्ति आपणे तिरस्कार करे तो शुं करवुं? तो अन्येषां वगेरे शब्दो द्वारा आचार्यरचरणो समाधान करी रह्यां छे के ज्ञे अभनां पण तिरस्कारनो विरोध करवामां भगवद्-आश्रयमां विन आवी रह्युं होय तो तेभनो तिरस्कार पण सहन करवो ज्ञेये, आ अर्थ छे. लेवी रीते बंधु-बांधवोना असहनीय तिरस्कार ने पण सहन करवानुं कर्युं छे, तेवी रीते आ लोकेनो तिरस्कार पण सहन करी लेवो ज्ञेये, आ अर्थ छे. भीजो प्रश्न एसे छे के ज्ञे कोई नीय व्यक्ति आपणो तिरस्कार करे त्यारे शुं करवुं? तो असतः वगेरे शब्दोदीये खेलालांनी ज्ञेमज्ज सहन करवानुं आचार्यरचरणो कही रह्यां छे. असतः व्यक्तियों नो अर्थ छे-हीनजनतिना व्यक्ति. ज्ञे भगवद्सेवा निभती होय तो तेना भाटे ज्ञेच्छ लेवा व्यक्तियोंनो तिरस्कार पण सहन करी लेवो ज्ञेये, आ अर्थ छे. तेना पर पण डेवण तेभनो तिरस्कार सहेवो ज नहीं पण परिवारजन, भगवद्-धर्मोंमां उदासीन अश्वया वणी म्लेच्छो ना द्वारा पण ज्ञे प्रभुसेवानो निर्विधन्तपथी निर्वाह थतो होय तो तेओ ज्ञेम करी पण लेवुं ज्ञेये - आ “श्” शब्दनो अर्थ छे.

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि यदि भगवद्-धर्म में उदासीन कोई व्यक्ति हमारा तिरस्कार करे तब क्या करना? तो अन्येषां इत्यादि शब्दों द्वारा समाधान करते हुए आचार्यरचरण कह रहे हैं कि यदि उनके भी तिरस्कार का विरोध करने से भगवद्-आश्रय में विन आ रहा हो तो उनका तिरस्कार भी सहन करना चाहिए। जिस प्रकार बंधु-बांधवों के असहनीय तिरस्कार को भी सहन करना कहा गया है, वैसे इन तोरों का तिरस्कार भी सहन कर लेना चाहिए, यह अर्थ है। दूसरा प्रश्न यह है कि यदि कोई नीच व्यक्ति हमारा तिरस्कार करे नव क्या करना? तो असतः इत्यादि शब्दों से पहले की ही तरह सहन करना कह रहे हैं। असतः व्यक्तियों का अर्थ है-हीन जाति के व्यक्ति। यदि भगवत्सेवा निभती हो तो उसके लिए म्लेच्छ जैसे व्यक्तियों का तिरस्कार भी सहन कर लेना चाहिए, यह अर्थ है। तिस पर भी केवल उनका तिरस्कार सहना ही नहीं परंतु परिवारजन, भगवद्-धर्मोंमें उदासीन या फिर म्लेच्छों के भी द्वारा यदि प्रभुसेवा का निर्विधन्तपथ से निर्वाह होता हो तो ये जैसा कहें वैसा कर भी लेना चाहिए- यह ‘च’ शब्द का अर्थ है।

यथा भगवद्धर्मतिदुःसहोपि तिरस्कारः सोढब्यः, तथा प्रभुचरणसमाश्रयणाय प्रतिबन्धरूपः सर्वोपि सुखभोगः सुदुस्त्यजोपि त्यक्तव्य इत्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायचाङ्गमनसा त्यजेत् ।

अद्वौरोणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्यभावनात् ॥ ८ ॥

“स्वयं” पदात् श्रीप्रभुपादादत्वेन प्राप्तस्य विहितत्वेन प्राप्तस्य च मिष्ठानादेः परित्यागाभावः सूचितः । अत एव

“त्योगमुक्ते” त्यादि । इन्द्रियकार्याणि सर्वेन्द्रियविषयभोगात् कायेन बाचा मनसा च स्वयं प्रयत्नेन त्यजेदित्यर्थः ।

जे प्रकारे भगवान् भट्टे असहनीय तिरस्कार सहन करवो ज्ञेये, तेम प्रभुचरणोना आश्रय भट्टे प्रतिबंधकरूप समस्त सुभलोग पशु छोडी देवा ज्ञेये, भलेने ते त्यागवा कठिन होय -अ-। “स्वयं” ईत्यादि शब्दोर्थी आचार्यचरणो कही रह्यां छि । स्वयं पदथी ऐ ज्ञाय छे के प्रभुप्रसादाना इप्पमां प्राप्त थयेती विहित भिठाई वरेतेनो त्याग आवश्यक नथी । आज कारणे “अमे आपना द्वारा उपभुक्त माला पहेरी, चंदन लगाउनु, अमे आपनी जूठन आवा वाणा दास छीने । (श्री. भा. ११/६/४६)” आवां वाक्यो श्रीभद्रभागवतमां प्राप्त थाय छे । जे के समस्त ईंद्रियो विषयभोगमां असक्त होय छे तेथी ईंद्रियोना आवा समस्त कार्यो ने मन-वाणी-शरीर द्वारा आपाङे प्रयत्नपूर्वक छोडवां ज्ञेये, आ अर्थ छे ।

जिस प्रकार भगवान के लिए असहनीय तिरस्कार सहना चाहिए, वैसे प्रभुचरणों के आश्रय के लिए प्रति प्रतिबंधकरूप समस्त सुखभोग भी त्याग देने चाहिए, भले ही वे त्यागने कठिन हों-यह स्वयं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । स्वयं पद से यह ज्ञान होता है कि प्रभुप्रसाद के रूप में प्राप्त हुई विहित मिठाई इत्यादि का त्याग आवश्यक नहीं है । इसीकारण “हमने आपके द्वारा उपभुक्त माला पहनी, चंदन लगाया, हम आपकी जूठन खाने वाले दास हैं (श्री. भा. ११/६/४६)” इत्यादि वाक्य श्रीमद्-भगवत में प्राप्त होते हैं । चौकी समस्त ईंद्रियों विषय भोग में आसक्त होती हैं अतः ईंद्रियों के ऐसे समस्त कार्यों को मन-वाणी-शरीर द्वारा हमें प्रयत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए, यह अर्थ है ।

अयमभिसन्धिः, “तस्मात्केनाणुपायेन मनः कृष्णे निवेशये” दिति सप्तमे नारदवचनाचिरनन्दं भगवद्वावनादिव परमापुरुषार्थः । अत एव “तस्माद्वारत सर्वात्मे” त्यादि । “तस्मात्सर्वात्मना राजन् हृदिस्यं कुरु केशवं । श्रियमाणोव्यवहितस्ततोयापि पराङ्गतिम्” । अतस्तस्तसाधक एव परमलाभकरस्तद्विधातक एव परमहानिकरः । यतश्चिन्नतादिविच्छेदक एव परमहानिकरः । अत एव सा हानिः “कालोस्ति यत आयुर्हरति वै पुंसामित्यादि । भोगश्च स्मरणादिविधातकः । अतः परमहानिकरत्वेन भोगास्त्यक्तव्या इत्यर्थः ॥

अहीं गृहार्थ ऐ छे के “तेथी श्री कृष्ण पशु प्रकारे भनने फृष्णमां ज्ञेडी देवुं ज्ञेये (श्री. भा. ७/१/३१)”—समस्तसंघर्षना आ नारदवचन्यनो द्वारा निरंतर भगवद्-भावना करवाइज परमपुरुषार्थ छे । आज कारणे श्रीभद्रभागवतमां “तेथी ज्ञ हे परिक्षित ! सर्वात्मा भगवान्ननीज लीलायोनुं स्मरण करवुं ज्ञेये (श्री. भा. २/१/५)” अने “तेथी हे परिक्षित ! हवे बधीज रीते भगवान केशवने हृदयाङ्क करीलो, तमने अवश्य परमभगति प्राप्त थरो (श्री. भा. १२/३/४६)” वरेवे वाक्यो छे । तेथी भगवद्वावनुं साधक परम लाभकारी छे अने भगवद्भावनुं विधातक परम हानिकारक छे । केमें भगवद्-चित्तननो विच्छेदक ज्ञ परम हानिप्रद छे । आज कारणे ते हानि— “वे भनुप्पनो सभय भगवान-श्रीकृष्णाना गुणानां व्यतीत थर्त रहो छे, तेना सिवाय भीज बधा भनुप्पनुं आयुष्य व्यर्थ ज्ञैरु रह्य छे (श्री. भा. ३/२/१७)”— वरेवे वाक्यो द्वारा कही छे । अने विषय भोग तो भगवद्-समरणामो विधातक छे तेथी परम हानिप्रद होताथी भोगो छोडी देवां ज्ञेये, आ अर्थ छे । (पाठ्कोनी सुविधा भाटे कही दर्शये के अहीं थी आहमा श्लोकनी टीका पूरी थवा सुधीनां वाक्यो संवाहात्मक छे । संस्कृत-टीकानां आ मूल वाक्यो ने पांचवार्थी कंटक ऐनुं प्रतीत थाय छे के, आ टीकानुं लेखनार्क्य इत्तता सभये टीकाकारनी सामे ज्ञेई वितंडावादी (येवो भाषणस ने फूत तर्क-वितर्क करतो होय) आवां गयो हरो अने तेषु अेमनी सामे ज्ञेई तर्क-वितर्क क्ष्यों हरो । तेथी तेनो उत्तर आपता सभये टीकाकार कंटक क्षोवित पशु थर्त गयां हरो, ऐनुं अेमना लेखनथी आभास थाय छे । आ प्रसंगनो आनंद लेवा भाटे भे पशु अने संवाहात्मपां ज्ञ लक्ष्युं छे)

यहाँ गूढार्थ यह है कि “अतः किसी भी प्रकार से मन को कृष्ण में लगा देना चाहिए (श्री. भा. ७/१/३१)” सप्तमसंघ के इस नारदवचनों के द्वारा निरंतर भगवद्-भावना करनी ही परमपुरुषार्थ है । इसी कारण श्रीमद्-भगवत में “इसी कारण हे परिक्षित ! सर्वात्मा भगवान की ही लीलाओं का स्मरण करना चाहिए (श्री. भा. २/१/५)” एवं “अतः हे परिक्षित ! अब सभी प्रकारों से भगवान केशव को हृदयाङ्क कर लो । तुम्हें अवश्य परमभगति प्राप्त होगी (श्री. भा. १२/३/४६)” इत्यादि वाक्य हैं । अतः भगवद्-भाव का साधक ही परम लाभकारी है एवं भगवद्-भाव का विधातक परम हानिकारक है । क्योंकि भगवद्-चित्तन का विच्छेदक ही परम हानिप्रद है । इसी कारण वह हानि “जिस मनुष्य का समय भगवान-श्रीकृष्ण के गुणानां मैं व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त अन्य सभी मनुष्यों की आयु व्यर्थ जा रही है (श्री. भा. ३/२/१७)” इत्यादि वाक्य द्वारा कही गई है । और विषय भोग तो भगवद्-स्मरण का विधातक है । अतः परम हानिप्रद होने के कारण भोग त्याग देने चाहिए, यह अर्थ है । अध्येताओं की सुविधा के लिए वता दैं कि अब यहाँ से आठवें श्लोक की टीका पूरी होने तक के वाक्य संवाहात्मक हैं । संस्कृत-टीका के इन मूल वाक्यों को पढ़ने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि, इस टीका का लेखन कार्य करते समय टीकाकार के सामने कोई वितंडावादी (ऐसा व्यक्ति जो केवल तर्क-कुरत्क करता हो) आ गया होगा और उसने इनके सामने

कुछ तर्क-कुतर्क किया होगा । उनका उत्तर देते समय टीकाकार कुछ कोधित भी हो गये होंगे, ऐसा इनके लेखन से आभास होता है । इस प्रसंग का आनंद लेने के लिए मैंने भी इसे संवाद-रूप में ही लिखा है ।

नन्दिमसङ्गतम्, तथाहि, अन्येषां यथा तथास्तु, भक्तानानु विषया न वाधकाः । यतः सत्स्वपि विषयमोगेषु भक्तिरेव सर्वासाधिकास्ति । अत एव “ब्रायमानोपि मद्भक्तः” “अपि चेत्सुदुराचाराः” इत्यादि । अत एव प्रियत्रतप्रहादाम्बरीपादीनामपि राज्यादिकरणम् । न हि स्मरणादिविधातकेषु ते प्रवर्तन्ते । अतः कथं भगवद्वाविधातका विषया इति चेत् ? स्वानुभवं जानन्त्येवं वदन् निरपरोपासि । न हि त्वया भोगं भुजानो भगवद्वरणारविन्दाभिनिविधचित्तः क्षिद्वृष्टचरः श्रुतो वा । ननु श्रुता एव वहवः प्रियत्रतप्रभृतय इति चेत् ? रे मूर्खः ? तेषु भोगस्य नाममात्रम्, न हि ते विषयेष्वासक्तचित्ताः, किन्तु, केवलं प्रभुचरणपरायणा एव । अतः प्रभोराङ्गया ते राज्यादिकं कृतवन्नो न तु भोगं भुजानाः ।

परंतु कोई पूर्वपक्षीनीं शंका न्यौ छे छे के, आ भवा उपदेशो असंगत छे केमें भीजान्त्येवं तो जे थाय ते थाय परंतु भक्तोने भाटे तो विषयो (संसारासङ्गित) बाधक थता नन्दी केमें जे ते बाधक होय तो पशु भक्तिं ज्ञ सर्वसाधिका छे । आज कारणे भगवाने पशु, “ईंद्रियो द्वारा बाधित थथा छतां पशु भारो भक्त मारी प्रगल्भ भक्तिथी प्रायः पराजित नन्दी थतां (श्री. भा. ११/१४/१८)”, “दुराचारी थथा पर पशु भारा भक्ततं साधु ज्ञ भानवो ल्लेठिए (भ. गी. ३/३०)” वगेन् वाक्ये इत्या छे । अने आज कारणे प्रियत्रत, अंबरीष, प्रल्लाद वगेन् लोकोन्ये भगवद्-भक्त दोया छतां पशु राज्य भोगवेलु । जे विषयमोगं भगवद्-भावना विधातक छोत तो तेचो राज्य करवामां प्रवृत्त केवी रीत धता ? तेथी आप विषयोने भगवद्-भावना विधातक केवी रीते कही रह्या छो ?

जे तमे न्यौ शंका करी रह्या छो तो अरे निर्लज्ज ! पोताना अनुभवने जाणवा छतां पशु तु आवुं कही रह्यो छं ? शुं ते भगवत्-यरणारविंदोभां निविष्ट चित्तवाणा कोई भक्तने आ प्रकारे विषयोना भोग करता जेया छे के सांभज्या छं ?

हा, राज्य प्रियत्रत जेवा भलु लोकेना विषे एवुं सांभज्यु छे ।

अरे भूर्ख ! ए लोको भां भोग तो कथन भान भाटे ज्ञ छे, अभन्तु चित्त कोई विषयोभां आसक्त नन्दी परंतु प्रभुचरणपरायणा ज्ञ छे । आज कारणे प्रभु-आकाशी तेचो राज्य करी रह्या हुता, राज्य भोगववा भाटे नहीं.

परंतु किसी पूर्वपक्षी की शंका यह है कि, ये सभी उपदेश असंगत हैं व्यक्तिकि अन्यों का तो चाहे जो हो किन्तु भक्तों के लिए तो विषय (संसारासङ्गि) बाधक नहीं होते । क्योंकि यदि वे बाधक हों तो भी भक्त ही सर्व-साधिका है । इसी कारण भगवान ने भी “इंद्रियों के द्वारा बाधित होने पर भी मेरा भक्त मेरी प्रगल्भ-भक्ति से प्रायः पराजित नहीं होता (श्री. भा. ११/१४/१८)”, “दुराचारी होने पर भी मेरे भक्त को साधु ही मानना चाहिए (भ. गी. ३/३०)” इत्यादि वाक्य कहे हैं । और इसी कारण प्रियत्रत, अंबरीष, प्रल्लाद इत्यादि लोगों ने भगवद्-भक्त होते हुए भी राज्य भोगा था । यदि, विषयमोग भगवद्-भाव का विधानक होता तो ये राज्य करने की ओर कैसे प्रवृत्त होते ? अतः आप विषयों को भगवद्-भाव का विधातक कैसे कह रहे हैं ?

यदि तू ऐसी शंका कर रहा हो तो, अरे निर्लज्ज ! अपने अनुभव को जानता हुआ भी तू ऐसा कह रहा है ? क्या तूने भगवत्-चरणारविंदो में निविष्ट चित्तवाले किसी भक्त को इस प्रकार से विषयों का भोग करते देखा या सुना है ?

हाँ, राजा प्रियत्रत जैसे बहुतों के बारे में ऐसा सुना ही है ।

अरे भूर्ख ! उन लोगों में भोग तो कथन भान के लिए है, उनका चित्त कोई विषयों में आसक्त नहीं है अपितु प्रभुचरणपरायण ही है । इसी कारण प्रभु-आकास से वे राज्य कर रहे थे, राज्य भोगने के लिए नहीं ।

नन्दिनुभवेन कथं निर्दीर्घः प्रमाणसम्मतिं विनानुभवत्वप्रमाणत्वाः सन्देहादिति चेत् ? वत्स ? विमलामतिस्ते, यतः प्रमाणसम्मतिमपि श्रोतुकामोसि । अवहितः शृणु । प्रथमं तावद्वितीयासु श्रीमद्युक्तुलजलथिसमुद्भूतभीकृष्णचन्द्रोऽक्षमवधारय । तथाहि, ‘विषयान्वयातः पुंसः सङ्गतेषूपूजायते । सङ्गत् सज्जायते कामः कामान् क्रोधोभिगायते । क्रोधाद्वत्ति सम्मोहः सम्मोहात्समृतिविभ्रमः । समृतिभंशाहुद्धिनाशः सुध्धिनाशात्प्रणश्यति’ । सङ्ग आसक्तिः, कामोभिलापः, क्रोधः कोपः, सम्मोहो विक्रोकाभावः, समृतिविभ्रमो भगवद्वरणिस्मरणम्, बुद्धिनाशः सुध्धिनाशः, प्रणशः स्वस्पलाभाभावः । मुक्तो लीलाप्रवेश वा स्वस्पलाभस्तदभावः संसारः ।

परंतु आप केवल अनुभवना आधार पर आने निश्चितङ्गपक्षी केवी रीते कही शंको छे के तेभनामां राज्य भोगववानी इच्छा नहींती ? केमें ज्यां सुधी कोई वातनुं प्रभाश न भणे, त्या सुधी अनुभव अने प्रभाशनी वर्ष्ये सहिणी रेखा तो भनी ज्ञ रहे छे ।

हे वत्स ! हवे तमारी बुद्धि कईक शुद्ध थर्द छे. केमेडे हवे तमे डोरा तर्को ने छोडीने प्रभाषा पछ सांखयवा भाँगो छो. तो सावधान थर्हने सांभापो. सर्वप्रथम भगवद्गीतामां श्रीमद्-यदुकुलनंदन श्रीकृष्णचंद्रनुं कथन हृदयमां धारण करे “इद्रियविषयेनुं चिंतन करवाथी भनुञ्चनी तेमनामां आसक्ति थाय छे; आसक्तिथी काम अने छोध थाय छे. छोधथी भोह अने भोही स्मरणशक्ति क्षीण थर्ज भय छे. स्मृति नाशथी बुद्धिनाश अने बुद्धिनाशथी संसारकूपमां इरीथी पडी ज्वाथी पतन थर्ज भय छे (भ. गी. २/६२/६३).” अहीं संगनो अर्थ थाय छे, आसक्ति. कामनो अर्थ छे, अभिलाषा. डोधनो अर्थ छे, कोप. सभ्मोहनो अर्थ छे - भलां-भूरानो विवेक न होवो. स्मृतिविषयभनो अर्थ छे - भगवत् चरणेनुं विस्मरण थवुं. बुद्धिनाश नो अर्थ छे, सदबुद्धिनो नाश थपो. प्रणाशनो अर्थ छे - स्वप्नज्ञान न थवुं. भुक्तिविधा पर के लीलाप्रवेश थवा पर ज आपशां वास्तविक स्वप्नपी ग्रामि थाय छे. ल्यां आपशां वास्तविक स्वप्नपी ग्रामि नथी, तेज संसार छे.

परंतु आप केवल अपने अनुभव के ही आधार पर इसे निश्चितरूप से कैसे कह सकते हैं कि उनमें राज्य भोगने की इच्छा नहीं थी ? क्योंकि जब तक किसी बात का प्रमाण न मिले, तब तक अनुभव एवं प्रमाण के बीच संदेह की रेखा तो बनी ही रहती है ?

हे वत्स ! अब तुम्हारी बुद्धि कुछ शुद्ध हुई है। क्योंकि अब तुम कोरे तर्कों को छोड़कर प्रमाण भी सुनना चाहते हो। तो सावधान होकर सुनो। सर्वप्रथम भावद्-गीता में श्रीमद्-यदुकुलनंदन श्रीकृष्णचंद्र का कथन हृदय में धारण करो। “इद्रियविषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है; आसक्ति से काम एवं काम से ओध होता है। ओध से मोह और मोह से स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है। स्मृति-नाश से बुद्धिनाश. और बुद्धिनाश से संसारकूप में फिर से गिर कर पतन हो जाता है (भ. गी. २/६२/६३)”。 यहाँ संग का अर्थ है, आसक्ति। काम का अर्थ है, अभिलाषा। ओध का अर्थ है, कोप। सम्मोह का अर्थ है, भले-दुरे का विवेक न होना। स्मृतिविध्रम का अर्थ है, भगवत्-चरणों का विस्मरण हो जाना। बुद्धिनाश का अर्थ है, सदबुद्धि का नाश हो जाना। प्रणाश का अर्थ है, स्वरूपज्ञान न होना। मुक्ति होने पर या लीलाप्रवेश होने पर ही अपने वास्तविक स्वरूप की ग्रामि होती है। जहाँ अपने वास्तविक स्वरूप की ग्रामि नहीं है, वहीं संसार है।

अत एव कपिलदेवैरप्युक्तम्, ‘चेतः सल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सर्कं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तय, इति । (भा. ३-२५-१५) गुणेषु रूपरसादिषु पञ्चस्यपि विषयेच्चिति यावत् । अत एव “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरि” त्यगि । अत एव विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशस्तु दूरतः” इत्यपि । भोगेच्चिति स्त्रीसंभोगः सुतरां बापकः, तत्क्षणमेव बुद्धिविषयासकरत्वात् । अत एव कपिलदेवैरपि ‘न तथास्य भवेन्मोह’ इत्यायुक्तम् । ‘भोगान्सन्त्यज्य यः सर्वान्न जातु काम’ इत्यादि यथातिवचनम् । ‘महस्तेवाद्वारमाहु’ इत्यादि ऋषभावाक्षम् ।

आज कारणे कपिलदेवैष्टु ए पछ, “लुप ना बंधन अने भोक्षनुं कारण भन ज छे. विषयोमां आसक्त थवा पर ते बंधननो हेतु छे अने परभात्भामां अनुरक्त थवा पर तेज भन भोक्षनुं कारण भनी ज्य छे. (श्री. भा. ३/२५/१५)”, आ कह्युं छे. आ श्लोकमां ‘गुणेषु’ शब्दनो अर्थ छे - ३५, रस, गंध, स्पर्श, शब्द वगेरे पांच विषयोमां आसक्त थवाथी लुप संसारमां बंधाई ज्य छे. आज कारणे कपिलदेवैष्टु ए “भन ज बंधन अने भोक्षनुं कारण छे” ऐम कह्युं. आज कारणे “विषयोथी आविष्ट थयेलां भन भाटे तो कृष्णानो आवेश तो दुर ज छे” आ प्रकारनां वाक्ये छे. आ समस्त लोगो भां स्त्रीसंभोग भद्रा करता वधारे भाधक छे केमेडे ते तेज समये बुद्धिनाश करी हे छे. तेथी ज कपिलदेवैष्टु ए पछ “लुपने अन्य कोई वस्तुथी भोह अने बंधन नथी थता, लेवा स्त्रीसंग अने स्त्रीसंगना संगी नो संग करवाथी थाय छे. (श्री. भा. ३/३१/३५)”, आ वाक्य कह्युं छे. अने यथातिरि “ने समस्त भोगोनो भद्री रीते (मुख्यवस्थित रीते) त्याग करी हे छे, तेने काम उत्पन्न नथी थतो.” आ वाक्य कह्युं छे. (भेणवो श्री. भा. ६/१६/१४). ऋषभदेवैष्टु ए पछ “शास्त्रोमे महापुड़योनी सेवा ने भुक्ति नुं अने स्त्रीसंगीने नरकनुं द्वार कह्यां छे (श्री. भा. ५/५/२)” आ वाक्य कह्युं छे.

इसी कारण कपिलदेवजी ने भी “जीव के बंधन एवं मोक्ष का कारण मन ही है। विषयों में आसक्त होने पर वह बंधन का हेतु है एवं परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मन मोक्ष का कारण बन जाता है (श्री. भा. ३/२५/१५)” यह कहा है। इस श्लोक में ‘गुणेषु’ शब्द का अर्थ है-रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इत्यादि पाँच विषयों में आसक्त होने पर जीव संसार में बँध जाता है। इसी कारण कपिलदेव जी ने ‘मन ही बंधन एवं मोक्ष का कारण है’ यह कहा। इसी कारण “विषयों से आविष्ट हुए मन के लिए कृष्ण का आवेश तो दूर ही है” इस प्रकार के वाक्य हैं। इन समस्त भोगों में स्त्रीसंभोग सबसे अधिक वाधक है क्योंकि ये उसी समय बुद्धिनाश कर देता है। अत एव कपिलदेव जी ने भी ‘जीव को अन्य किसी वस्तु से वैसा मोह एवं बंधन नहीं होता, जैसा स्त्रीसंग एवं स्त्रीसंग के संगी का संग करने से होता है (श्री.

भा. ३/३१/३५)" यह वाक्य कहा है। और यथाति ने "जो समस्त भोगों का भलीभौति त्याग कर देता है, उसे काम उत्पन्न नहीं होता" यह बचन कहे हैं। मिलाएँ श्री. भा. ३/१९/३४। क्रष्णदेवजी ने भी "शास्त्रों ने महापुरुषों की सेवा को मुक्ति का एवं स्त्रीसंगी को नक्क का द्वारा कहा है (श्री. भा. ५/५/२)" यह वाक्य कहा है।

ननु तर्हि 'वाघ्यमानोपि मङ्गल्त्, (भा. ११-१४-१८) इत्यादिना विषयाणामवापकत्वं कथमुच्यत इति चेद् ? अत्र बदामः । केवलं भजनं कुर्वाणः कदाचिदिन्द्रियनिग्रहं कर्तुमशक्तुवन्विषयैः स्ववशः क्रियते, तत्याशक्त्येवं भगवान् क्षमत इति । न तस्य तत्पापभोगो भवति । अत एव कृपयाहं तथा सम्पादयमीति ज्ञापयितुं स्वपश्चातज्ञापकं 'मङ्गल्त्' इति पदमुक्तवान् । अत एवा 'जितेन्द्रियः' इति तस्याऽऽशक्तिं (दृष्ट्वा) दयाया हेतुमुक्तवान् । अजितेन्द्रियः इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः । ईश्वरः केनापि न नियन्तुं शक्षय इति कदाचिदेताशेषपि न क्षमां करोति, तदा तेन पापेन सोभिष्यूत एवेतिप्राय इन्द्रुक्तम् । प्राप्यो बाहुल्येन ननु सर्वथा नियमः । भक्तिरपि प्रगल्भा चेदुक्तर्थं प्राप्ता भवति, नोचेन क्षमते ।

तो पछी भगवाने ईंटियोधी भावित थै ज्या पर पशु भारी प्रगल्भ भक्तिथी भारा भक्तने ईंटियो पराजित नथी करी शक्ती (श्री. भा. ११/१४/१८), आ प्रकारे केम कहुँ के तेभना भक्त भाटे विषय-भोग बाधक नथी.

ऐनुं समाधान कही रह्या छे। सभने के केवण भगवद्-भजन करवामां कदाच ज्ञे ते ईंटियनिग्रह करवामां असमर्थ थै ज्य अने विषयो तेने पोताना वशमां करी लेता होय तो तेनी असमर्थता ने भगवान् क्षमा करी हे छे अने तेने ते पापने भोगवत्वं नथी पडतुं। अज्ञ कारणे "हुं फूपादारा तेमने ऐवुं सामर्थ्यं आपी उदि छुं" आयो अलिप्राय भत्तावपा भाटे भगवाने भक्तोनो पक्ष लेता "महाभक्त" शब्दनो प्रयोग कर्यो छे अने तेज कारणे आ श्लोकमां तेने "अल्लतेन्द्रियः" (अंटेवे जे ईंटियोने न छुती शक्यो होय) पद थी संभोधित करीने तेनी असमर्थता ज्वेता ह्या थी भगवाने ऐवुं कहुँ छे। अल्लतेन्द्रिय अने कहे छे, जे ईंटियोने छुतवामां असक्षण रह्यो होय। ईश्वरतो कोईना पशु नियंत्रण भां नथी तेथी ज्ञे तेओ अेवा छुत्वे पशु क्षमा न करे तो ते पापथी तो धेराई व वशी. तेथी आ श्लोकमां भगवाने कहुँ छे के तेओ प्रायः तेने क्षमा करी हे छे। परंतु प्रायः शब्दनो अर्थ थाय छे- अधिकतर क्षमा करी हे छे, हमेशा करी देता होय, अेवो नियम पशु नथी। अने पाई अनी भक्ति पशु प्रगल्भ होवी ज्वेर्ये अर्थात् उत्कृष्ट होवी ज्वेर्ये, ज्ञे नथी तो तेओ क्षमा नथी करता।

तब फिर भगवान ने "ईंटियों से बाधित होने पर मी मेरी प्रगल्भ भक्ति से मेरे भक्त को ईंटियों पराजित नहीं कर सकती (श्री. भा. ११/१४/१८)" इस प्रकार से यह क्यों कहा कि उनके भक्त के लिए विषय-भोग बाधक नहीं हैं ?

इसका समाधान कह रहे हैं। समझो कि केवल भगवद्-भजन करते हुए कदाचित् यदि वो ईंटियनिग्रह करने में असमर्थ हो जाय और विषय उसे अपने वश में कर लेते हों तो उसकी असमर्थता को भगवान् क्षमा कर देते हैं और उसे उस पाप को भोगना नहीं पडता। इसी कारण "मैं कृपाद्वारा उसे ऐसी सामर्थ्यं दे देता हूँ" ऐसा अभिप्राय बताने के लिए भगवान ने भक्तों का पक्ष लेते हुए 'मङ्गल्त्' शब्द का प्रयोग किया है और इसी कारण इस श्लोक में उसे 'अजितेन्द्रियः' (अर्थात् जो ईंटियों को न जान सका हो) पद से संबोधित करते हुए उसकी असमर्थता देखते हुए दया से भगवान ने ऐसा कहा है। अजितेन्द्रिय उसे कहते हैं, जो ईंटियों को जीतने में असफल रहा हो। ईश्वर तो किसी के भी नियंत्रण में नहीं हैं अतः यदि वे ऐसे जीव को भी क्षमा न करें तो वह पाप से तो ग्रस्त हो ही जायेगा। इसलिए इस श्लोक में भगवान ने कहा है कि वे प्रायः उसे क्षमा कर देते हैं। परंतु प्रायः शब्द का अर्थ होता है-अधिकतर क्षमा कर देते हैं, हमेशा कर देते हों, ऐसा नियम भी नहीं है। और फिर उसकी भक्ति भी प्रगल्भ होनी चाहिए अर्थात् उत्कृष्ट होनी चाहिए, यदि नहीं है तो वे क्षमा नहीं करते।

तेनैवं पदयोजना, इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः सञ्चिष्यैर्वशो यो मङ्गल्तः स विषयैः पराजितो न भवति परमया भक्त्या । तथा च अनेनापि भक्तिरुत्तरोत्तरमधिका कार्यो, यावच्छक्यमिन्द्रियनिग्रहश्च कर्तव्यं इति सूचितम् । यद्वा, पूर्वमजितेन्द्रियः सन् स विषयैः बाघ्यमानोपि, यदा तत्स्वर्वं परित्यज्य प्रगल्भभक्तिमान् भवति तदा नाभिष्यूत इति । अथवा, प्रौद्धिकारमेघप्रभुराह 'बाघ्यमानोपी' ति । तथाहि, प्रभुद्वेषाधायक्षीकरोति मर्यादया पुष्ट्या च । तत्र पुष्ट्या यमङ्गीकरोति स नाभिष्यूते, प्रगल्भया पुष्टिमार्यया । एवमङ्गीकरे नियमाभावा 'त्वाय' इति ।

तेथी पूरा श्लोकनो अर्थ ए थथो के ईंटियनिग्रह करवामां असमर्थ अने विषयो ने वश थयेलो ज्ञे भारो भक्त हे, ते भारी परमभक्तिथी विषयोधी पराजित नथी थतो। आनाथी ए पशु सिद्ध थयुँ के उत्तरोत्तर अधिक भक्ति करवी ज्वेर्ये अने ज्वेटलो थै शके तेटलो ईंटियनिग्रह करवो ज्वेर्ये, आवुं सूचित थाय छे। अथवा अेवो अर्थ करीबे के भगवद्-भक्तिथी पहेला ते

ईद्रियज्ञय करवाभां भलेने असमर्थ रहो होय अने भलेने तेमना बंधनोभां बंधायेलो होय, परंतु ज्यारे ते भधाज विषयोनो व्याग करीने उत्कृष्ट भक्त बने छे, त्यारे ते विषयो थी भराजित नथी थतो. अथवा ऐवो अर्थ करी लईअे के उपर्युक्त श्लोक मां भगवाने “प्रौढि” लोडोने (जेभने पोतानी श्रेन्द्रियतानो धमंड थर्थ गयो होय, ते “प्रौढि” छे.) अंगीकार करवानो प्रकार कहो छे. आभां सर्वप्रथम ए सभने के प्रभु बे प्रकारे अंगीकार करे छे-ऐक “मर्यादा” थी अने बीजे “पुष्टि” वडे. जेभनो पुष्टि पद्धतिथी अंगीकार करे छे, ते छुप तो उत्कृष्ट पुष्टिमार्गीय भजित ने कराजे विषयोभां रत रहेवां छितां पङ्क तेमनाथी पराजित नथी थतो. आभी पद्धतिथी अंगीकार करवाभां कोई नियमन नथी, आ “प्रायः” शब्दस्थी सभलय छे.

अतः पूरे श्लोक का अर्थ यह हुआ कि-इंद्रियज्ञय करने में असमर्थ एवं विषयों के बश हुआ जो मेरा भक्त है, वह मेरी परमभक्ति से विषयों से पराजित नहीं होता। और, इससे भी यह सिद्ध हुआ कि उत्तरोत्तर अधिक भक्ति करसी चाहिए एवं जितना हो सके उतना इंद्रियनिग्रह करना चाहिए, यह सूचित होता है। अथवा यह अर्थ करे कि, भगवद्-भक्ति से पहले वह इंद्रियज्ञय करने में भले ही असमर्थ रहा हो और भले ही उनके बंधनों में बँधा हुआ हो फरंतु जब वह उन सभी विषयों का त्याग करके उत्कृष्ट भक्त बनता है, तब वह विषयों से पराजित नहीं होता। अथवा यों अर्थ कर लें कि उपर्युक्त श्लोक में भगवान द्वारा प्रौढि लोगों को जिसे अभी जितेन्द्रियता का धमड़ हो गया हो, वह ‘प्रौढि’ है अंगीकार करने का प्रकार कहा गया है। इसमें सर्वप्रथम यह समझें कि प्रभु दो प्रकार से अंगीकार करते हैं एक ‘मर्यादा’ से और दूसरे ‘पुष्टि’ से। जिसको पुष्टि-पद्धति से अंगीकार करते हैं, वह जीव तो उत्कृष्ट पुष्टिमार्गीय भक्ति के कारण विषयों में रक्त रहने पर भी उनसे पराजित नहीं होता। ऐसी पुष्टि-पद्धति से अंगीकार करने में कोई नियम नहीं है, यह ‘प्रायः’ शब्द से जात होता है।

यथा राजानोत्तिकृपापात्राय यत्क्षिद्विदपि कार्यमकुर्बाणायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमप्यपराधात्र मन्यन्ते, गालिदानेपि परिहसं मन्यन्ते। अन्यस्मै च कार्यमकुर्बाणाय किमपि न प्रयच्छन्ति, उच्चर्भापणेपि दण्डं विदधति, स्वतन्त्रा यतः, तथा भगवानपि यस्मै अतीव कृपयति तस्मै निःसाधनायापि सर्वस्वं ददाति, तस्य सहस्रमपि दुराचारात्र मनुते। यत्र क्षुद्राः खण्डमण्डलाधितयोपि स्वैरचारिणो भवन्ति, तत्र किं वाच्यं त्रिभुवनपरिवृद्धस्य पुरुषोत्तमस्य स्वच्छन्दाऽऽरणे। यद्यपि प्रभुः कदाचित्साधनं नापेक्षेतपि, तथापि मर्यादा कदापि कस्यापि न हेया, किन्तु कार्येव। सर्वेषां प्रभोरिच्छा दुर्जेया, यतः को बेद भगवान्कथं वा मनुते, कदाचित्प्रभुः लोकसद्व्याहर्यमपि कारयति, कदाचिद्वेवमपि।

जे प्रकारे राजा पोताना कृपापात्र व्यक्तिने जे ते कोई पङ्क कार्य न करे तो पङ्क सर्वस्व आभी हो छे, तेना सहस्र अभराधोने पङ्क क्षमा करी हो छे, जे ते गाण आपे तो पङ्क तेने हास्यविनोदज सभने हो छे. परंतु अन्य बीजुं जे कोई कार्य न करे तो ते ऐमने कार्य पङ्क नथी आपतो। उच्चा स्वरभां वात करवा पर पङ्क दंड करे छे केभडे राजा भद्रुंजु करवाभां स्वतंत्र छे. ते प्रकारे भगवान पङ्क जेना पर असीम कृपा करे छे, तेने निःसाधन होय तो पङ्क सर्वस्व आभी हो छे, तेना सहस्र दुराचारोने पङ्क क्षमा करी हो छे. ज्यां ऐकतुर्थ भूमिना टुकडानो राजा पङ्क सर्व कार्य करवाभां स्वतंत्र होय छे, त्यां विभुवन ना नाथ भगवान पुरुषोत्तमना स्वच्छं आवरणभां तो केहुं ज शु? जे के प्रभु कृष्ण साधनोनी अपेक्षा न पङ्क राखे तो पङ्क कोई भक्तने भर्यादा तोडवानो अधिकार नथी, तेषु तो अपराधी भयीनेज रहेहुं जेईअे. प्रभु-ईच्छाने जाणवी तो भधाने भटे कठिन छे, केभडे दोष जाझे छे के भगवान देम अने कई रीते अंगीकार करे छे। कदाचित् प्रभु लौडिक व्यपहार निभावना भाटे पङ्क मर्यादानु उद्घान करावी हो छे, कोई वार ऐवी रीते पङ्क कृपा करी हो छे.

जिस प्रकार राजा अपने अति कृपापात्र व्यक्ति को यदि वो कुछ भी कार्य न करे तब भी सर्वर्व दे देता है, उसके सहस्र अपराध भी क्षमा कर देता है, यदि वह गाली दे तब भी उसे हास्यविनोद ही समझता है। परंतु अन्य लोग यदि कोई कार्य न करे तो वह उन्हें कुछ भी नहीं देता। उच्चे स्वर में वात करने पर भी दंड दे देता है व्योंकि राजा सभी कुछ करने में स्वतंत्र है। उसी प्रकार भगवान भी जिस पर असीम कृपा करते हैं, उसे निःसाधन होने पर भी सर्वर्व दे देते हैं, उसके सहस्र दुराचार भी क्षमा कर देते हैं। जहाँ एक तुच्छ भूमि के टुकडे का राजा भी सभी कुछ करने में स्वतंत्र होता है, वहाँ त्रिभुवन के नाथ भगवान पुरुषोत्तम के स्वच्छं-आचरण में तो कहना ही क्या? यद्यपि प्रभु कदाचित् साधनों की अपेक्षा न भी करें तथापि किसी भक्त को तो मर्यादा तोड़ने का अधिकार नहीं है, उन्हें तो अपराधों से बच कर ही रहना चाहिए। प्रभु-इच्छा जाननी तो सभी के लिए कठिन है, क्योंकि कौन जानता है कि भगवान क्यों और कैसे अंगीकार करते हैं। कदाचित् प्रभु लौकिक व्यवहार निभाने के लिए भी मर्यादा का उद्घान करवा देते हैं, कभी ऐसे ही कृपा कर देते हैं।

अतः करणे न बाधकमकरणे तु कदाचित्प्रभुकोपोपि सम्भावितः । तस्मात् “पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय” इति न्यायेन करणीयैव मर्यादा । यदि च मर्यादात्यागे प्रभोरिच्छां जानीयातदा त्यागेपि न क्षतिः । अत एव गुरुवादिहननं विदधानोपि पाठों न दोषभग्नं जातः । यदा च ज्ञानस्य भक्तेवा प्राचुर्येण देहाद्यनुसन्धानमेव निवर्तते तदा त्यागे न दोषः । अत एव ऋषभदेवजडभरतादीनां तथैवाऽऽवरणम् । यदा च भगवद्वार्तादिषु व्यसनं स्यातदा ज्ञात्वापि मर्यादात्यागे न दोषः । अत एव “तावत्कर्मणी” त्यादि । यदा च तत्त्वज्ञानमुन्मत्यते तदापि न दोषः । अत एव “पि वेदसि पापेभ्यः” इत्यादि । तस्माधावच्छक्यमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इति सिद्धम् । अत एव “सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च” ।

तेथी भक्तार्थे भक्तिनी भर्यादा निभावी तो कोई बाधक नथी परंतु ज्ञे न निभावी त्यारे तो प्रभुनो कोप पशु सहन कर्वो पेड़ छे. तेथी “अल्प दोष पशु २ही गयो होष तो तेनु निरक्षरशु करी लेखु लेइच्छे” आ वाक्यानुसार संपूर्ण भर्यादा राखवी ज्ञ उचित छे. अने ज्ञे भर्यादानो त्याग करवाथी प्रभुनी ईर्ष्या जाणी लेवी संभव थई रह्यु होय, त्यारे तो भर्यादा नो त्याग करवामां पशु कोई क्षति नथी. आज कारणे भृत्यासरतना युद्धमां अर्जुनने पोताना गुरुजनों नो वध करवामां पशु दोष न लाग्यो. अने एव पशु समन्वे के ज्ञे ज्ञान के भक्तिनी प्रयुक्ताती देहवरेनु अनुसंधान ज्ञ छाटी बज्यु होय तो भर्यादानो त्याग करवामां दोष नथी. आज कारणे ऋषभदेवलु अने ज्ञ उभरतलु एवे पशु आ प्रकारे आचरण कर्यु हतु. (ऋषभदेवलुना प्रसंगने समजवा भाटे श्री. भा. ५/५/२८.....३१ अने भरतलु ना प्रसंगने समजवा भाटे श्री. भा. पंचमस्कंध/नवमो अध्याय वांचो.) अने ज्ञायारे भगवद्-वार्ता वर्गेरेनु व्यसन थई ज्ञय, त्यारे तो ज्ञाणीलेइने भर्यादानो त्याग करवामां पशु कोई दोष नथी. आधी ज्ञ तो श्रीभद्रभागवतमां “कर्मो त्यां सुधी करवां लेइच्छे, ज्ञयां सुधी भारी लीला-कथामां श्रद्धा न थई ज्ञय (श्री. भा. ११/२०/६)” आधां भगवद्-वाक्यो प्राप्त थाय छे. अने ज्ञायारे भगवान्तु तत्प्रज्ञान थई ज्ञय त्यारे तो लोडिक कर्मों नो त्याग करवामां पशु कोई दोष नथी. आज कारणे “जे तमे पापीओ थी पशु अधिक पाप करता हो तो पशु जानन्दपी नौकाथी दुःखसागरने पार करी लेशो (भ. गी. ४/३१)” आ वाक्य पशु छे. तेथी ज्ञयां सुधी थई शक्ति त्यां सुधी ईंटियनिग्रह कर्वो लेइच्छे, आ सिद्ध थधुं. तेथी श्रीभद्रभागवतमां “समस्त ईंटियोने विषयोथाथी निवृत करीने शांत करी लेवा पर भगवान् शीघ्र प्रसन्न थाय छे (श्री. भा. ४/३१/१८)”-आ वाक्य छे.

अतः भक्त ने भक्ति की मर्यादा निर्भाई तब तो कोई बाधक नहीं है परंतु यदि नहीं निर्भाई तब तो प्रभु का कोप भी सहन करना पड़ सकता है । अतः “अल्प दोष भी रह गया हो तो उसका भी परिहार (निराकरण) कर लेना चाहिए” इस वाक्यानुसार संपूर्ण मर्यादा रखनी ही उचित है । और यदि मर्यादा का त्याग करने से प्रभु की इच्छा जान लेनी संभव हो रही हो, तब तो मर्यादा त्यागने में भी कोई क्षति नहीं है । इसी कारण महाभारत के युद्ध में अर्जुनःको अपने गुरुजनों का वध करने पर भी दोष नहीं लगा । और भी यह समझें कि यदि ज्ञान या भक्ति की प्रचुरता से देहादि का अनुसंधान ही कूट जाता हो तो मर्यादा का त्याग करने में दोष नहीं है । इसी कारण ऋषभदेवजी एवं जडभरतजी ने भी इसी प्रकार आचरण किया था । ऋषभदेवजी का प्रसंग समझने के लिए श्री. भा. पंचमस्कंध/नौदो अध्याय पढ़े और जब भगवद्-वार्ता आदि में व्यसन हो, ज्ञय, तब तो जानवृक्ष कर मर्यादा का त्याग करने में भी कोई दोष नहीं है । इसी कारण श्रीभद्र-भागवत में “कर्म तभी तक करने चाहिए, जब तक मेरी लीला-कथा में श्रद्धा न हो जाय (श्री. भा. ११/२०/९)” ऐसे भगवद्-वाक्य प्राप्त होते हैं । और जब भगवान का तत्प्रज्ञान हो जाय तब तो लौकिक कर्मों का त्याग कर देने में भी कोई दोष नहीं है । इसी कारण “यदि तुम पापियों से भी अधिक पाप करते हो तो तब भी ज्ञानरूपी नौका से दुखसागर को पार कर लोगे (भ. गी. ४/३६)” यह वाक्य भी है । अतः जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक ईंटियनिग्रह करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ । अतएव श्रीभद्र-भागवत में “समस्त ईंटियों को विषयों से निवृत करके शांत कर लेने पर भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं (श्री. भा. ४/३१/१९)” यह वाक्य है ।

तत्र भगवद्विज्ञया यदा भविष्यति तदा भवत्तिपि प्रकारकमालस्यं न कार्यं, किन्तु स्वयम्भुम्येन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इति ज्ञापनाय स्वयमिति ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

बहुवचनेन सर्वेन्द्रियभोगस्यान्य इति सूचितम् । यद्वा भोगानत्यज्यन्तमन्यं हृष्टा कदाचित्क्षिदालस्यं कुर्यात्तत्राहुः स्वयमिति, अन्यस्त्यजतु, मा वा, स्वयन्तु त्यजेदित्यर्थः । न हन्यत्रापकर्षं हृष्टा स्वयमप्यकृष्टेन भाव्यं, किन्त्वन्यत्रोकर्षं हृष्टा स्वयमकृष्टेन भाव्यम् ।

अत एव तैतिरीयोपनिषद्स्वाचार्येण शिष्यशिक्षणप्रकारे “यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणी” त्युक्तम् । भोगस्य सामग्रां सत्यां धैर्यं दुष्करमिति पूर्वमेव सामग्रीमेव न सम्पादयेदिति ज्ञापनायेन्द्रियकार्याणीति ।

अन्यथा “भोगांस्त्यजेति” त्येवोक्तं स्यात् । अत एव “मात्रा स्वप्नः” त्यादि । तेन समूलधातं भोगं हन्यादिति पर्यवसितोर्थः । अत एव शब्दादीन्विषयांस्त्यत्वेत्यादि ।

परंतु आ परिस्थितिभां “भगवान्नी ईर्गच्छा धी न्ते धरो ते लेखुं वशे, व्यर्थमां आपातो प्रथत्न तेभ करीये” आ प्रकारनी आणस न राखली ज्ञेयात्मे पाण स्वयं प्रथत्न करीने ईंद्रिय-निग्रह करवो ज्ञेयात्मे—आ वात आचार्यराणो स्वयं ईत्यादिं शब्दोथी कही रह्यां छे.

अहीं “कार्याणि” शब्दमां बहुवचन छे तेथी ए सूचित क्षुद्र छे के समस्त ईंद्रियो नो विषय-भोग छोडी देवो ज्ञेयात्मे. अथवा आ पंडितानो ए अर्थ करी लईअे के कदाच अन्य लोकोने विषय-भोगोमां रथ्या-पच्या ज्ञेयात्मे एनामां आणस करी ज्ञय तो तेना माटे आचार्यराणो “स्वयं” शब्दथी समलवी रह्यां छे. अर्थात् भीजाओ विषय भोगो नो त्याग करे न करे, पोते तो त्याग करवोज ज्ञेयात्मे, आ अर्थ छे. तात्पर्य ए नथी के कोईनी अवनति ज्ञेयात्मे पोतानी पाण अवनतिनी भावना करी लेवामां आवे, परंतु सारी वात ए छे के अन्यनी उप्रति ज्ञेयात्मे पाण उप्रतिनी भावना करवी ज्ञेयात्मे. आज कारणे तैतिरीय-उपनिषद्भां ज्ञेयात्मे शिष्यो ने शिक्षण आपता कह्युं छे के, “ले भारां सारां चरितो छे, तेज तमारे ग्रहण करवां ज्ञेयात्मे, भीजां नहीं (तै. उ. १/११). जे के भोग-सामग्री उपलब्ध थवाथी “धैर्य” राख्युं मुश्केल वर्थ ज्ञय छे तेथी पहेदेथीज ए सामग्री वृ उपलब्ध न थवा देवी ज्ञेयात्मे, तेथी “ईंद्रियकार्यो नो त्याग करो” एभ कह्युं छे. नहीं तो भोगो नो त्याग करो एव्हुं कहेत. आज कारणे “पोतानी भा, बहेन अने पुत्री नी साथे पाण अेकला अडीने न बेसवुं ज्ञेयात्मे. ईंद्रियो एटली बणवान होय छे के भोटा-भोटा विद्वानोने पाण विचलित करी दे छे (श्री. भा. ६/१६/१७)” आ वाक्यो कह्यां छे. आनाथी ए सिद्ध थयुं के लोगने सभूण नष्ट करी देवो ज्ञेयात्मे, आज कारणे श्रीभद्रभगवद्गीतामां “जे व्यक्तिकाम छोध घरेनो त्याग करी दे छे, ते भगवानना साक्षात्कार भाटे धोग्य वर्थ ज्ञय छे (१८/५१)”, आवुं वाक्य कह्युं छे.

परंतु इस परिस्थिति में “भगवान की इच्छा से जो होगा सो देखा जायेगा, वर्थ में हम प्रयत्न क्यों करें ? ” इस प्रकार का आलस्य नहीं रखना चाहिए अपितु स्वयं प्रयत्न करके ईंद्रिय-निग्रह करना चाहिए—यह बताने के लिए आचार्यरचण स्वयं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

यहाँ ‘कार्याणि’ शब्द में बहुवचन है अतः यह सूचित किया गया है कि समस्त ईंद्रियों का विषय-भोग त्याग देना चाहिए । अथवा इस पंक्ति का यो अर्थ कर लें कि कदाचित् अन्य लोगों को विषय-भोगों में स्वेच्छ-पचे देखकर कोई इसमें आलस्य कर जाय तो उसके लिए स्वयं शब्द से कह रहे हैं । अर्थात् दूसरे विषय भोगों का त्याग करें या न करें, हमें तो त्याग करना ही चाहिए, यह अर्थ है । तात्पर्य यह नहीं है कि किसी का अवनति देखकर स्वयं की भी अवनति की भावना कर ली जाय परंतु अच्छी वात यह है कि अन्य की उन्नति देखकर खुद की भी उन्नति की भावना करनी चाहिए । इसी कारण तैतिरीय-उपनिषद् में किसी कृषि ने शिष्यों को शिक्षण देते हुए “जो मेरे अच्छे चरित्र हैं, वही तुम्हें ग्रहण करने चाहिए, अन्य नहीं (तै. उ १/११)” यह कहा है । चूँकि भोग-सामग्री उपलब्ध होने से ‘धैर्य’ रखना कठिन हो जाता है अतः पहले ही से वे सामग्री ही उपलब्ध न होने देनी चाहिए अतः “इंद्रिय-कार्यों का त्याग करिए” यह कहा गया है । अन्यथा तो “भोगों का त्याग करिए” ऐसा कह देते । इसी कारण “अपनी मां, बहन और पुत्री के साथ भी अकेले सटकर नहीं बैठना चाहिए । इंद्रियों इतनी बलवान होती है कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती है (श्री. भा. ९/१९/१७)” यह वाक्य कहे गये हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि भोग को समूल नष्ट कर देना चाहिए, इसी कारण भगवद्-गीता में “जो व्यक्ति काम द्वारा आदि का त्याग कर देता है, वह भगवान के साक्षात्कार के योग्य हो जाता है (१८/५१)” यह वाक्य कहा गया है ।

त्यागे प्रकारमाहुः कायेति । कायेन वाचा मनसा चेत्यर्थः । इन्द्रियसमासोयम् । “सर्वो हि द्रन्द” इत्येकबज्ज्ञावः । यद्धा, “कायवाचार्यां सहितं यन्मन” इति मध्यमपदलोपी समासः । तेन कायवाचोर्णाणात्म तृतीयया सूच्यते । तथा च मुख्यो मानस एव त्यागः । कायिको वाचनिकश्च गौणः । अत एव गीतासु “कर्मेन्द्रियाणि संयम्ये” त्यादि । नन्दिदमसिलमशक्यमिव भाति । यतः कठिनतम इन्द्रियनिग्रहः । अत एव गीतासु, “इन्द्रियाणि प्रमाधीनी” त्यादि । उपदेशशासम्भतः । न हि शास्त्रमप्यशक्यमुपदिशति । अतः कथमुपदेश इति चेत्त्राहुरवरूपेणापीति ।

हવे तेमनो त्याग केवी रीते करवो ज्ञेष्ठे ? आ काया वगेरे शब्दोदीयी आचार्यरणो कही रह्यां छे. आनो अर्थ छे-काया, वाणी अने शरीरथी त्याग करवो ज्ञेष्ठे. अही “कायवाडमनसा” शब्दमां द्वन्द्व-समास नो प्रयोग छे केम्भे “सर्वो हि द्वन्द्व” सूत्रना अनुसार आ नवेष्यनो भाव एक ज छे. (पूर्वमां श्रीरघुनाथालये पण आज पक्ष उठाय्यो छे. आ पक्षने समजवा माटे सि. २. नी टीकाओना हिन्दी-अनुवाद ग्रंथमां श्रीरघुनाथालयी टीकामां ज पृष्ठ संख्या १३ पर “दिशा” टीका लेई देवी.) तेथी रेखना समाजमां अकल्पन छे अथवा आ शब्दनो अर्थ—“काया-वाणीनी साथे वे मन छे तेना द्वारा त्याग करवो ज्ञेष्ठे” आ प्रकारे करीने अही मध्यमपदलोपी समास मानी लो. (मध्यमपदलोपी समासने समजवा माटे भक्तिवर्धिनी-टीकाओना हिन्दी अनुवाद ग्रंथमां पृष्ठ संख्या ८८ पर लेवुं. अही टीकाकार “सहित” पक्ष द्वारा तृतीया विबक्तिनो लोप मानी रह्यां छे.) आवो अर्थ करवाथी तृतीया विबक्तिथी सूक्ष्म अर्थ ऐ नीक्कणे छे के अही मननी आणण काया अने वाणीनो त्याग गौण छे अने-भुज्य त्याग तो मननो ज छे. कायिक अने वाचिक त्याग गौण छे. आज कारणे श्रीभद्रभगवद्गीता मां “कर्मेन्द्रियेनुं दमन करीने पण वे भन्थी विषय-भोगेनुं चित्तन करे छे, ते भिथ्याचारी छे (श्री. भ. गी. ३/६)” आ वाक्य कह्युं छे. परंतु गंभीरताथी विचार करवा पर आ बधूंज कांडक अशक्य बेवुं लागे छे. केम्भे इन्द्रियनिग्रह तो कठिनतम छे. गीतामां पण भगवाने “हे अर्जुन ! विवेकी पुञ्जने पण ईंद्रियो पोताना वशमां करी ले छे (श्री. भ. गी. २/१०)” ऐम कह्युं छे. तेथी आ उपदेश शास्त्र संभत नवी लागी रह्यो. केम्भे शास्त्र क्यारेथ पण अशक्य उपदेश तो करतां नवी. तो आवो अशक्य उपदेश केम आपवापां आवी रह्यो छे ? जे अवी शंका होइ तो अशुरेष्टापि वगेरे शब्दोदीयी तेनु आचार्यरणो निवारण करी रह्यां छे.

अब इनका त्याग कैसे करना चाहिए ? यह काया इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ है—काया-वाणी-और शरीर से त्याग करना चाहिए। यहाँ ‘कायवाडमनसा’ शब्द में द्वन्द्वसमास का प्रयोग है क्योंकि “सर्वो हि द्वन्द्व” सूत्र के अनुसार इन तीनों का भाव एक ही है। पूर्व में श्रीरघुनाथजी ने भी यही पक्ष उठाया है। इस पक्ष को समझने के लिए सि. रहस्य की टीकाओं के हिन्दी-अनुवाद ग्रंथ में रुचाय जी की टीका में ही पृष्ठसंख्या १३ पर “दिशा” टीका देखें। अतः इनके समास में एकवचन है। अथवा इस पद का अर्थ “काया-वाणी के सहित जो मन है उसके द्वारा त्याग करना चाहिए” इस प्रकार से करके यहाँ मध्यमपदलोपी समास मान तें। मध्यमपदलोपी समास को समझने के लिए भक्तिवर्धिनी-टीकाओं के हिन्दी अनुवाद ग्रंथ में पृष्ठसंख्या ८९ पर देखें। यहाँ टीकाकार ‘सहित’ पद के द्वारा तृतीया विभक्ति का लोप मान रहे हैं। ऐसा अर्थ करने पर तृतीया-विभक्ति से सूक्ष्म-अर्थ यह निकलता है कि यहाँ मन के आगे काया एवं वाणी का त्याग गौण है और मुख्य त्याग तो मन का ही है। कायिक और वाचिक त्याग गौण हैं। इसी कारण गीता में “कर्मेन्द्रियों का दमन करके भी जो मन से विषय-भोगों का चित्तन करता है, वह भिथ्याचारी है (भ. गी. ३/६)” यह वाक्य कहा गया है। परंतु गंभीरता से विचार करने पर ये सभी कुछ अशक्य जैसा लगता है। क्योंकि इन्द्रियनिग्रह तो कठिनतम है। गीता में भी भगवान ने “हे अर्जुन ! विवेकी पुरुष को भी इंद्रियाँ अपने वश में कर लेती हैं (भ. गी. २/६०)” यह कहा है। अतः यह उपदेश शास्त्रसंभत नहीं लग रहा है। क्योंकि शास्त्र कभी भी अशक्य-उपदेश तो करते नहीं ? तो ऐसा अशक्य-उपदेश क्यों किया जा रहा है ? यदि ऐसी शंका हो तो आचार्यचरण अशौरेणापि इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

अशुर इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः । तादृशेनापि यथात्कीन्द्रियदमनं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः, स्वस्येति भावनात्, विचारणात् । अयमभिसन्धिः । यदि जीवः स्वयं स्वदोषाभिराकर्तुं समर्थः स्यात्तदा मर्यादोल्हङ्करेन जनितदोषाभिरार्थं सुखी स्यात्, परन्तु, स्वयमसमर्थः न हीक्षरमर्यादां मनसास्पन्दन्यथा भावयितुं कोपीष्टे । अत एवेत्यस्य हि बड़ोलोक’-इत्यादि । तथा च, विचारे क्रियमाणे निग्रह एवेन्द्रियाणां कार्यः । अत एवेन्द्रियाश्वविनिग्रहः इत्यादि विचारशावशयकः । न हि विना विचारं कोपि कुत्रापि प्रवर्तते । “न हि प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोपि प्रवर्तते” इति न्यायात् । कुतस्तरात् विवेकी । पदसम्बन्धस्तु, स्वस्यासामर्थ्यविचारणादशूरेणापीन्द्रियनियमनं कर्तव्यमिति ॥ ८ ॥

भानो के निर्भूष व्यक्ति ईंद्रियोंने छुतपामां समर्थ नवी होतो परंतु आवा निर्भूष व्यक्तिभे पण धथाशक्ति ईंद्रियदमन करवुं ज्ञेष्ठे. केम करवुं ज्ञेष्ठे ? तो कही रह्या छे के भगवाननी सामे पोतानी असमर्थतानी भावना करीने दमन करवुं ज्ञेष्ठे. अही गूढार्थ ए छे के जे लुप्त पोतेज पोताना होइनुं निरकरण करवाने शक्तिमान होत तो भक्तानी भर्यादाना उद्घाटन थी उत्पन्न थयेता होइ नुं पण निरकरण करीने सुखी थर्थ गयो होत. परंतु ते असमर्थ छे अने ईश्वरना विशे तो कोई भन्थी पण विचार नवी करी शक्तु, ऐज कारणे श्रीभद्रभगवत्मां “नेम कहुतपती नयाववा वाणी ईच्छानुसार नाचे छे, तेम आ संसार पण ईश्वरना वशमां छे (श्री. भा. १/६/७)” आ वाक्य कह्युं छे. तेथी उपर्युक्त विशेषज्ञो नो विचार करवाथी समजत्य छे के ईंद्रियोंनो निग्रह तो करवोज ज्ञेष्ठे अने ते कारणेज आचार्यरणो द्वारा कहेवामां आवेलुं, “ईंद्रियजपी अश्वोनो निग्रह करवो

ज्ञेर्ज्ये (१०. प्र./२४१) - आ वाक्य पशु विचारणीय छे. विचार कर्त्ता वगर तो कोई पशु कर्त्ताये काममां प्रवृत्त नथी थतो. तेभेडे “न....प्रवर्तते”, आ वाक्यानुसार तो मूर्ख पशु प्रयोजन वगर कोई कार्यनो आरंभ नथी करतो तो विवेकी पुरुषनी तो वात ४ शी करवी ? तेथी पूरा श्लोकनो अर्थ ए थयो के, पोतानी असमर्थतानो विचार करीने निर्बल व्यक्तिए पशु पथाशक्ति ईद्विष्पर नियंत्रण करवुं ज्ञेर्ज्ये ॥ ८ ॥

माना कि निर्वल व्यक्ति इंद्रियों को जीतने में समर्थ नहीं होता पास्तु ऐसे निर्वल व्यक्ति को भी यथाशक्ति ईद्विष्पर करना चाहिए ? तो कह रहे हैं कि भगवान के आगे अपनी असमर्थता की भावना करते हुए करना चाहिए। यहाँ गूढ़ार्थ यह है कि, यदि जीव स्वयं ही अपने दोषों का निराकरण करने में समर्थ होता तो मर्यादा के उल्लंघन से उत्पत्त हुए दोषों का भी निराकरण करके सुखी हो गया होता। परंतु वह असमर्थ है एवं ईश्वर के बारे तो कोई मन से भी विचार नहीं कर सकता, इसी कारण भगवान में “जैसे कठपुतली नचाने वाले के इच्छानुसार नाचती है, वैसे यह संसार भी ईश्वर के वश में है। (श्री. भा. १/६/७)” यह वाक्य कहा गया है। अतः उपर्युक्त विश्लेषणों का विचार करने पर ज्ञात होता है कि इंद्रियों का निग्रह तो करना ही चाहिए और इसी कारण आचार्यचरणों द्वारा कहा गया “ईद्विष्यलीपी अश्वों का निग्रह करना चाहिए (शा. प्र./२४१)” वाक्य भी विचारणीय है। विचार करे बिना तो कोई भी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि ‘न.....प्रवर्तते’ इस वाक्यानुसार तो मूर्ख भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य का आरंभ नहीं करता फिर विवेकी-पुरुष की तो बात ही क्या ? अतः पूरे श्लोक का अर्थ यह हुआ कि, अपनी असमर्थता का विचार करते हुए निर्वल व्यक्ति को भी यथाशक्ति ईद्विष्पर पर नियंत्रण करना चाहिए ॥ ८ ॥

ननु निग्रहः सर्वथावश्यक इति सत्यं, परन्तु यदि कथमपि कर्तुं न शक्नोति तदा किं तस्य नाश एवाहोस्मिकथञ्चनिस्तार इत्याशङ्कायामाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

अशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति । रक्षक इतिशेषः । तत्र हेतुः, सर्वमिति । आश्रयतः भगवदाश्रयं कुर्वतः पुरुषस्य सर्वं भवेत् । आश्रयत इति पश्यमी वा । इदमत्राकृतम्, यदि सर्वथाशक्त्वां ज्ञात्वा केवलं भगवच्छरणमेव भावयति तदा दयया भगवानेव तस्य सर्वं साधयति, अतो भगवदाश्रयात् सर्वसिद्धिः । अत एव “किरातहौणे” त्यादि । अतो न तंस्य नाशः । अत एव “कौन्तेय प्रतिजानीही” त्यादि । सर्वदुःखहर्ता ह्रीरः । तेन दीने परमदयालुरित्यवश्यं कार्यं साधयत्यवैति ज्ञापनाय हरिपदम् । एवकारेणान्यव्यवछेदः । न ह्यन्यः सर्वेषां सर्वदुःखानि निवार्यं सर्वानन्दं दातुं शक्तः ।

परंतु अहीं प्रश्न ए थाय छे के ईद्रियोनो सर्वथा निग्रह करवो जड़री छे, ए तो भरोभर छे पशु ज्ञेर्ज्ये कोई पशु प्रकारे आवृत्त न करी शक्ते तो शुं अनो नाश ज थर्थ जशे के पछी तेनो पशु कोई प्रकारथी उद्धार संभव छे ? तो तेनो उत्तर अशक्ये वगेरे शब्दोदीयी आचार्यचरणो आपी रहां छे.

आ श्लोकनो अर्थ ए थाय छे के ईद्रियोनो सर्वथा निग्रह करवो जड़री छे, ए तो भरोभर छे पशु ज्ञेर्ज्ये कोई पशु प्रकारे शब्दोदीयी कह्युं छे. आश्रयतः वगेरे शब्दोनो अर्थ छे-भगवदाश्रय उक्तवाणा भक्तनां भद्रां कार्यो सिद्ध थाय छे. अथवा आश्रयतः शब्दान्यां पंथभी-विभक्ति भानीने ए अर्थ करी लक्ष्येके, जे आपाणे भधीज रीते आपाणी असमर्थता ज्ञानीने केवल भगवाननी ज शरणागतिनी भावना करीअे तो भगवानज द्यापूर्वक समस्त कार्यो सिद्ध करी दे छे. तेथी समझय छे के भगवदाश्रयथी सर्वसिद्धि ग्राम थाय छे. आज कारणे श्रीभद्रभागवतमां “किरात, हूँ जेवी नीय ज्ञातिओ पशु भगवानना शरणागत भक्तोनुं शरण लक्ष पवित्र थर्थ जय छे. (श्री. भा. २/४/१८)”, आ वाक्य कह्युं छे. तेथी आवा असमर्थ व्यक्तिनो पशु नाश नथी थतो. तेथी, “हे कौन्तेय ! प्रतिज्ञा कर के भारा भक्तनो नाश नथी थतो (श्री. भ. गी. ६/३१)”, वगेरे वाक्यो पशु विचारणीय छे. समस्त दुःखोनुं हरण करवाणा हरिज छे. तेथी दीनजनोनां परम-कृपाणु हरि अवश्य कार्य सिद्ध करे छे, आ भताववा भाटे “हरि” पट कह्युं छे. “अेव” शब्द अहीं “हरि ज कार्यो सिद्ध करशे, बीजुं कोई नहीं” आ अर्थने भतावे छे. बीजुं कोई पशु भद्रा जनोना समस्त दुःखोनुं निवारण करीने समस्त आनंद आपवामां सक्षम नथी.

परंतु यहाँ प्रश्न यह होता है कि ईद्रियों का सर्वथा निग्रह करना आवश्यक है, यह तो उचित है परंतु यदि कोई किसी भी प्रकार से ऐसा न कर सके तब क्या उसका नाश ही हो जायेगा या फिर उसका भी किसी प्रकार से उद्धार संभव है ? तो इसके उत्तर में आचार्यचरण अशक्ये इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं ।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि आशक्य परिस्थितियों में केवल हरि ही शरण है। इसका कारण आचार्यचरणों ने सर्व इत्यादि शब्दों से बताया है। आश्रयतः इत्यादि शब्दों का अर्थ है- भगवदाश्रय करने वाले भक्त के सभी कार्य सिद्ध होते हैं। अथवा आश्रयतः शब्द में पंचमीतिभक्ति मान कर यह अर्थ कर लें कि, यदि हम सभी प्रकार से हमारी असमर्थता जानका केवल भगवान की ही शरणागति की भावना करें तो भगवान ही दयापूर्वक समस्त कार्य सिद्ध कर देते हैं। अतः ज्ञात होता है कि भगवदाश्रय से सर्वसिद्धि प्राप्त होती है। इसी कारण भगवत में “किरात, हृण, जैसी नीच जातियाँ भी भगवान के शरणागत भक्तों को शरण लेकर पवित्र हो जाती हैं (श्री. भा. २/४/१८)” यह वाक्य कहा गया है। अतः ऐसे असमर्थ व्यक्ति का भी नाश नहीं होता है। अतएव “हृह कौन्तेय! प्रतिज्ञा कर कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता (भ. गी. ९/३१)।” इत्यादि वाक्य भी विचारणीय हैं। समस्त दुःखों का हरण करने वाले हरि ही हैं। अतः दीनजनों में प्रमुखपालु हरि अवश्य कार्यसिद्ध करते हैं, यह बताने के लिए “हृह” पद कहा गया है। “पव” शब्द यहाँ “हृहि ही कार्य सिद्ध करेंगे, अन्य कोई नहीं” इस अर्थ को बता रहा है। अन्य दूसरा कोई भी सभी जनों के समस्त दुःखों का निवारण करके समस्त आनंद देने में सक्षम नहीं है।

एवं सर्वधारक्षये रक्षकात्मेन भगवद्भावनमपि गौणः पक्षः। मुख्यसंक्षेत्र तु भगवान् किमपि करोतु, स्वेन तद्भावनमपि न कर्तव्यम्। न ह्येतावानपि सङ्घोचः प्रभू दातुमुचित इति ज्ञापनाय रक्षक इति विषेयपदस्याप्योग एव, किन्त्वध्याहारः। “ब्रह्मवर्चसकामस्त्वा” त्यादिवाक्यात्प्रतिनियतकार्यसाधका अन्ये, भगवांस्तु सर्वं साधयति, “अकामः सर्वकामो वे” ति वाक्यात्। तदाहुः सर्वमिति। अत एव “किमलभ्यमि” त्यादि।

तेथी अहीं एव सिद्ध थिथुँ के सर्वथा असमर्थ थवा पर रक्षा करवा भाटे भगवाननी भावना करवी तो गौण पक्ष छे, मुख्य पक्ष तो ऐ छे भगवान भले ले करे, आपणे तेभी ईछाभां कोई पण प्रकारनो विचार न करवो ज्ञेयेभे. प्रभुने तो एतिथुँ पण कृष्ण आपव्यु उचित नन्धी के ते आपणा विशे विचार करे-आ भतापवा भाटे अहीं भूण श्लोकभां “अशक्य होवा पर हरिज “रक्षक” छे ते प्रकारे रक्षक पदनो प्रस्तोग व नन्धी क्यों परंतु केवल “अशक्य थवाथी हरिज सर्वदांष्ट्र छे-आ रीते आचार्यरङ्गोभे कही हृष्टु छे. अने “वे भ्रह्मतेजनी ईछाराखे छे (श्री. भा. २/३/२)।” वगेरे वाक्योथी भीज्ज कोई कायाँ भाटे भीज्ज देवताओं छे (आ श्लोकथी लैज्ज ८ भा. श्लोक सुधी श्रीमद्भागवतमां वर्णन छे के अमुक-अमुक कायाँ भाटे अमुक देवताओंनी उपासना करवी ज्ञेयेभे अने दसभा श्लोकभां वर्णित छे के समस्त कायाँ ने भाटे तो पुरुषोत्तम-श्रीकृष्णज्ञ भजनीय छे.) अने भगवान तो “वे भक्त स्त्राम हैथ के भछी भोक्तनी ईछाराखो हैथ तो अझे भगवान पुरुषोत्तमभनी व आराधना करवी ज्ञेयेभे (श्री. भा. २/३/१०)।” आ वाक्यानुसार समस्त कायाँ ने सिद्ध करे छे. आज वात आचार्यरङ्गोभे सर्वं शब्दधी कही छे. आज कारणे श्रीमद्भागवतमां “भगवानना प्रसन्न थर्त व्या पर कई वस्तु छे ले प्राप्त नन्धी थई शक्ती (श्री. भा. १०/३६/२),” आ वाक्य कहुँ छे.

अतः यहाँ यह सिद्ध हुआ कि सर्वथा असमर्थ होने पर रक्षा करने के लिए भगवान की भावना करनी भी गौण पक्ष है, मुख्यपक्ष तो यह है कि भगवान चाहे जो करें हमें उनकी ईच्छा में किसी भी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। प्रभु को तो इतना भी कष्ट देना उचित नहीं है कि वे हमारे विषय में सोचें-यह बताने के लिए यहाँ मूल श्लोक में “अशक्य होने पर हृहि ही रक्षक” हैं। इस प्रकार से रक्षक पद का प्रयोग ही नहीं किया गया परंतु केवल “अशक्य होने पर हृहि ही सब कुछ हैं” इस तरह से आचार्यचरणों ने कह दिया है। और ‘जो ब्रह्मतेज का इच्छुक हो (श्री. भा. २/३/२)।’ इत्यादि वाक्यों से अन्य दूसरे कार्यों के लिए अन्यान्य देवताएं हैं। इस श्लोक से लेकर ९ वें श्लोक तक श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि अमुक-अमुक कायाँ की उपासना करनी चाहिए और दसवें श्लोक में वर्णित है कि समस्त कायाँ के लिए तो पुरुषोत्तम-श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं। और भगवान तो “जो भक्त सकाम हो या निष्काम या फिर मोक्ष चाहता हो उसे तो भगवान पुरुषोत्तम की ही आराधना करनी चाहिए (श्री. भा. २/३/१०)।” इस वाक्यानुसार समस्त कायाँ को सिद्ध करते हैं। यही आचार्यचरणों ने सर्वं शब्द से कहा है। इसी कारण भगवत में “भगवान के प्रसन्न हो जाने पर कौन सी वस्तु है जो प्राप्त नहीं हो सकती (श्री. भा. १०/३९/२)।” यह वाक्य कहा गया है।

आश्रयत इत्यासमन्तात् थ्रयतः सेवां कुर्वतः “श्रिज्जेवायां,” सेवा च चित्तस्य तदेकपरता, “चेत्सत्तत्प्रवणमि” ति लक्षणात्। तदनुकूला च या काचन कृतिः, सा सर्वापि सेवैव। अत एव “मानसी सा परामते” ति। तादृशेव च कृतिः सन्तोषजनिका, सेवा च सन्तोषजनिकैव। “यद्यपे” ति वाक्यात्। लोकेष्व तात्पर्यपूर्विकैव कृतिः सन्तोषजनिका। तथा च, स्वज्ञानानुसारेण प्रभुसन्तोषजनिकां ज्ञात्वा निरन्तरं कृतिः कार्येति सिद्धम्। शतप्रत्ययेनाश्रयत्यगे किमपि न सिद्धयतीत्यप्यसूचि। अत एव “पतन्त्यपोऽनाहत युष्मदद्व्यय” इत्यादि।

आश्रयतः शब्दनो अर्थ छे जे व्यवस्थित रीते सेवा करतो होय। “श्रिज्” धातु सेवाना अर्थमां छे, अने चितानी भगवानमां एकपरता “सेवा” छे; “चेतस्तत् प्रवाणं (सि. मु. / २) ” “लोकमां पशु आज वात कहेली छे, भगवानने अनुकूण जे कोई पशु कार्यो छे, ते भयांड कार्यो सेवा ज छे, आज कारणे आचार्यरथरणोये “मानसी.....मता” (सि. मु. / १) ” कहेलु छे. अने भगवानने अनुकूण इतिज भगवानने संतोष आपे छे अने भगवद्देवा तो संतोष जनिका छे ज, आज वात “धर्म्या...” वगेरे वाक्यो मां कहेली छे.

लोकमां पशु उद्देश्यनी साथे करवामां आवती इतिज संतोषप्रद होय छे, अने ते रीते, पोतानी सभजने अनुसार प्रभुने संतोष आपवापाणी इनि करवी लेईच्ये, आ सिद्ध थायु, अही आश्रयतः शब्दमां शतु-प्रत्यय प्रयुक्त थयो छे, जेनो अर्थ ए समझवो लेईच्ये के आश्रयनो त्याग करवा पर कई पाणि सिद्ध नथी थायु, आ सूचित कर्यु छे, आज कारणे श्रीभद्रभागवतमां कह्यु छे के, “लेअो आपना यरणकभलोनो आश्रय नथी लेता, तेअो भवे केटलांये भोटा पद पर पहोची जथ, त्यांथी पडी जय छे. (श्री. भा. १०/२/३२) ”.

आश्रयतः शब्द का अर्थ है-जो भलीमाँति प्रकार से सेवा करता हो। ‘श्रिज्’ धातु सेवा के अर्थ मैं है। और चित्त की भावान में एकपरता ‘सेवा’ है; ‘चेतस्तत्रवरणम्’ (सि. मु. / २) ” श्लोक द्वारा भी यही बात कही गई है। भगवान के अनुकूल जो कोई भी कार्य है, वह सभी कार्य सेवा ही है। इसी कारण आचार्यरचरणों ने ‘मानसी.....मता (सि. मु. / १) ” कहा है। और भगवान के अनुकूल कृति ही भगवान को संतोष देती है एवं भगवद-सेवा तो संतोषजनिका है ही। यही बात ‘यद्या’ इत्यादि वाक्यों में कही गई है।

लोक में भी उद्देश्य के सहित की जाने वाली कृति ही संतोषप्रद होती है। और इस प्रकार, अपनी समझ के अनुसार प्रभु को संतोष देने वाली कृति करनी चाहिए, यह सिद्ध हुआ। यहाँ आश्रयतः शब्द में शतु-प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ यह जानना चाहिए कि आश्रय का त्याग करने पर कुछ भी सिद्ध नहीं होता, यह सूचित किया गया है। इसी कारण भगवत में “जो आपके चरणकमलों का आश्रय नहीं लेते, वे चाहे कितने भी बड़े पद पर पहुँच जाएं, वहाँ से गिरं पड़ते हैं” (श्री. भा. १०/२/३२) ” यह बाक्य कहा गया है।

अशक्य इनि पदाच्छक्यन्वेऽवश्यमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यं इनि सूचितम् । शक्तौ सत्यां मर्यादोल्ङ्घने प्रभुरपिकुञ्ज्यति । अशक्यत्वे दयाविष्टः सन्सर्वमेव साधयतीति निगर्वः । अत एव सकलदुरुखदूरीकरणज्ञापितपरमदयालुन्तज्ञापकं हरिपदं प्रयुक्तवन्तः । अत एव “समस्तदुरुखात्ययमागुपत्तं” इत्यादि ।

अशक्य पद थी एवं भूमत्य छे के, सभर्थ थई गया भक्ती पशु ईन्द्रिय-निश्चाह जूङर करवो लेईच्ये केमें के सभर्थ थवा पर प्रभु द्वारा बतावेली भर्यादानु उल्लंघन करवाथी भ्रभु कुपित पशु थई लय छे, अने असभर्थ थवा पर तो दयापूर्वक प्रभु सर्व कार्य सिद्ध करी है छे, आ सार छे, आज कारणे आचार्यरथरणोये अही सभस्त दुःखोने दूर करवापाणी अने परमदयाणुता बतावया वाणो “हरि” शब्द वापर्यो छे, आज कारणे श्रीभद्रभागवतमां “भगवत्यरथरणोना निरंतर चिंतन थी जूनना सभस्त दुःखोनो तत्काल अंत थई लय छे” (श्री. भा. ३/५/१३) ”, ऐवुं वाक्य छे.

अशक्य पद से यह ज्ञात होता है कि, समर्थ हो जाने के बाद इन्द्रिय-निग्रह अवश्य करना चाहिए क्योंकि समर्थ होने पर प्रभु द्वारा बताई गई मर्यादा का उल्लंघन करने पर प्रभु कुपित भी हो जाते हैं और असमर्थ होने पर तो दयापूर्वक प्रभु सभी कुछ सिद्ध कर देते हैं, यह सार है। इसी कारण आचार्यरचरणों ने यहाँ समस्त दुःखों को दूर करने एवं परमदयालुता को बताने वाला “हरि” पद प्रयुक्त किया है। इसी कारण भगवत में “भगवत्-चरणों के निरंतर चित्तन से जीव के समस्त दुःखों का तत्काल अंत हो जाता है (श्री. भा. ३/५/१३) ” यह बाक्य है।

ननूपक्रमे त्रिदुःखसहनं धैर्यमित्युक्तम्, उपसंहारे च विषयभोगस्तुसस्य त्याग उक्तःतथा चोपक्रमोपसंहार विरोध इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंहरन्त्येतदिति । अत्र धैर्यप्रकरणे एत‘त्रिदुःखसहनमि’त्वारभ्य यन्निरूपितं तत्सर्वं सहनमेवोक्तमित्यर्थः । न हि दुःखसमांद्रवा भोगत्यागः कर्तुं शक्यते, तेन भोगत्यागेनापि पर्यवसन्न दुःखसहनमेवोक्तमिति नोपक्रमोपसंहारविरोधः ।

परंतु अहीं कोई पूर्वपक्षीने शंका एवं थाय छे के, “आपे शङ्खातामां तो निदुःखने सहन इत्युं “धैर्य” छे, ऐम कह्युं; अने अंतमां विषयभोगथी थवावाणां सुभन्नो त्याग करवानु कह्युं छे तो आपना आरंभ अने अंतना उपदेशोमांज परम्पर विशेष छे, (टीकाकारनु ऐम कहेलु छे के आरंभ अने अंतना उपदेश परस्पर विज्ञद जृष्ट रह्या छे, ऐवुं लागे छे, ते ए प्रकारे के भक्तने निदुःख सहन इत्याग ते भाटे बतावयामां आव्यो छे के आ प्रकारे भगवान पर दृढ आश्रय राखीने धैर्य धरवाथी सभस्त दुःख दूर थई जरी अने सुभ प्राप्त थशे, हवे जे कोई आवी आशाथी भगवान पर दृढ आश्रय राखीने सुभनी

प्रतीक्षामां दुःख सहन करतो रहे अने पछी तेने विषयलोग के अन्य प्रकारे सुख प्राप्त थर्थ जय तो अहीं अंतमां तेज सुभने त्याग करवानो उपदेश पशु आप्तो छे। तो पछी करवुं शु ? आपो अर्थ छे।) जे ऐवी शंका होय तो आचार्याचरणो अतदृष्ट वगेरे शब्दोथी तेने दूर के छे। अतदृष्ट शब्दनो अर्थ ए छे के, अहीं ‘धैर्य’ ना प्रकरणमां (पांचमाथी नवमा श्लोक सुधी) निहुःभसहनं धैर्यं आ शब्दोथी लर्ष अतदृष्ट शब्द सुधी जे कहुं छे, ते भद्रुं सहन करवुं ज लेईच्ये आ अर्थ छे। दुःखोने सहन अर्थ वगर तो कोई लोगोनो त्याग नथी करी शक्तो तेथी ज्यां भोगोथी प्राप्त थतां सुभनो त्याग करवा कहुं छे, त्यां पशु दुःखोनेज सहन करवानुं थयुं-तेथी अनेनाथी सिद्ध थाय छे के आरंभ अने अंतना उपदेशोभां परस्पर विरोध नथी, बनेमां दुःखोने सहन करवानी वात कही छे।

परंतु यहाँ किसी पूर्वपक्षी को शंका यह होती है कि, “आपने अरंभ में तो त्रिदुःख को सहना ‘धैर्य’ है, यह बताया; और अंत में विषयभोग से होने वाले सुख का त्याग कर देना बताया है तो आपके अरंभ एवं अंत के उपदेशों में ही परस्पर विरोध है। टीकाकार का कहना यह है कि आरंभ और अंत के उपदेश परस्पर विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। वह इस प्रकार कि भक्त को त्रिदुःख सहन करने का उपदेश इसलिए बताया जा रहा है कि इस प्रकार भगवान पर दृढ़ आश्रय रखते हुए धैर्य धरने से समस्त दुःख दूर हो जायें और सुख प्राप्त होगा। अब यदि कोई इस आशा से भगवान पर दृढ़ आश्रय रखकर सुख की प्रतीक्षा में दुःख को सहन करता रहे और वाद में यदि उसे विषयभोग या अन्य किसी प्रकार से सुख प्राप्त हो जाय तो यहाँ अंत में उसी सुख का त्याग करने का उपदेश भी दे दिया गया है। तो फिर करना क्या ? यह अर्थ है। यदि ऐसी शंका हो तो उसका निराकरण करते हुए आचार्याचरण एतदृष्ट इत्यादि शब्दों से लेकर एतदृष्ट शब्द तक जो कहा है, वह सभी कुछ सहन करना ही चाहिए, यह अर्थ है। दुःखों को सहन किए विना तो कोई भोगों का त्याग नहीं कर सकता अतः जहाँ भोगों से प्राप्त होते हुए सुख का त्याग करना कहा गया है, वह भी दुःख को ही सहन करना हुआ अतः इससे सिद्ध होता है कि आरंभ एवं अंत के उपदेशों में परस्पर विरोध नहीं है, दोनों में दुःख को ही सहन करने की बात कही गई है।

नन्दिं न सङ्क्लज्ञे । तथा हि, भवद्विः सहनयेव धैर्यमुच्यते, तच्चासङ्क्लतं, बचनविरोधात्, बचनेषु सर्वत्रभयोर्भेदात् । तानि च “तेजो बलमि”त्यादिनि । अत एव श्रीमदुद्धृजैः पृथक् पृष्ठं, श्रीमद्युद्धृजाजलपिरत्नेनापि तथैवोत्तरितम् । तस्मादुभयोरैक्यं कथं घटत इति चेद्, अत बदामः । अन्यत्र यथा तथास्तु, अत्रास्मिन्नन्ये एतद्वैर्यमेव सहनमुक्तं न तु भिन्नमिति पदसम्बन्धः ।

परंतु कोई पूर्वपक्षी ने आ अर्थमां सेहै थाय छे। ते कहे छे के, “तमे सहन करवुं ज धैर्य” छे तेम कहुं, परंतु आ असंगत छे केमेत तमारी आ वात शास्त्रवचनोथी विद्वद् ज्यैर्द रही छे। शास्त्रोमां सर्वत्र “सहन करवुं” अने “धैर्य राखवुं” आ बनेमां इरुक भताच्यो छे। लेभ “तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मणभक्ति अने ऐश्वर्य आ शक्रिय वर्णानो स्वभाव छे (श्री. भा. ११/१७/१७)” वक्ष्यमां श्रीभद्रुद्वल्लानं पूछ्यां पर भगवान श्रीकृष्णभ्ये “धैर्य” अने “सहनशीलता” अलग-अलग भताच्यो छे, तेथी कहो के बनेने तमे ऐक डेवी शीते भानो छो ? जे ऐवी शंका होय तो सांभणो, अमे अनेनुं समाधान करीच्ये छीचो, भीज शास्त्रोमां तो भले ले कहुं होय पशु आ वि. वै. भा. ग्रंथमां तो धैर्य धरवुं तेनेज सहन करवुं छे - ए अलग नथी, आ श्लोकनो अर्थ छे।

परंतु किसी पूर्वपक्षी को इस अर्थ में सदेह होता है। वह कहता है कि-“आपने सहन करना ही ‘धैर्य’ है, यह बताया है, परंतु यह असंगत है क्योंकि आपकी यह बात शास्त्रवचनों से विरुद्ध जा रही है। शास्त्रों में सर्वत्र ‘सहन करना’ और ‘धैर्य रखना’ इन दोनों में अंतर बताया गया है। जैसे ‘तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्राह्मणभक्ति और ऐश्वर्य-ये शक्रिय वर्ण के स्वभाव हैं (श्री. भा. ११/१७/१७)” वाक्य में श्रीमद्-उद्धवजी के पूछ्ने पर भगवान श्रीकृष्ण ने ‘धैर्य’ और ‘सहनशीलता’ अलग-अलग बताए हैं। अतः बताइये ये दोनों को आप एक कैसे मान रहे हैं ? यदि ऐसी शंका हो तो सुनिए, हम इसका समाधान कह रहे हैं। अन्य दूसरे शास्त्रों में तो चाहे जो कहा हो परंतु इस विवेक-धैर्य-आ. ग्रंथ में तो धैर्य धरना ही सहन करना कहा गया है, ये भिन्न नहीं हैं, यह श्लोक का अर्थ है।

वस्तुतस्तु द्रव्योरैक्यमेव । उक्तप्रश्नोत्तरस्योर्भिन्नतया कथनन्तु अवस्थाभेदमाग्रित्य । नतु क्षमाधृत्योर्भेदः । अत एवोत्तरे ‘तितिक्षा दुःखसम्मर्शं’ इति सामान्यतः सहनमुक्तम् । ‘जिह्वोपस्थित्यजपोधुतिरि’ ति विशेषतः । न हि जिह्वोपस्थित्योर्जयस्तदुभयसम्बन्धिदुखस्स-हनादन्योस्ति । ये हि तदुभयजयनिमित्तं यतन्ते ते तयोर्निर्ग्रहे क्रियमाणे जिह्वाविषयस्य सुस्वाद्वादेवपस्थितिः स्थादेवलाभेन यद् दुःखमापद्यते, तत्कीद्वायामपि कठिनं सहन्ते नत्वन्यत् किञ्चित्कुर्वन्ति । यथा यथा चाभ्यासस्तथा तथाऽनायासेन सहन्ते । अत एव गीतास्

क्षात्रस्वाभाविककर्मसु “शौर्यं तेजो धृतिदीक्षयमि” ति पैर्यं गणितम् । न हि जिह्वापस्थयोर्जयः क्षत्रियाणां सहजो धर्मः, किन्तु, दुर्लभसहनमात्रम् । अत एव गीतासु, (११) “धृतिं न विन्दामि गीतासु (१८) “धृत्या याया” ।

वास्तवमां तो आ बने एक ज छे. तमारा द्वारा कहेता ते ज्ञोकमां ले आ बनेने अलग बताव्या छे, ते तो भक्तनी उत्तरोत्तर आगण वधती अवस्था-भेदेना आधार पर कह्युं छे. परंतु धैर्यं धर्वुं अने सहन करवुं- आ बेमां कोई फ़रक नथी. आज करारे भगवाने उत्तरां आगण “दुःखने सहन करवानुं नाम “तितिक्षा” छे (श्री. भा. ११/१८/३५)”, आ वाक्य द्वारा सामान्यउपे “धैर्य” ने ज “सहन करवुं” कह्युं छे अने “लुब्धा अने जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करवो “धैर्य” छे (श्री. भा. ११/१८/३६)” आ वाक्यमां आज वातने विशेषजपथी कही छे. केमेके लुब्धा अने जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करवो अंते तो हुः ख सहन करवा सिवाय भीजुं कैर्त नथी. ले व्यक्ति आ बने पर विजय प्राप्त करवा माटे ज्यारे आ बनेनो निश्चह करे छे, तेमां लुब्धानुं विषयक सुस्वादु अन्न आवानुं सुभ अने जननेन्द्रिय विषयक श्वीसंबोग सुभ नो त्याग करवामां हुः ख अथवा कष्ट मेष्टे छे, तेमो कोई पश्च रीतनुं कठिन हुः ख सहन करी ले छे परंतु धीरज खोर्ने भीजुं काँट करता नथी. तेमने ज्वेम-ज्वेम ऐनो अभ्यास थतो ज्य छे, तेम-तेम तेमो प्रथत्न वशर ज तेमने सहन करवा लागे छे. ऐथी गीतामां क्षत्रियो ना स्वाभाविक कर्मों ना विवरणमां “पराक्रम, तेज, धैर्य, सूखभूज, धुमभां पलायन न करवुं, हान, प्रजापालन, अने नेतृत्व - आ क्षत्रियोना स्वाभाविक कर्म छे (भ. गी. १८/४३)”. आ वाक्यमां “धैर्य” गाशाव्युं छे. लुब्धा अने जननेन्द्रिय पर विजय करवा कोई क्षत्रियोनो सहज धर्म थोडो छे पश्च डेवण हुः खने ज सहन करवुं छे. आज करारे गीतामां “आपना आवा स्वप्न ने लेर्ह हुं धैर्य अने शांति राखी शकतो नथी (११/२४)”, “जे अभ्यास द्वारा मनुष्य धैर्य धारण करे छे, ते सात्विकी छे (१८/३३)” आ वाक्यो कह्यां छे.

वास्तव में तो ये दोनों एक ही हैं । आपके द्वारा कहे उस श्लोक में जो इन दोनों को भिन्न बताया गया है, वह तो भक्त की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्था-भेद के आधार पर कहा गया है परंतु धैर्य एवं सहन करने में कोई भेद नहीं है । इसी कारण भगवान ने उत्तर में आगे “दुःख को सहन करने का नाम ‘तितिक्षा’ है (श्री. भा. ११/१९/३६)” इस वाक्य द्वारा सामान्यरूप से ‘धैर्य’ को ही ‘सहन करना’ कहा है और “जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना ‘धैर्य’ है (श्री. भा. ११/१९/३६)” इस वाक्य में इसी वात को विशेषरूप से कहा है । क्योंकि जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय करनी अंततोणत्वा दुःख सहने करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । जो व्यक्ति इन दोनों पर विजय प्राप्त करने के तिए जब इन दोनों का निश्चह करते हैं, उसमें जिह्वा के विषयक सुस्वादु अन्न खाने का सुख एवं जननेन्द्रिय विषयक श्वीसंभेगसुख का त्याग करने में दुःख या कष्ट प्राप्त करते हैं, वे कैसा भी कठिन दुःख सहन कर जाते हैं परंतु धीरज खो कर कुछ अन्य नहीं करते । उन्हें जैसे-जैसे इसका अभ्यास होता चल जाता है, वैसे-वैसे वे प्रयत्न बिना ही इहें सहन करने लगते हैं । इसीलिए गीता में क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्मों के विवरण में “पराक्रम, तेज, धैर्य, सूखवृद्धा, युद्ध में पलायन न करना, दान, प्रजापालन और नेतृत्व-ये धर्मों के स्वाभाविक कर्म हैं (भ. गी. १८/४३)” इस वाक्य के अंतर्गत ‘धैर्य’ को गिना गया है । जिह्वा एवं जननेन्द्रिय पर विजय करनी कोई क्षत्रियों का सहज धर्म थोड़े ही है अपितु केवल दुःख की ही सहन करना है । इसी कारण गीता में “आपके ऐसे स्वरूप को देखकर मैं धैर्य एवं शांति नहीं खो पा रहा हूँ (११/२४)”, “जिस अभ्यास द्वारा मनुष्य धैर्य धारण करता है, वह सात्विकी है (१८/३३)” ये वाक्य कहे गये हैं ।

उद्देशकमानुसरेणाश्रयमाहुराश्रयोत इति । अत इति ल्पलोपे पञ्चमी । अत इदं द्वयं निरूप्येत्यर्थः । तेनैव पदसम्बन्धः । अतः विवेकधैर्ये निरूप्य तदनन्तरामाश्रयो भगवदेकशरणत्वं नितरां विविच्य रूप्यते कथ्यत इति । तथा चातः परमाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । यद्वा, हेतौ पञ्चमी । अत आभ्यां विवेकधैर्याभ्यां हेतुभ्यामाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । यव्याप्ति भगवदनुग्रहं बिना नाश्रयः सम्भवति, तथापि, यदा-साधनद्वाराङ्कीरति तदा विवेकधैर्येषि साधने । अत इति सहार्थं तृतीया । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । तथा च, विवेकधैर्याभ्यां सहाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । तृतीयया विवेकधैर्येष्योराधान्यं, प्राधान्यं चाश्रयस्यैवेति निरूप्यते । अथवा, एतद् विवेकसहितं सहनं धैर्यमत्रास्मिन्नान्ये उक्तं कथितम् । अतो हेतोराश्रयो निरूप्यते अयमभिसन्धिः । आश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, तेन यद्याश्रयो न निरूप्यते, तदा विवेकधैर्यनिरूपणं व्यर्थं स्यात् ।

आना पछी हवे आचार्यचरणो कम्बानुसर आश्रयनुं निःपाण आश्रयोतः वज्रे शब्दोदीर्थी करी रह्या छे. अहीं “अतः” शब्दमां “त्पृष्ठ” प्रत्ययनो लोप थर्थी पंचमीविभक्ति थर्थी छे. अतः शब्दनो अर्थ ए छे के विवेक अने धैर्य, आ बनेनुं निःपाण करीने हवे आश्रयनुं निःपाण करवामां आवी रह्युं छे तेवो अर्थ छे. आ रीते पूरा श्लोकनो अर्थ ए थयो के, विवेक-धैर्यनुं निःपाण

कर्पा पछी हवे आश्रयनुं ऐटले एक भगवानना शरणनुं निःपत्ति करवामां आवी रहुं छे. अथवा “‘अतः’” शब्दमां लेतु-अर्थमां पंचमीविभक्ति मानी लईचे तो ए अर्थ थरो दे विवेक-धैर्य नुं निःपत्ति थर्थ चुक्युं छे भाटे हवे आश्रयनुं निःपत्ति आचार्यवरशाना करी रह्यां छे. ज्ञे के भगवाननी कृपा वगर तेमनो आश्रय थवो संभव नथी छितां पण व्यापे प्रभु साधनो द्वारा अंगाकार करे छे त्यारे विवेक-धैर्य पण साधनो बनी लथ छे. अही “‘अतः’” शब्द तृतीयाविभक्ति अने सह-अर्थमां छे. तृतीया विभक्तिमां तसिल्-प्रत्यय अर्हो छे वे सभमस्त विभक्तिमां वापरी शक्य छे. तो तेनाथी ए अर्थ धरो ३, विवेक-धैर्य ना जेतु आश्रयनुं निःपत्ति करवामां आवी रहुं छे. सह-अर्थमां तृतीया-विभक्तिना प्रयोग द्वारा ए सिद्ध थाय छे के, विवेक-धैर्य अप्रधान छे अने आश्रयन् भुप्य छे - आ प्रकारे निःपत्ति करवामां आवी रहुं छे. अथवा “‘अतत्.....निःपत्ते’” पंक्तिनो अर्थ अभे करी लईचे के आ प्रकारे अहीं सुधी “‘विवेक सहित दुःखोने सहन करवुं धैर्य छे’” ते आ ग्रंथमां कहीं हाइं छे अने हवे आश्रयनुं निःपत्ति करी रह्यां छे. तेथी अर्थ ए थयो दे विवेक धैर्य तो आश्रयना अंगरूप छे ऐटले कह्यां छे अने ज्ञे आश्रयनुं निःपत्ति नहीं थाय तो विवेक धैर्यनुं निःपत्ति व्यर्थ थर्थ ज्ञे.

इसके पश्चात् अब आचार्यचरण क्रमानुसार आश्रय का निरूपण आश्रयोतः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यहाँ ‘अतः’ शब्द में ‘ल्यप्’ प्रत्यय का लोप होकर पंचमीविभक्ति हुई है। अतः शब्द का अर्थ यह है कि, विवेक एवं धैर्य इन दोनों का निरूपण करने के पश्चात् अब आश्रय का निरूपण किया जा रहा है, यह अर्थ है। इस तरह से पूरे श्लोक का अर्थ यह हुआ कि, विवेक-धैर्य का निरूपण करने के पश्चात् अब आश्रय का अर्थात् एक भगवान की शरण का निरूपण किया जा रहा है। अथवा ‘अतः’ शब्द में हेतु-अर्थ में पंचमीविभक्ति मान लें तो अर्थ यह बनेगा कि, विवेक-धैर्य के हेतु से आश्रय का निरूपण किया जा रहा है। यथापि भगवान की कृपा के द्विना उनका आश्रय होना संभव नहीं है तथापि जब प्रभु साधनों द्वारा अंगीकार करते हैं तब विवेक-धैर्य भी साधन बन जाते हैं। यहाँ ‘अतः’ शब्द तृतीयाविभक्ति एवं सह-अर्थ में है। तृतीया-विभक्ति में तसिल्-प्रत्यय किया गया है जो समस्त विभक्तियों में प्रयुक्त हो सकता है। तो इससे अर्थ यह बनेगा कि, विवेक-धैर्य के सहित आश्रय का निरूपण किया जा रहा है। सह-अर्थ में तृतीया-विभक्ति के प्रयोग द्वारा यह सिद्ध होता है कि, विवेक-धैर्य अप्रधान हैं एवं आश्रय ही प्रधान है-इस प्रकार से निरूपण किया जा रहा है। अथवा ‘एतत्.....निःपत्ते’ पंक्ति का अर्थ यो कर ले कि, इस प्रकार अब तक आचार्यचरणों ने “‘विवेक सहित दुःखों को सहन करना धैर्य है’” यह इस ग्रंथ में कह दिया गया है और अब आश्रय का निरूपण कर रहे हैं। सो अर्थ यह बना कि विवेक-धैर्य तो आश्रय के अंगरूप हैं इसालिए कह गये हैं अतः यदि आश्रय का निरूपण नहीं होगा तो विवेक-धैर्य का निरूपण भी व्यर्थ हो जायेगा।

तथा चैवं पदसम्बन्धः। यतः कारणादश्रयनिस्तृपणार्थमज्ज्ञेन विवेकधैर्येण उक्ते, अतो हेतोऽविवेकधैर्ययोनिस्तृपणस्य सार्थकत्वाय विवेकधैर्यनिस्तृपणानन्तरामाश्रयो निःपत्त्यत इति। बुद्धियाचक्त्वात्सर्वनामां पूर्वं च विवेकसहितमेव वैर्यमुक्तमिति विवेकसहितमेवैतत्पदेनोच्यते। यद्वा, एतद्विवेकसहितं सहनं धैर्यम्, अत्राश्रये उक्तमभिहितमतो हेतोस्तुदुभयनिस्तृपणानन्तरं यत्रेदं द्वयं निस्तृपतिं स आश्रयो निस्तृपत्त इति।

तेथी पूर्वं श्लोको अर्थ ए थयो ३, ज्ञे कारणशी विवेक-धैर्यनुं निःपत्ति क्षुर् ते निःपत्तने सार्थक बनावसा भाटे हवे आश्रयनुं निःपत्ति करवामां आवे छे. अर्थात् “‘अतत्’” शब्दधी अहीं ए सभमलय छे के देखे विवेक अने धैर्य बनेनुं स्वरूप हुवे आटलां विश्वेषणो पछी धैर्ये कर्पाली सभमस्त परिस्थितियो ने विवेकसहित सहन करवुं “‘धैर्य’” छे. तेथी ए बनेनां निःपत्ति पछी नेवो आश्रय प्राप्त कर्वो छे, एवा आश्रयनुं स्वरूप निःपत्ति करवामां आवे छे, आवो अर्थ छे.

अतः पूरे श्लोक का अर्थ यह बना कि, जिस कारण से विवेक-धैर्य का निरूपण किया गया, उस निरूपण को सार्थक बनाने के लिए अब आश्रय का निरूपण किया जा रहा है। अर्थात् ‘एतत्’ शब्द से यहाँ यह दोतित होता है कि चूँकि विवेक एवं धैर्य दोनों का स्वरूप अब इतने विश्लेषणों के पश्चात् पूर्णरूपेण निरूपित किया जा चुका है अतः अब बुद्धिय ‘आश्रय’ का स्वरूप निरूपित कर रहे हैं।

अथवा यों अर्थ कर ले कि, पूर्व में कहीं गई समस्त परिस्थितियों को विवेकसहित सहन करना ‘धैर्य’ है। अतः इन दोनों के निरूपण के पश्चात् जैसा आश्रय प्राप्त करना है, ऐसे आश्रय का स्वरूप निरूपित किया जाता है, यह अर्थ है।

तथाहि, अत्र हि भगवादश्रये क्रियमाणे याद्वे विवेकधैर्ये अपेक्षिते ताद्वेष निरूपिते, स आश्रयस्तुदुभयनिस्तृपणानन्तरं निःपत्त इति। आश्रयः आसमन्तात् श्रयः सेवनम्, श्रिव्यावायाम्, अस्मात् धञ्। सेवा च चित्तस्य तदेकपरत्वम्, अत एव “‘चेतस्तत्प्रवणं सेवे’”ति लक्षणमुक्तमाचार्यैः। यथापि, मनोबादेहैः सेवा त्रिविधा, तथापि, मुख्या मनोव्यसनस्त्रप्तेहात्मिका। अन्या तु सेवा

तत्साधनरूपा । अत एव “चेतस्तत्प्रवणं सेवे” तिलक्षणमुक्त्वा “तत्सिद्धै तनुवित्तजे” ति सेवान्तरस्य तत्साधनत्वमुक्तम् । मनोबचनरूपायास्तु “मानसीं सा परा मतं” ति मुख्यत्वमुक्तम्, इयमेव भक्तिरित्युच्चते । शाण्डिल्यसूत्रे “सा परानुरक्तिरीश्वर” इति लक्षणात् । अत एव नारदपञ्चरात्रे “स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः” इति लक्षणमुक्तम्, तत्र माहात्म्यज्ञानपूर्वकं तु अपराधनिवृत्त्यर्थम्, न तु लक्षणे प्रविष्टम् । श्रवणादिलक्षणा तु भक्तिस्तस्याः साधनरूपा, अत एव “भक्त्या सज्जातापा भत्ये” ति । अतः सेवामार्गो भक्तिमार्गशैक्षै एव ॥ ९ ॥

अनेन एव सम्बले ते भगवानान्मो आश्रय करवा भाटे ले प्रकारना विवेक-धैर्यं नी ज्ञानं छे ते प्रकारना विवेक-धैर्यने निःपृष्ठित करीने हुये आश्रयनुं निःपृष्ठा करी रहां छे । “श्रिज्” धातु नो सेवाना अर्थमां उपस्थोग करवामां आवे छे, तेमां “धर्म” प्रत्यय लगावी देवाथी “आश्रय” शब्द बने छे, तेथी “आश्रय” शब्दनो अर्थ थाथ-सुचाङ्ग रीते श्रय करवो अर्थात् सेवा करवी । चित्तनुं भगवानमां एकमेक थर्द ज्ञानुज्ज “सेवा” छे अने आश्रयरचरणो ऐ सि. मु. मां “चेतस्तत्प्रवशेषम् सेवा” (चित्तनुं भगवानमां प्रवशाता ज्ञ सेवा छे), आ प्रकारे सेवानुं लक्षण भताव्यु छे, जे के भन-वाणी-शसीर तेम सेवा ग्राश प्रकारनी छै परंतु अनामां पशु मनने भगवान्तु व्यसन थर्द ज्ञ एवी स्नेहात्मिका सेवा मुख्य छे, बीजु सेवाओ तो तेनी साधनद्वया छे, तेथी आश्रयरचरणो ऐ सि. मु. मां “चित्तनुं भगवानमां प्रवश थर्द ज्ञानु सेवा छे” ऐ वाक्यथी सेवा नुं लक्षण भतावी “अने मानसी सेवा तनुवित्तज सेवाथी सिद्ध थाथ छे” ते वाक्य द्वारा बीजु सेवाओने मानसीसेवानुं साधन भतावी छे, भनवचनत्वपूर्व सेवा ने तो “मानसी श्रेष्ठ छे” ते वाक्यमां मुख्य भतावी छे, आज मानसी सेवाने भक्ति कहे छे, तेमेक शाण्डिल्यसूत्रमां “ईश्वरमां पेरम अनुराग “भक्तिं” छे” आ प्रकारे भक्तिनुं लक्षण आप्यु छे । नारदपञ्चरात्रस्मृतिमां “भगवानमां स्नेह थर्द ज्ञो “भक्तिं” छे” ऐपुं लक्षण कह्यु छे, त्यां ले भगवानना माहात्म्यज्ञान सहित स्नेह थवानी वात कही छे, ते तो भगवद्-अपराधोथी भयवा भाटे कही छे, ते भक्तिनुं लक्षण नथी, नवधा भक्तिमां कहेली भक्ति तो आ भक्तिनी साधनद्वया भक्ति छे तेथीज्ज भागवतमां कह्यु छे के, “साधनभक्तिथी प्रेमभक्तिनो उद्य थर्द ज्ञ छे (श्री. भा. ११/३/३१)”。 तेथी उपर्युक्त विश्लेषणोथी ऐ सिद्ध थाथ छे के सेवामार्ग अने भक्तिमार्ग एक ज्ञ छे ॥ ८ ॥

इसे ऐसे समझो कि भगवान का आश्रय करने के लिए जिस प्रकार के विवेक-धैर्य की आवश्यकता होती है उस प्रकार से विवेक-धैर्य को निरूपित करके अब आश्रय का निरूपण कर रहे हैं । “श्रिज्” धातु सेवा के अर्थ में उपयोग की जाती है; इसमें ‘ब्रह्म’ प्रत्यय लगा देने पर ‘आश्रय’ शब्द बनता है । अतः ‘आश्रय’ शब्द का अर्थ हुआ-भलीभाँति से श्रय करना अर्थात् सेवा करना । चित्त का भगवान में एकमेक हो जाना ही ‘सेवा’ है अतः आचार्यचरणों ने सि. मु. में “चेतस्तत्प्रवणम् सेवा चित्त की भगवान में प्रवणता ही सेवा है इस प्रकार से सेवा का लक्षण बताया है । यद्यपि मन-वाणी-देह यों सेवा तीन प्रकार की हैं परंतु इनमें भी जहाँ मन को भगवान का व्यसन हो जाय ऐसी स्नेहात्मिका सेवा मुख्य है । अन्य सेवाएँ तो इसकी साधनरूप हैं । अतएव आचार्यचरणों ने सि. मु. में “चित्त का भगवान में प्रवण हो जाना ‘सेवा’ है” इस वाक्य से सेवा का लक्षण करके “और मानसी सेवा तनुवित्तजा सेवा से सिद्ध होती है” इस वाक्य द्वारा दूसरी सेवाओं को मानसीसेवा का साधन बताया है । मनवचनत्वपूर्व सेवा को तो ‘मानसी श्रेष्ठ है’ इस वाक्य में मुख्य बताया गया है । इसी मानसी-सेवा को भक्ति कहते हैं । क्योंकि शाण्डिल्यसूत्र में “ईश्वर में परम अनुराग ‘भक्ति’ है” इस प्रकार से भक्ति का लक्षण किया गया है । नारदपञ्चरात्रस्मृति में ‘भगवान में स्नेह हो जाना ‘भक्ति’ है’ ऐसा लक्षण कहा गया है । वहाँ जो भगवान के माहात्म्यज्ञान सहित स्नेह होने की बात कही गई है, वह तो भगवद्-अपराधों से बचने के लिए कही गई है, वह भक्ति का लक्षण नहीं है । नवधा भक्ति में कही गई भक्ति तो इस भक्ति की साधनरूपा भक्ति है, इसी कारण भागवत में “साधनभक्ति से प्रेम-भक्ति का उदय हो जाता है (श्री. भा. ११/३/३१)” यह वाक्य कहा गया है । अतः उपर्युक्त विश्लेषणों से यह सिद्ध होता है कि सेवामार्ग एवं भक्तिमार्ग एक ही हैं ॥ ९ ॥

प्रतिज्ञातमाश्रयं पद्मचतुष्यन लक्षयन्ति, ऐहिक इत्यादिना ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःस्थानानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्योषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेबास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं बाचा च परिकीर्तियेत् ॥ १३ ॥

एवं चित्त इत्यनेनान्वयः । “मुख्यं मानसः” इति पूर्वमानसोऽकिः । तत्र सङ्गेषत आश्रयस्वस्पमर्डेन पयेनाहुरैहिक इति, ऐहिके इह लोक सम्बन्धिनि, पारलोके परलोकसम्बन्धिनि कार्यमात्रे सर्वथा सर्वे: प्रकारैः हरिः श्रीकृष्णः शरणं रक्षाकास्तु । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यग्रिमेणान्वयः । रक्षणं चात्र हितकारित्वं, न तु प्राणग्रक्षकत्वमात्रम्, लोकेषि महाशास्त्र्युपस्थितो धनादिमोषं वा उपस्थितं तस्मान्विवारणे कृते ‘अनेनायं रक्षित’ इति प्रयोगः । तेनैहिकपारलौकिकयोर्थयोः सर्वे: प्रकारस्त्वमेवास्मद्वितकारी भवेति प्रार्थना । जीवाः प्रायेण स्वंस्य हितमपि न विदन्ति । हितज्ञानेऽपि प्रब्रह्मेषु स्वदंपेषु विवामानेषु प्रब्रह्मैः प्रत्यूहः कृत्वा स्वहितं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तस्मात्त्वमेव सर्वान्दोपान्निवार्यं हितं साथयेति भावः कटाक्षितः ।

हवे वे आश्रयानु निःपत्ति करवानी वात कही हती, तेन चार पंक्तियो द्वारा ऐहिक वगेरे शब्दही द्वारा आश्रयचरणो निःपत्ति करी रह्यां छे.

आ चार “लोकैने (१०, ११, १२, १३) “ऐवं चित्ते” शब्दही याथं लगावी अर्थ करवो लोकैने । (अर्थात् आ चारे लोकोंमां कहेसा समस्त उपदेशोनी चित्तमां भावना कर्त्तने हरिनी शरणभावना करवी लोकैने, ऐम अर्थ छे. आ प्रकारे अर्थ करवो लोकैने ऐम टीकाकार कहे छे.) मुख्यता तो भननी ज छे तेथी अहीं सर्वप्रथम भननी सिद्धि नो ब उपदेश छे. (“अलौकिक भनः सिद्धौ” भां भननी सिद्धिनी वात कही छे) अहीं आश्रयना स्वदृपत्तें अर्थपदामां संक्षिप्तपदी ऐहिक वगेरे शब्दोथी कही रह्यां छे. “ऐहिक” नो अर्थ छे - आ लोक थी संबंधित कार्योंमां, “पारवोडे” शब्दनो अर्थ छे - परलोकथी संबंधित कार्योंमां, सर्वथा नो अर्थ छे - बधी रीते, हरि: अर्थात् श्रीकृष्णज आपाणु शरण (आपत्ता रक्षक) छे. आ प्रकारे चित्तमां भावना करवी लोकैने. आ अर्थ छे. “रक्षण्” नो अर्थ याय छे - हित करवु, केवल प्राणोनीन रक्षा करवी तेम नहीं. लोकमां पशु ज्याए कोई दृढं दृढं भणे छे अथवा तो कोईना धन-संपत्ति नी चोरी थर्ट ज्वापस ने व्यक्ति ते समस्यानु निपास्तु करे छे तेना भाटे ऐमजु कहेवाय छे के “तेषु आ समस्यादी अभावी रक्षा करी”, तेथी रक्षणु करवानो अर्थ केवल प्राण भयावहा तेम नवी. तेज कारणे भगवानने पशु “लौकिक-अलौकिक कार्योंमां भधा प्रकारर्थी तमेव अभावा हितकारी छो” ऐ प्रकारे प्रार्थना करवामां आवे छे. भोटे भागे लुवो भोतानु हित पशु नवाता नवी. जे तेमने पोताना हितनी भबर होय तो पशु भोताना प्रभण दोधोने कारणे अदायवणा विचार कर्त्तने ते भोतानु हित पशु नवी करी शकता. तेथी भगवानने प्रार्थना छे के “तमेव भावः समस्त दोधोनु निवारणु कर्त्तने भाङ्ग हित करो”, तेवो भाव छे.

अब जिस आश्रय का निरूपण करने की वात कही थी, उसे चार पंक्तियो द्वारा ऐहिक इत्यादि शब्दों द्वारा निरूपित कर रहे हैं ।

इन चारों श्लोकों को अर्थात् १० वें, ११ वें, १२ वें एवं १३ वें श्लोकों को ‘एवं चित्ते’ शब्द के साथ लगा कर अर्थ करना चाहिए । अर्थात् इन चारों श्लोकों में कहे गये समस्त उपदेशों की चित्त में भावना करके हारि की शरण भावना करनी चाहिए, यों अर्थ बनता है इस प्रकार से अर्थ करना चाहिए, यह टीकाकार कह रहे हैं । मुख्यता तो मन की ही है अतः यहाँ सर्वप्रथम मन की सिद्धि का ही उपदेश है । ‘अलौकिकमनःसिद्धौ’ में मन की सिद्धि की वात कही गई है यहाँ आश्रय के स्वरूप को अर्धपद्य में संक्षिप्तरूप से ऐहिक इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । ऐहिके का अर्थ है- इस लोक से संबंधित कार्योंमें, पारलोके शब्द का अर्थ है-परलोक से संबंधित कार्योंमें, सर्वथा का अर्थ है-सभी प्रकारों से हरिः: अर्थात् श्रीकृष्ण ही हमारी शरण (रक्षक) हैं । इस प्रकार से चित्त में भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है । ‘रक्षण’ का अर्थ होता है-हित करना, केवल प्राणों की ही रक्षा करनी नहीं । लोक में भी जब किसी को ओरी दंड मिलता है या तो किसी की धन-संपत्ति की ओरी हो जाने पर जो उस समर्द्या का निवारण करता है, उसके लिए यही कहा जाता है कि ‘इरने इस समस्या से हमारी रक्षा की’ । अतः रक्षण करने का अर्थ केवल प्राण बचाना नहीं होता । इसी कारण भगवान से भी “लौकिक-अलौकिक कार्योंमें सभी प्रकार ये तुम ही हमारे हितकारी हो” इस प्रकार प्रार्थना की जाती है । प्रायः करके जीव अपना हित भी नहीं जानते हैं । यदि उन्हें अपना हित ज्ञा हो तब भी अपने प्रब्रह्म दोषों के कारण उटपटांग विचार करके वे अपना हित भी नहीं कर सकते । अतः भगवान से प्रार्थना है कि “तुम ही मेरे समस्त दोषों का निवारण करके मेरा हित करो” यह भाव है ।

कञ्चनैतादृशा ये किमपि न प्रायेन्ते, उत्तमाश्र त एतेत्यपि व्रापयितुमस्त्विति प्रार्थनार्थक्रियापदस्याप्रयोगः । नन्वेतादशाः के मनि, यंपामैहिकं पारलौकिकं च किमपि न प्रार्थनीयमस्ति । न हि परमविरक्ता अपि पारमार्थिकाद्विज्यन्त इति चेद्, अत्र बद्रामः ।

યેવાં પ્રભુચરણારવિન્દે વ્યસનમસ્તિ તે મુજબાદિકમણી નેચ્છન્તીતિ પારમાર્થિકમણી ન પ્રાર્થયન્ને । અત: એવ “ન નાકપુષ્ટ” “નૈકાત્મકામિ” ત્યાદિવચ્ચાનાનિ ।

કોઈ ભક્તો એવા પણ હોય છે જેઓ ભગવાનને કોઈ પણ પ્રાર્થના નથી કરતા; ઉત્તમ ભક્તો પણ તેજ છે - આ પણ ભતાવધા માટે અહીં ભૂળ જ્ઞોકમાં (૧૦ થી ૧૩) ક્યાંય પણ “આપ અમારું રક્ષણ કરો” તે પ્રકારે નથી કહ્યું. પરંતુ અહીં કોઈ પૂર્વપદ્ધતીને શંકા એ થાય છે કે, “એવા દોષા છે ? જે લૌકિક ડેઅલોકિક કોઈ પણ પ્રકારની પ્રાર્થના નથી કરતા ? પરમ વિરક્ત લાકો પણ પારમાર્થિક સુખોની પ્રાર્થના તો કરેજ છે.”

સમલો કે, જે લોકોને પ્રભુ-ચરણારવિન્દનું વ્યસન થઈ ગયું છે, તે લોકો ન તો મુક્તિ ઈર્ચછે છે કે ન તો પારમાર્થિક પ્રાર્થના પણ કરે છે. આનું પ્રમાણ તમે “તભાડ દાસ્ય છોડી મને સ્વર્ગનું સુખ પણ ન જોઈએ (શ્રી. ભા. ૬/૧૧/૨૫)” અને “મારી ચરણસેવા કરવા વાળાઓને સાયુદ્ધ-મોક્ષની પણ કામના નથી હોતી (શ્રી. ભા. ૩/૨૫/૩૪)” વગેરે વાક્યોમાં લેઈ શકો છો.

કુછ ભક્ત એસે ભી હોતે હોય જો ભગવાન સે કુછ ભી પ્રાર્થના નહીં કરતે; ઉત્તમ ભક્ત ભી વે હી હોય -યાં ભી બતાને કે તિએ યાં મૂલ શ્લોક મેં અર્થાત् ૧૦ સે લેકર ૧૩ તક કે શ્લોક મેં કહ્યું ભી “આપ હમારા રક્ષણ કરો” ઇસ પ્રકાર સે કહીન નહીં કહા ગયા હૈ. પરંતુ યાં કિસી પૂર્વપક્ષી કો શંકા યાં હોતી હૈ કે, એસે કોન હોય ? જો લૌકિક યા અલૌકિક કિસી ભી પ્રકાર કી પ્રાર્થના નહીં કરતે ? પરમ વિરક્ત લોગ ભી પારમાર્થિક સુખ કી પ્રાર્થના તો કરતે હી હોય ?

રામદિલે કિ, જિન લોગો કો પ્રભુ-ચરણારવિદ કા વ્યસન હો ગયા હૈ, વે ન તો મુક્તિ હી ચાહતે હોય ઔર ન હી પારમાર્થિક પ્રાર્થના હી કરતે હોય. ઇસકા પ્રમાણ આપ “આપકા દાસ્ય છોડક પુણે સ્વર્ગ કા સુખ ભી નહીં ચાહેદ (શ્રી. ભા. ૬/૧૧/૨૫)” એવ “મેરી ચરણસેવા કરને વાતોને સાયુદ્ધ-મોક્ષ કી ભી કામના નહીં હોતી (શ્રી. ભા. ૩/૨૫/૩૪)” ઇત્યાદિ વાક્યો મેં દેખ સકતે હોય.

નનુ યે મુક્તિ ન વાજ્છની, તેપિ પ્રભુચરણારવિન્દનું નરગરૂપાં ભક્તિં વાજ્છન્નીય, ન હિ ભગવદીયાસ્તતોપિ નિરપેક્ષા ભવન્તિ । અત: સા ભક્તિરે પરમાર્થિકી પ્રાર્થનાયાસ્તીતિ પ્રાર્થનાનિરપેક્ષા: સર્વદુલ્લભા ઇતિ ચેતુ, સત્યમ, દુલ્લભા એવ, ક: સન્દેહ:, પરનુ, દુલ્લભા એવ, નત્વલભા:, તથાહિ, યે ચરણારવિન્દે વ્યસનિનસે તતોપિ નિરપેક્ષા: । યદિ તાવદપ્રેષિતં સ્વાતંત્રા તદ્વયસનમેવ ન સ્વાત્ત. વ્યસનં હિ તદેવ યત્ર તદ્વિના સ્પાતુમેવ ન શકોતિ, ઇદમેવ (વ્યસનં) તત્ત્ર પ્રવૃત્તિનિમિત્તં, નત્વન્યત્ કિન્ચિત્ । અત: એવ લૌકિકેપિ થૂતાદૌ યે વ્યસનિનસે સ્થાતુમશક્તા એ તત્ત્ર પ્રવર્તન્તે, નત્વચ્ચનિમિત્તમસ્તિ ।

ચાલો માની દર્શે કે, તેઓ મુક્તિની કામના નથી કરતા પરંતુ પ્રભુ ચરણારવિન્દના અનુરાગઝપી ભક્તિની કામના તો કરેજ છે. ભગવદીય ભક્તિની કામના થી તો અલગ નથી રહી શકતા. તેથી તેનાથી પણ તેઓ પ્રાર્થનારહિત તો સિદ્ધ નજ થધાને ? તેથી પ્રાર્થનારહિત ભક્તો તો મળયા દુર્લભ જ છે.

આપ ઠીક કહી રહ્યાં છો, એવા સર્વથા પ્રાર્થના રહિત ભક્તો મળવા તો દુર્લભજ છે એમાં ક્યાં સંદેહ છે ! પણ દુર્લભજ છે, સર્વથા અપ્રાપ્યજ હોય તેવું નથી કેમકે જેઓ ભગવાનના ચરણારવિન્દના વ્યસની છે, તે તો છતાં પણ પ્રાર્થનારહિત જ છે. તે એ માટે કે જે તેમને કેવળ અનુરાગરૂપા ભક્તિ જ અપેક્ષિત હોતી તો તેમને વ્યસનજ કેવી રીતે થતું ? “વ્યસન” તેનેજ કહે છે કે, જ્યારે ભગવાન વગર રહેણું અસંભવ થઈ જય. આજ વ્યસન તેમને ભગવાનની તરફ લઈ જવાબાં કારણદુર્ભ બન્યું, બીજુ કોઈ વસ્તુ નહીં. આજ કારણે લૌકિકમાં પણ ધૂત-વગેરે (જુગાર) ના જે વ્યસની હોય છે, તેઓ જુગાર વગર રહી શકતા નથી, આજ કરણે તેઓ વારંવાર ત્યાં પ્રવૃત્ત થાય છે, બીજા કોઈ કારણ થી નહીં.

ચતું માન લિયા કિ, વે મુક્તિ કી કામના નહીં કરતે પણું પ્રભુ-ચરણારવિદ અનુરાગરૂપા ભક્તિ કી કામના તો કરતે હી હોય । ભગવદીય ભક્તિ કી કામના સે તો અછૂતે નહીં રહ સકતે । અત: ઇસસે ભી તો વે પ્રાર્થનારહિત નહીં હી સિદ્ધ હુએ કિ નહીં ? અત: પ્રાર્થનારહિત ભક્ત મિલને તો દુર્લભ હી હોય ।

આપ ઠીક કહ રહે હૈ, એસે સર્વથા પ્રાર્થનારહિત ભક્ત મિલને તો દુર્લભ હી હોય ઇસમેં ક્યા સંદેહ હૈ ! પરંતુ દુર્લભ હી હોય એવાં એ અપ્રાપ્ય હોય એવાં એ અપેક્ષિત હોતી તો ઉંહેં વ્યસન હી કેસે હોતી ? ‘વ્યસન’ ઉસે હી કહતે હૈને, જવ ભગવાન કે બિના રહના હી અસંભવ હો જાય । યાં વ્યસન ઉંહેં ભગવાન કી ઓર પ્રવૃત્ત હોને મેં કારણ બના, કોઈ દૂસરી બસ્તુ નહીં । ઇસી કારણ લૌકિક મેં ભી થૂત-આદિ (જુઆ) કે જો વ્યસની હોતે હોય, વે જુએ કે બિના રહ હી નહીં સકતે, ઇસી કારણ વે વારંવાર વહાં પ્રવૃત્ત હોતે હોય, અન્ય કિસી કારણ સે નહીં ।

ननु धनाशैव निमित्तमस्तीति चेत्, रे हृदयशूल्य ? यदि धनाशैव निमित्तं स्यात् तदा मुहूर्मुहुः पराजिता अपि कथं प्रवर्तेत्तन् ? । सन्देहादेव प्रवर्तनं इति चेत्, ज्योतिर्बिंदिः सम्मूलघातं सन्देहे होतेपि प्रवर्तन्त एव । न ह्यपायसहस्रेणापि तत्तद्व्यसनिनः कथमपि तेऽयो निवर्तन्ते कचित् । किञ्च, इदमपि यूते आशाङ्कितं स्यात्, व्यसनान्तरेषु का गतिः, न हि पापद्विपायणा मैरेयमत्तः परदारताथ धनाशया प्रवर्तन्ते, प्रत्युत शमभलीभुक्तसर्ववासते ।

परंतु तेऽयो तो धननी आशाशीज त्यां ज्यय छे ?

अरे हृदयशूल्य ! ज्ञे धननी आशाशीज तेनामां कारण छोय तो वारंवार हार्धा पछी पाण ते त्यां केम ज्यय छे ?

नहीं. तेने हार-ल्लतामां संदृष्ट हे छे तेथी ते त्यां ज्यय छे.

ले तमे संदेह नी वात करो छोय तो धशीवार कोई ज्योतिषि पाण ते संदेहने दूर करवा भाटे ते जुगारीने अभ कही दे छे के, ते चोक्स हारशेल, तो पाण ते त्यां ज्यय छ छे, तेने शुं कहेशो ? व्यसन के धननी आशा ? कोई वार तो ऐसुं पाण ज्ञेयुं -सांभज्युं छे के, हजारो उपाय कर्मा पछी पाण ऐसना व्यसनी तेने कटी पाण छोडता नदी. अने आ हार-ल्लतामी आशंका पाण केवल जुगारामां ज छे, अन्य व्यसनीनी शी गति थशे ? अनो विचार करो. पाप-परायण, शराबी अने पर-स्त्री गमन करवा वाणा शुं धननी आशाशी ऐवं करे-छे ? भल्के तेऽयो तो भदा वेश्याओ पर धन लुटावपा वाणा होय छे.

परंतु वैतां धन की आशा से ही वहा जात है ?

अरे हृदयशूल्य ! यदि धनं की आशा ही उसमें कारण होता तो वारंवार हारने के बाद भी वह वहाँ क्यों जाता ?

नहीं । उसे जीत-हार में संदेह बना रहता है, इसीलिए वह वहाँ जाता है ।

यदि तुम संदेह की बात कर रहे हों, तो कई वार कोई ज्योतिषी भी उस संदेह को दूर करके उस जुआरी को यह बात बना देते हैं कि, वह निश्चितरूप से हारेगा ही, तब भी वह वहाँ जाता ही है, इसे क्या कहोगे ? व्यसन या धन की आशा ? कई वार तो ऐसा भी देखा-सुना गया है कि, हजारों उपाय करने के बाद भी इनके व्यसनी कमी भी इहें नहीं छोडते । और, यह हारने जीतने की आशंका भी केवल जुए में ही है, अन्य व्यसनी की क्या गति होगी ? इसका विचार करें । पाप-परायण, शराबी ऐवं परस्ती-गमन करने वाले क्या धन की आशा से ऐसा करते हैं ? बल्कि ये तो सभी वेश्याओं पर धन तुटाने वाले होते हैं ।

तस्मावरणाविन्द्व्यसनिनोपि निमित्तनिरपेक्षा एव, अत एव कपिलदेवेनापि “अनिमित्ता भागवती” ति फलभक्तिलक्षणमुक्तम् । यदि किमपि निमित्तं तत्र विद्यते तदा अनिमित्तत्वं कथं बदेत् ? अप्रे च “अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमः” इत्युक्तम् । “कुर्वन्त्यहैतुक्यमपि” । अत एव कौण्डिन्यप्रभृतयस्तथाभूताः । अत एव ब्रजवासिनामपि तथा भावः ।

तेथी ऐसिद्ध थयुं के भगवानना धरणारविन्दना व्यसनी पाण भील कोई वस्तुनी अपेक्षा नदी ज राखता. आज कारणे कपिलदेवलुओं “भगवाननी निस्वार्थ-भक्ति भुक्ति करतां पाण अद्वियाती छे (श्री. भा. ३/२५/३३)” वाक्य द्वारा इतिहास भक्तिन्दुं लक्षण कह्यु छे. ज्ञे आमां कोई पाण प्रकारनो स्वार्थ हीत तो तेऽयो “निःस्वार्थ भक्तिं” केम कहेता ? आपी आगण भगवाने “मुझ पुरुषोत्तमां निष्काम भक्ति थवी निर्गुण लक्षितयोग्यन्तु लक्षण छे. (श्री. भा. ३/२६/१२)”, “आंतर्मार्भाज रमण करवा वाणा भगवाननी निष्काम भक्ति करे छे (श्री. भा. १/७/१०)”, वगेरे वाक्यो पाण कह्यां छे. आज कारणे गोपिकाओंभ्ये पूजा भगवाननी ऐवेल भक्ति करी. अने आज कारणे धर्मवासीओनो पाण भगवान भाटे ऐवो भाव हुतो.

अतः यह सिद्ध हुआ कि भगवान के चरणारवेद के व्यसनी भी अन्य किसी बस्तु की अपेक्षा नहीं ही रखते । इसी कारण कपिलदेवजी ने “भगवान की निस्वार्थ भक्ति मुक्ति से भी बदकर है (श्री. भा. ३/२५/३३)” वाक्य द्वारा फलरूपा भक्ति का लक्षण किया है । यदि इसमें किसी भी प्रकार का स्वार्थ होता तो वे ‘निस्वार्थ भक्ति’ क्यों कहते ? इसके आगे भगवान ने “मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम-भक्ति होना निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है (श्री. भा. ३/२९/१२)”, “आत्मा में ही समान करने वाले भगवान की निष्काम-भक्ति करते हैं (श्री. भा. १/७/१०)” इत्यादि वाक्य भी कहे हैं । इसी कारण गोपिकाओं ने भी भगवान की ऐसी ही भक्ति की । और इसी कारण ब्रजवासियों का भी भगवान के लिए ऐसा भाव था ।

ननु यदि व्यसनिनः किमपि न प्रार्थयन्ते, सर्वनिरपेक्षत्वात् तदा ब्रजवासिनः कथं प्रार्थितवन्तः ? न हि तदेश्यापायन्ये व्यसनिनः सन्ति, “क्षणं युगशतमिव”त्यादि बाव्यात् । प्रार्थयेत च तैरनारतमेव । ननु कैस्तु तैः प्रार्थयते इति । शुक्रादिभिरेव । कुव्री श्रीभगवतादावेव । तथाहि, ॥ १२ ॥ “राम ! राम !” ॥ १६ ॥ “कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २० ॥ “राम ! राम !” ॥ कृष्ण कृष्ण !” ॥ २६ ॥ “मैवं विभो” ॥ ४४ ॥ “भनसो वृत्तयः” ॥ ७९ ॥ “आहुश्च ते,” इत्यादिषु तत्कृष्णार्थना श्रूयते । न च

तच प्रार्थनं किन्तु, कथनमात्रमिति वाच्यम्, “इति विज्ञापिते गोरैरि” त्यादि शुक्रोक्तिव्याकोपात् विज्ञापनं प्रार्थनमेव, अपि च, अन्ये तु मुत्त्यादिनिमित्तं प्रार्थनये, न त्वैहिकनिमित्तम् । ऐते तु शुधादिनिवृत्त्यर्थमपि प्रभुं प्रार्थयन्ते । अल्पतमे शुभिवृत्त्यादवपि यदि प्रभुं प्रार्थयन्ते तदा किमुवाच्यं महति कार्यं, यत्र निरूपमनिरूपथिनिवृत्तिव्याधा ब्रजबासिनोऽजस्मर्थयन्ते तत्रान्यः को वा सनाथः स्वनाथं न नायेत् । तस्मादपार्थः प्रार्थनारहितान्वेषणप्रयासां इति चेद, अत्रोच्यते ।

ठीक छे, परंतु ए भजावो के ले भगवद्-व्यसनी निष्काम होवाने काशे भगवानने कोई प्रार्थना न थी करता तो पहली प्रज्वलासीओं ए भगवानने प्रार्थना केम करी ? अभेनी तुलनामां तो भीजे कोई व्यसनी छेज नहीं लेभना भाटे “गोविंदना विरहमां प्रबलभक्तोनी एक क्षण सो चुगोनी लेम वीती (श्री. भा. १०/१८/१६)”, आवां वाक्यों प्राप्त थाय छे. तेभां तो लगातार भगवानने प्रार्थना करी छे, शुं न थी करी ?

कोइ लेक्ष्युं के तेमणे प्रार्थना करी छे ?

शुकदेवल लेवाओ ए कहुं छे के तेमणे प्रार्थना करी छे.

क्यां कहुं छे ?

श्रीभद्रभागवतमां लेक्ष्युं छे. आ श्लोकोमां जुओ “राम राम (१०/६८/४४); (१०/६५/२६)”, “कृष्ण कृष्ण (१०/३४/६); १०/१७/२३; १०/२५/१३; १०/२८/१८; १०/१६/६; १०/३६/६),” अभने निष्ठुरता भर्ता वचनो न कहे, अभारो स्वीकार करी लो (१०/२८/३१), “अभे एज प्रार्थना कीचे छीचे के अभारी वृत्ति भगवानना यरणकमलो भां रहे (१०/४७/६६)”. “गोपीओ ए कहुं के अभारा पर एयी कृपा करो के अभे आपने क्यारेय न भूतीचे (१०/८२/४८)”. आ वधा श्लोकोमां प्रबलभक्तो द्वारा प्रार्थना करेली छे. अहीं तमे ए पश न थी कहुं शक्ता के, “आ काई प्रार्थना थोडी छे, आ तो तेमनुं कथन भान छे”. केम्के आप अभे कहेशो तो तभारी आ वात शुकदेवल द्वारा करेली, “त्यारे य्वालभालको ए क्षुधा शांति करवा भाटे भगवानने विज्ञापन करता प्रार्थना करी (श्री. भा. १०/२४/२); आ वात थी विद्वद् थर्थ जशे, ज्यां विज्ञापननो अर्थ प्रार्थना कहेवाआं आव्यो छे. तेलुं ज नहीं, ज्योत्त्यो तो भुक्ति लेवी अलौकिक वस्तुनी प्रार्थना करे छे, कोई लौकिक कार्यनी नहीं अने अहीं तो प्रज्वलासी तुच्छ भूख मटावा भाटे पश प्रार्थना करी रव्वां छे. तेथी ज्यां तुच्छ भूख मटावा भाटे पश प्रार्थना करी शक्ताती होय त्यां भोटां कार्योनी तो वात ज शी करवी ? ज्यां निःपत्ति-निष्काम-निरंतर प्रेमधी भर्ता प्रज्वलासी ज प्रभुने निरंतर प्रार्थना करी रव्वा छे, त्यां भीजे कोइ लेनो कोई स्वामी होय) होवा छतां पश पोताना स्वामीने प्रार्थना न करे. तेथी तभारो प्रार्थनारहित व्यक्तिने शोधवानों प्रयास वर्थ छे.

ठीक है, परंतु ये बताइये कि यदि भागवद्-व्यसनी निष्काम होने के काण भगवान से कोई भी प्रार्थना नहीं करते तो फिर ब्रजबासियों ने भगवान से कैसे प्रार्थना की ? उनकी तुलना में तो कोई दूसरा व्यसनी है ही नहीं कि जिनके लिए “गोविंद के विरह में ब्रजभक्तों का एक क्षण सौ युगों की भाँति वीता (श्री. भा. १०/१९/१६)” ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं । उन्होंने तो लगातार भगवान से प्रार्थना की है, क्या नहीं की ?

किसने कह दिया कि उन्होंने प्रार्थना की है ?

शुकदेवजी-आदि ने कहा है कि उन्होंने प्रार्थना की है ।

कहाँ कहा है ?

श्रीमद्-भगवत में ही कहा है । इन श्लोकों में देखिए “राम ! राम ! (१०/६८/४४); (१०/६५/२६)”, “कृष्ण कृष्ण (१०/३४/६; १०/१७/२३; १०/२५/१३; १०/२८/१९; १०/१९/९; १०/३६/६),” हमें निष्ठुरता भरे वचनमत कहो, हमें स्वीकार कर लो (१०/२९/३१), “हम यही प्रार्थना करती हैं कि हमारी वृत्ति भगवान के चरणकमलों में रहे (१०/४७/६६)”, “गोपियों ने कहा कि हम पर ऐसी कृपा करें कि हम आपको कभी न भूलें (१०/८२/४९)” इन सभी श्लोकों में ब्रजभक्तों द्वारा प्रार्थना की गई है । यहाँ आप यह भी नहीं कह सकते कि “यह प्रार्थना थोड़े ही है, यहं तो उनका कथन मात्र है” क्योंकि यदि आप ऐसा कहेंगे तो आपकी यह बांत शुकदेवजी द्वारा कही “तब ग्वाल बालों ने क्षुधा शांत करने के लिए भगवान से विज्ञापन करते हुए प्रार्थना की (श्री. भा. १०/२४/२)” इस बात से विरुद्ध हो जायेगी, जहाँ विज्ञापन का अर्थ प्रार्थना करना ही बताया गया है । और तो और, दूसरे तो मुक्ति जैसी अलौकिक वस्तु की प्रार्थना कर रहे हैं, किसी लौकिक कार्य की नहीं और यहाँ तो ये ब्रजबासी तुच्छ भूख मिटाने के लिए भी प्रार्थना कर रहे हैं । अतः जहाँ तुच्छ भूख मिटाने के लिए भी प्रार्थना की जा सकती हो, वहाँ बड़े कार्यों की तो बात ही क्या कहनी ? जहाँ निरूपम-निष्काम-निरंतर प्रेम से

भे हुए ब्रजवासी ही प्रभु से निरंतर प्रार्थना कर रहे हैं, वहाँ दूसरा ऐसा कौन होगा जो सनाथ अर्थात् जिसका कोई स्वामी हो होते हुए भी अपने स्वामी से प्रार्थना न करे। अतः आपका प्रार्थनाराहित व्यक्ति को ढूँने का प्रयास व्यर्थ है।

प्रथमं तात्पर्यनास्वरूपं विचारय, प्रार्थना नाम कः पदार्थः । ननु ममेदपेक्षितमित्यपेक्षितकथनं प्रार्थनेति चेत्, न, राजा: सेवकं प्रत्येवं वचनमपि प्रार्थना स्यात्, न हि सा प्रार्थना, किन्त्वाज्ञा । तथा मित्रं प्रति अन्यं कथितुदासीनं प्रति ताद्यवचनमपि प्रार्थना स्यात् । न हि सा प्रार्थना किन्तु, कथनमात्रम् । ननु तत्य प्रार्थनात्ये किं वाधकमिति चेत्, प्रयोगाभाव एव, न हि तत्र राजा मित्रेण वा इदं प्रार्थत इति कथित्यपुङ्के । ननु लाभहेतुकं वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रार्थनानन्तर लाभे दद्वनस्य प्रार्थनात्वं न स्यात् । लाभस्तुपकार्याभावेन पूर्ववर्त्तिनाविरूपकारणत्वाभावात् । न च सा न प्रार्थनेति वाच्यम्, प्रार्थितमनेन न दत्तमिति प्रयोगात् । ननु लाभेच्छया वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रजाभ्यो धनं गृह्यतामिति राजाज्ञाया अपि प्रार्थनात्वप्रसङ्गात् । करादिसञ्ज्ञया प्रार्थने अव्यासेश्च । न च तत्प्रार्थनमेव न भवतीति वाच्यम्, हस्तेनायं याचत इति प्रयोगात् । गृहीतमौनब्रतस्य भोजनादावपि तथात्वात् । स्यादेतत् । न वयं वचनपर्यन्तं वदामः, किन्तु लाभेच्छया यत्क्रियते तत्सर्वं प्रार्थनेति, तस्माल्भार्थमुद्यमः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । एवमत्राप्यासित्यावर्तनेषि राजाज्ञायामित्यासिर्वज्ञलेपायितैव ।

तमारी शंकान्तु समाधान कही रह्यां छीअे. सांखणो, सर्वप्रथम तो केवल प्रार्थनाना स्वप्नोज विचार करो के “प्रार्थना” कोने कहे छे ?

“भारे आ ज्ञेईछे” आ प्रकारे अपेक्षा करवाने प्रार्थना कहे छे.

ना, ऐवुं नथी. ज्ञे तमे अपेक्षानेज प्रार्थना भानी लेशो तो राजना द्वारा सेवक पासे कोई प्रकारनी वस्तु मांगवापर ते प्रार्थना थर्द जशे परंतु ते प्रार्थना नथी होती, ते तो आज्ञा छे. ते प्रकारे कोई भित्र अथवा उदासीन व्यक्ति पासे की मांगवुं पछी प्रार्थना ज थर्द जशे. ते प्रार्थना नथी, ते तो कथन भात्र छे.

परंतु ऐने प्रार्थना ज भानी लेवामां शु आपत्ति छे ?

ना, ऐवुं न भानी शकाय. केम्भे ऐवो व्यवहार क्यांय हेखातो नथी. अने राज द्वारा पोताना सेवकने अथवा पछी कोई भित्र ना द्वारा कोई वस्तु मांगवाथी “आ प्रार्थना करी रह्यो छे”, ऐम नथी कही शकातु.

हीक छे, त्यारे तो कोई वस्तुना लाभ भाटे ज्यारे कार्दि कहेवारी रह्युं होय तो तेने प्रार्थना भानी लो.

ना, ऐने पश प्रार्थना नथी भानी शकाती. केम्भे ज्ञे प्रार्थना कर्द्या पछी ते वस्तु प्राप्त न थर्द तो पछी ते कथन ने प्रार्थना नहीं कहेवाय. ज्यारे लाभज न थयो, तो ऐ लाभ भाटे करेली प्रार्थना पश प्रार्थना ज न रही.

ना, ऐवुं नथी. ते प्रार्थना नथी, ऐम तमे नथी कही शकता केम्भे लोकमां “अने प्रार्थना करी परंतु तेणो न आय्यु” ऐवो प्रयोग सांखणवामां आवे ज छे तेथी केवल लाभ न थवाथी ते प्रार्थना ज नथी, तेम तमे नथी कही शकता.

नहीं ! परंतु लाभ-ईच्छाथी कहेलां वाडो ने तमे प्रार्थना नथी कही शकता. केम्भे तेम कहेवाथी “प्रज्ञ पासेथी धन लर्द आवो”, आ प्रकारनी राजनी आज्ञा पश प्रार्थना थर्द जशे. त्यारे तो क२-वस्तुली पश प्रार्थनाज थर्द जशे.

परंतु आ प्रार्थना छे ज नहीं, तेवुं तमे पश कही नथी शकता केम्भे ज्यातमां “आ हाथ फेलावीने मांगी रह्यो छे” ऐवो प्रयोग हेखाय छे. अने भौनवत धारी पश भोजन वगेरे भाटे आ ज प्रकारे प्रार्थना करे छे. आप जेम कही रह्या छो, ज्ञे तेवुं ज होय, परंतु अभे केवल कहेला भात्रनेज प्रार्थना नथी कही रह्या पश लाभनी ईच्छाथी जे कार्दि पश क्युं, ते प्रार्थना ज छे, आ कही रह्या छीअे. तेथी लाभ भाटे जे कोई पश यत्न-प्रयत्न करवामां आवे, ते प्रार्थना ज छे.

ना, तेवुं नथी. केम्भे लाभ भाटे करवामां आवता प्रयत्नने भसे तमे प्रार्थना भानी पश लो, परंतु राजनी आज्ञा ने तो छताय प्रार्थना नहीं भानी शकाय.

आपकी शका का समाधान कह रहे हैं, सुनिए । सर्व प्रथम तो केवल प्रार्थना के स्वरूप का ही विचार कराए कि ‘प्रार्थना’ किसे कहते हैं ?

‘मुझे यह चाहिए’ इस प्रकार से अपेक्षा करने को प्रार्थना कहते हैं ।

नहीं ऐसा नहीं है । यदि आप अपेक्षा को ही प्रार्थना मान लेंगे तो राजा के द्वारा सेवक से इस प्रकार कोई भी वस्तु माँगने पर वह प्रार्थना हो जायेगी । परंतु वह प्रार्थना नहीं होती, वह तो आज्ञा है । उसी प्रकार किसी मित्र वा उदासीन व्यक्ति से भी कुछ माँगना फिर प्रार्थना ही हो जायेगी । वह प्रार्थना नहीं है, वह तो कथन भात्र है ।

परंतु इसे प्रार्थना ही मान लेने में क्या आपत्ति है ?

नहीं । ऐसा नहीं माना जा सकता । क्योंकि ऐसा व्यवहार कहीं दिखाई नहीं देता । और राजा द्वारा अपने सेवक से या फिर किसी मित्र के द्वारा कोई वस्तु माँगने से 'वह प्रार्थना कर रहा है' ऐसा नहीं कहा जाता ।

ठीक है, तब तो किसी वस्तु के लाभ के हेतु से जब कुछ कहा जा रहा हो, तो उसे प्रार्थना मान लीजिए ।

नहीं, इसे भी प्रार्थना नहीं माना जा सकता । क्योंकि यदि प्रार्थना करने के पश्चात् वह वस्तु प्राप्त नहीं हुई तो फिर उस कथन को प्रार्थना ही नहीं कहा जा सकेगा । जब लाभ ही नहीं हुआ तो उस लाभ के लिए की गई प्रार्थना भी प्रार्थना न रही ।

नहीं । ऐसा नहीं है । वह प्रार्थना नहीं है, ऐसा आप नहीं कह सकते क्योंकि लोक में "हमने प्रार्थना की प्रत्यंतु इसने नहीं दिया" ऐसा प्रयोग सुनने में आता ही है । अतः केवल लाभ न होने से वह प्रार्थना ही नहीं है, ऐसा आप नहीं कह सकते ।

नहीं । लाभ-इच्छा से कहे जाने वाले वाक्यों को आप प्रार्थना नहीं कह सकते । क्योंकि ऐसा कहने से "प्रजा से धन् ले आओ" इस प्रकार की राजा की आज्ञा भी फिर प्रार्थना हो जायेगी । तब तो कर-वसूली करना भी प्रार्थना ही हो जायेगी ।

परंतु यह प्रार्थना है ही नहीं, ऐसा आप भी नहीं कह सकते क्योंकि लोक में "यह हाथ फैला कर माँग रहा है" ऐसा प्रयोग दिखाई देता है । और मौनब्रतधारी भी भोजन आदि के लिए इसी प्रकार प्रार्थना करते हैं । और, आप जैसा कह रहे हैं, भले ही हो ऐसा, परंतु हम केवल कहने मात्र को ही प्रार्थना नहीं कह रहे हैं हीं अपितु लाभ की इच्छा से जो कुछ भी किया, वह प्रार्थना ही है, यह कह रहे हैं । अतः लाभ के लिए जो कुछ भी यत्न-प्रयत्न किया जाता हो, वह प्रार्थना ही है ।

नहीं, ऐसा नहीं है । क्योंकि लाभ के लिए किए जाने प्रयत्न को आप भले ही प्रार्थना मान भी लें, परंतु राजा की आज्ञा को तो प्रार्थना फिर भी नहीं माना जा सकेगा ।

ननु दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेतु, मैवम् । शृणुतां दयोत्पादकं "दुष्मेनमाशु मारये" ति महादारुणवचसोपि याचात्प्रसङ्गात् । ननु सम्बोध्यस्य दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेतु, न, आज्ञास्य दयालुत्वे उत्तरवचनेऽतिव्याप्तेः । निर्देवं प्रति प्रार्थने व्याप्तेश्च । अश्रवणे चाच्यासेः । न चेत् द्रुयमपि न यात्रेति वाच्यम्, निर्दयोयमेतत्प्रार्थनां न मनुते, व्यग्रोयमेतत्प्रार्थनां न शृणोतीति च प्रयोगात् । किञ्च, "अयं देवदत्तो भृशमहेश्वरीदि" ति प्रासङ्गीकोक्तावप्यतिव्याप्तेः । अथ स्वस्मिन्सम्बोध्य दयोत्पादकं वचस्तथेति चेतु, न, "सर्वे भृशमहमहेश्वरिपमि"-तिवृत्तवृत्तान्तवचनेऽतिव्याप्तेः । न हि सुहेश्वरव्रवणोपि नानुकम्पते मनः । अथ दयार्थमुक्तिः प्रार्थनेति चेतु, न, किं स्वस्मिन्द्यार्थमाहेश्वित्प्रसिद्धिनुत् सामान्यतः । न प्रथमः । परार्थं प्रार्थनेऽतिव्याप्तेः । न द्वितीयः । स्वार्थं प्रार्थनेऽतिव्याप्तेः । न तृतीयः । "निर्देवमेनं सदयं कुर्विते" त्युकेन देवदत्तेन पूर्वाजकभादिभिः कृते क्रूराजप्रवोपनेऽतिव्याप्तेः । न च याचनैव सेतिवाच्यम् । राजानमयं पुरुणादिभिः प्रवोपयतीति वयाचत इत्यपि प्रयोगापत्तेः । तस्मात् मीमांसितव्यमैतैदिति चेतु, न, धात्वर्थ्यविचारेण याचनैव प्रार्थना, न च राजादिवचनादावतिप्रसङ्गः । तत्राऽप्यकर्त्तव्यभावेति प्रार्थनात्वस्येतत्वात् । अत्र निरपेक्षत्वमपि भगवत्स्वस्त्वपभजनातिरिक्तनिरपेक्षत्वमेव । न हि भगवदीया भगवति निरपेक्षाः, तथा सति ज्ञानमार्गपातात् ॥ १३ ॥

तो पछी दृप्तीय वयन् "प्रार्थना" छे, ऐसे भी मानी लो ।

ना, ऐसुं पशु आप नथी कही शकता, केमें दृप्तीय वयन पशु सांभणो के, "आ दृष्टने शीघ्र भारी नाखो," -आ अत्यंत दृप्तपूर्वक कहेलां कठोरवयन पशु पछी प्रार्थना थर्ठ जशे ।

तो पछी हुयो ना द्वारा दृप्तपूर्व वयन कहेवाय तो तेने प्रार्थना भानी लो ।

ना, ऐसुं न कहेवाय केमें ले दृष्ट व्यक्तिने दंड भज्यो छे, तेने तेनां दृप्तपूर्व वयनोना आधार पर छोड़ी नथी शकतो । अने पछी त्यारे कोई निर्दृशी अर्थात् लेनाभां दृप्ता न होय, तेना वयनो ने प्रार्थना भानी लेवाभां आव्यशे । अने ज्ञे तेना वयनो ने न सांभण्यु करी नामे तो पछी तेने पशु प्रार्थना नहीं भनाय । अने तेमज्ज, निर्दृशी अने दृप्ताणु आ बने व्यक्तियो द्वारा कहेलां वयनो ने पशु प्रार्थना नथी भानी शकती केमें लगतभां "आ भु निर्दृशी छे, अभारी प्रार्थना पशु नथी भानतो," "आ भु व्यस्त छे, अभारी प्रार्थनाज नथी सांभणतो", आ प्रकारना प्रयोग पशु भणे छे । तेमज्ज, सांभणो के, "आ दैवदत्त ने बहुं कष्ट भयुं", ते प्रकारनुं कथन पशु वर्थ्य थर्ठ जशे केमें तेने कष्ट तो त्यारे ज थर्ठ ने के तेनी प्रार्थना न सांभणवाभां आवी । ज्यारे ऐनी दृप्तपूर्वक कठेली प्रार्थना पशु न सांभणवाभां आवी त्यारे दृप्तीय वयनोने तभे प्रार्थना केम कही शको छो ?

कोई पोतानी दृप्तीय परिस्थिति बतावी दृप्तीय वयन कही रहयो होय तो ते प्रार्थना छे-अभे ऐसे कहीये छीये ।

ना, ऐसुं पशु नथी केमें "हे भित ! भने बहुं कष्ट भयुं", आ प्रकारना वयनोभां ऐ भाव झलके छे के ते व्यक्तिनी

परिस्थिति दृष्टीय होवा छतां, अने आ प्रकारे दृष्टीय वाक्यो कहेवा पर पाणि तेनी प्रार्थना न सांभणवामां आवी। केम्के पोताना कोई स्नेही स्वजन नुं कष्ट सांभणीने भनमां दृष्टा न उपले, तेवुं तो नथी थतुं।

तो पछी तेना दृष्टीय वचनो ने ज्ञ प्रार्थना केम न मानी लर्जेचे ?

ना, बेपोताना भाटे दृष्टापूर्ण वाक्यो कहेवायच के बीजं मटे, वात तो बंने एक ज्ञ छे। जे पोताना भाटे प्रार्थना करवामां आवे तो भीज भाटे करवामां आवती प्रार्थना ने प्रार्थना न मानी शकाय अने जे भीज भाटे प्रार्थना करवामां आवे तो पछी पोताना भाटे करवामां आवती प्रार्थनाने प्रार्थना नहीं मानी शकाय। आ बंने विकल्पोना सिवाय कोई त्रीज विकल्पने पाणि प्रार्थना न मानी शकाय केम्के “आ निर्दृशी ने दृष्टापूर्ण बनावी हो” आवुं देवदत्तना कहेवा पर पहेलां क्षेत्रां कूर राजना प्रसंगमां आने प्रार्थना नहीं मानी शकाय। अने तेमज, याचना ने पाणि प्रार्थना न कही शकाय। केम्के “आ राजने पुराणो नो उपदेश करी रह्यो छे” आ प्रकारना उपदेशमां भलेने प्रत्यक्षज्ञपथी याचना नथी हेमाती छतां आ उपदेशानुं छुप्युं प्रभोजन पाणि तो याचना करवी ज छे। पाणि आ उपदेशने याचना न कही शकाय।

तो पछी आ विषय धड्हो विचारणीय छे, ऐम मानीचे !

ना, धातु अर्थनो विचार करवा पर तो याचना ज्ञ प्रार्थना सिद्ध थाय छे अने ते राज वगेरेनां उदाहरणोमां पाणि प्रार्थना ना इपमांज घटे छे। राजना प्रसंगमां पाणि राज द्वारा सेवक पासे कई भांगवा पर राजनुं कोई अपमान न थवां छतां याचना तो छे ज्ञ। ते प्रकारे अहीं प्रबलभक्तोना विषयमां निरपेक्षता भतावता भगवान्नी सेवा करवानी अपेक्षा तो तेमानामां छे ज्ञ। केम्के भगवानीयो भगवान प्रति निरपेक्ष नथी रही शक्ता। अन्यथा तेच्यो तो शानभाग्य ज्ञ सिद्ध थर्ड जशे। ॥ १३ ॥

तो फिर दृष्टों के द्वारा दृष्टापूर्ण वचन कहे जाने पर उन्हें प्रार्थनु मान लें।

नहीं, ऐसा भी आप नहीं कह सकते। क्योंकि दृष्टीय वचन भी सुनिए कि “इस दुष्ट को शीघ्र मार दीजिए”-ये अत्यंत दृष्टापूर्वक कहे जाने वाले कठोरवचन भी फिर प्रार्थना हो जायेंगे। तो फिर दृष्टों के द्वारा दृष्टापूर्ण वचन कहे जाने पर उन्हें प्रार्थनु मान लें। नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस दुष्ट व्यक्ति की दंड मिल चुका है, उसे उसके दृष्टापूर्ण वचनों के आधार पर ढोड़ा नहीं जा सकता। और फिर तब किसी अर्थात् जिसमें दृष्टा न हो, उसके वचनों को प्रार्थना मान लिया जायेगा। और यदि उसके वचनों को अनसुना कर दिया जाय तो फिर उसे भी प्रार्थना नहीं माना जा सकेगा। और भी, निर्दृशी एवं दृष्टालु इन दोनों व्यक्तियों द्वारा कहे जाने वाले वचनों को भी प्रार्थना नहीं माना जा सकता क्योंकि लोक में ‘यह बड़ा निर्दृशी है, हमारी प्रार्थना भी नहीं मानता’, “यहाँ बड़ा व्यस्त है, हमारी प्रार्थना ही नहीं सुनता” इस प्रकार के प्रयोग भी मिलते हैं। और भी, सुनिए कि “इस देवदत्त को बहुत कष्ट मिला” इस प्रकार का कथन भी व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि उसे कष्ट तो तभी हुआ न कि जब उसकी प्रार्थना नहीं सुनी गई। जब उसकी दृष्टापूर्वक की गई प्रार्थना भी नहीं सुनी गई तब दृष्टीय वचनों को अप प्रार्थना कैसे कह सकते हैं।

कोई अपनी दृष्टीय परिस्थिति बता कर दृष्टीय वचन कह रहा हो तो वह प्रार्थना है- हम ये कह रहे हैं।

नहीं। ऐसा भी नहीं हैं क्योंकि “हे मित्र ! मैंने बड़ा कष्ट पाया” इस प्रकार के वचनों में यह भाव झलकता है कि उस व्यक्ति की परिस्थिति दृष्टीय होने पर भी एवं इस प्रकार दृष्टीय वाक्य कहने पर भी उसकी प्रार्थना नहीं सुनी गई। क्योंकि अपने किसी स्नेही स्वजन का कष्ट सुनकर भी मन में दया न उपजे, ऐसा तो नहीं होता।

तब फिर उसके दृष्टीय वचनों को ही प्रार्थना क्यों न मान ली जाय ?

नहीं, चाहे अपने लिए दृष्टापूर्ण वाक्य कहे जाएँ या दूसरे के लिए, बात तो दोनों एक ही है। यदि अपने लिए प्रार्थना की जाय तो दूसरे के लिए की जाती प्रार्थना को प्रार्थना नहीं माना जा सकेगा और यदि दूसरे के लिए प्रार्थना की जाय तो फिर अपने लिए की जाती प्रार्थना को प्रार्थना नहीं माना जा सकेगा। इन दोनों विकल्पों के अतिरिक्त किसी तीसरे विकल्प को भी प्रार्थना नहीं माना जा सकता क्योंकि “इस निर्दृशी को दृष्टालु बना दीजिए” ऐसा देवदत्त द्वारा कहने पर पूर्व में कहे क्लूर राजा के प्रसंग में इसे प्रार्थना नहीं माना जा सकेगा। और भी, याचना को भी प्रार्थना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि “यह राजा को पुराणों का उपदेश कर रहा है” इस प्रकार के उपदेश में भले ही प्रत्यक्षरूप से याचना दिखाई नहीं पड़ती तथापि इस उपदेश का लुपा हुआ प्रयोजन भी तो याचना करना ही है। किंतु उस उपदेश को याचना नहीं कहा जा सकता।

फिर तो यह विषय बड़ा ही विचारणीय है, यही मान लिया जाय !

नहीं। धातु-अर्थ का विचार करने पर तो याचना ही प्रार्थना सिद्ध होती है और वह राजा-आदि के उदाहरणों में भी प्रार्थना के रूप में ही घटती है। राजा के प्रसंग में भी राजा द्वारा सेवक से कुछ माँगने पर राजा का कोई अपमान न होते हुए भी याचना तो है ही। उसी प्रकार यहाँ ब्रजभक्तों के विषय में निरपेक्षता बताते हुए भगवान की सेवा करने की अपेक्षा तो उनमें है ही। क्योंकि भगवदीय भगवान के ग्रन्ति तो निरपेक्ष नहीं रह सकते। अन्यथा वे तो ज्ञानमार्गीय ही सिद्ध हो जायेंगे ॥ १३ ॥

शणसिद्ध्यर्थमात्राहन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

देवान्तरस्य भजनं, तत्र देवान्तरसमीपे मार्गवशाद्यभावेपि स्वेच्छाया गमनम्, चकारात्तर्दर्थमन्यप्रेरणं च विवर्जयेत् । भगवति च कार्यमात्रे अल्पेपि कर्तव्ये अथवा सर्वेषु कर्तव्येषु प्रार्थना वर्जयेत् । अत्यशक्यार्थे प्रभौ प्रार्थनायां कृतायामपि मुहुः प्रार्थना न कार्येति बहुवचनम् । तथा प्रभुवद् अन्यत्र देवान्तरे प्रार्थना विशेषणं वर्जयेत् ॥ १४ ॥

हुये भगवाननां शरणानीं सिद्धि प्राप्त करवा भाटे अन्यस्य वगेरे शब्दो आचार्यराजो कही रह्यां छे.

अन्यस्य बजनं नो अर्थ छे—अन्य देवताओंनुं बजन्। तेथी अन्य कोई भीजे भार्ग न होय अने विवशताथी ते भागीशी जवुं पठे, ने भार्गमां भीजे देवोनुं देवातय होय, त्याएं तो ठीक छे परंतु स्वयं पोतानी ईच्छाथी त्यां न जवुं ज्ञेईये। “च” शब्दनो अर्थ ए छे के, कोई भीजे त्यां ज्ञानानी प्रेरणा करे, त्यारे पश न जवुं ज्ञेईये। श्लोक ना भीजे भागनो अर्थ ए छे के, नानामां नाना कार्यों भाटे पश भगवानने प्रार्थना न करवी ज्ञेईये। अथवा ऐसे समझे के कोई पश कार्य भाटे प्रार्थना न करवी ज्ञेईये। अत्यंत असंभव कार्य भाटे भानो ऐक वार प्रार्थना करी पश होय, छतां पश वारंवार प्रार्थनाओं तो न ज करवी ज्ञेईये, आ बतावा भाटे “प्रार्थना!” शब्द बहुवचनमां छे। ते प्रकारे, पोताना प्रभुने तो भानो कोई विशेष परिस्थितिमां ऐक वार प्रार्थना करी पश लीदी होय परंतु अन्य देवताओंने तो तेटली पश प्रार्थना न करवी ज्ञेईये। आ विवर्जयेत् शब्दमां प्रयुक्त “वि” उपसर्गीथी समझय छे ॥ १४ ॥

अब भगवान की शरण की सिद्धि प्राप्त करने के लिए आचार्यचरण अन्यस्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

अन्यस्य भजनं का अर्थ है—अन्य देवताओं का भजन । अर्थात् अन्य कोई दूसरा मार्ग न हो और विवशता में उसी मार्ग से जाना पड़ जाय जिस मार्ग से दूसरे देवता का देवातय हो, तब तो ठीक है, परंतु स्वयं अपनी ईच्छा से वहाँ नहीं जाना चाहिए । ‘च’ शब्द का अर्थ यह है कि, कोई दूसरा वहाँ जाने को प्रेरित करे, तब भी नहीं जाना चाहिए । श्लोक के दूसरे भाग का अर्थ यह है कि, छोटे से छोटे कार्य के लिए भी भगवान को प्रार्थना नहीं करनी चाहिए अथवा यों समझें कि किसी भी कार्य के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए । अत्यंत असंभव कार्य के लिए मानो एक वार प्रार्थना कर भी ली हो, तथापि वारंवार प्रार्थनाएँ तो नहीं करनी चाहिए, यह बताने के लिए ‘प्रार्थना’ शब्द बहुवचन में है । उसी प्रकार, अपने प्रभु से तो मानों किसी विशेष परिस्थिति में एकाध वार प्रार्थना कर भी ली हो परंतु अन्य देवताओं से तो उतनी भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए—यह विवर्जयेत् शब्द में प्रयुक्त ‘वि’ उपसर्ग से ज्ञात होता है ॥ १४ ॥

नन्देवं सति कथमिष्टसिद्धिः ? प्रभुरेक्षितं कुर्यान् वेति चेत् तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्माख्यचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

भक्तिमार्गे अविश्वासो न कर्तव्यः, “ये यथा मां प्रपद्यन्” इति वाक्यात्, सः सर्वथा बाधकः । विश्वासस्तु कर्तव्यः । अनयोः (विश्वासाविश्वासयोः) क्रमेण बाधकत्वासाधकत्वयोर्ब्रह्माख्यचातकौ भाव्याबनुसन्धेयौ । लङ्घायां राक्षसैर्ब्रह्माख्येण बद्धो हनुमान चलितवान्, ततस्तैरन्यैः पश्यैर्बद्धुमारब्ध्यो ब्रह्माख्ये राक्षसानामविश्वासां दृष्ट्वा स्वयमपि ब्रह्माख्यमयोदामुलुद्धय ततश्चलितवान् । ततो ब्रह्माख्यवर्धमभूत् । एवं भक्तिमार्गाऽविश्वासे भक्तिमार्गीयं सर्वं व्यर्थं भवति ।

जो ऐसुं छे तो ईष्टप्राप्ति केवी रीते थशे ? आपशने जे अपेक्षित छे ते प्रभु करशे के नहीं ? आवी शंकानुं समाधान आचार्यराजों अविश्वास वगेरे शब्दोथी ज्ञाने छे ।

आनो अर्थ ए छे के, भक्तिमार्गमां अविश्वास न करवो ज्ञेईये। केम्डे भगवद्-जीताना “भक्त जे प्रकारे शरणे आवे छे, हु तेने तेवुंज इन आपुं छुं, (४/११)”, आ वाक्यानुसार जे अविश्वास राखीने भगवाननी शरणागति करशुं तो इन पश तेवुंज भणशे। अविश्वास तो सर्वथा बाधक छे, विश्वास ज करवो ज्ञेईये। अविश्वास अने विश्वासमां क्षमः बाधकता अने

साधकतानो विचार करीने अविश्वासमां “भ्रह्मात्र” अने विश्वासने सभजवां भाटे “चातक” ना दृष्टांतनी भावना करवी ज्ञेष्ठां। लंकाभां ज्यारे राक्षसोंचे हनुमानलुने भ्रह्मात्री बांध्या त्यारे पशु हनुमानलु त्यांथी हात्या नहीं। तेना पर पशु तेमाणे तेमने भीज बंधनोर्थी पशु बांधवानुं चालुं कर्युं। हनुमानलु राक्षसोंचो आवा प्रकारनो भ्रह्मात्र परनो अविश्वास ज्ञेष्ठ स्वयं पशु भ्रह्मात्रीं मर्यादा तोडीने त्यांथी निकली गया। तेथी भ्रह्मात्र पशु व्यर्थ ज थर्ड गयुं। आ प्रकारे भक्तिमार्ग पर अविश्वास इत्यादि शब्दां से समाधान कर हेर्व हैं।

यदि ऐसा है तो फिर इष्ट प्राप्ति कैसे होगी ? हमें जो अपेक्षित है, वह प्रभु करेंगे या नहीं ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण अविश्वास इत्यादि शब्दों से समाधान कर हेर्व हैं।

इसकां अर्थ यह है कि, भक्तिमार्ग में अविश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि भगवद्-गीता के “जो मेरी जिस प्रकार से शरणागति करता है, मैं उसे वैसा ही फल देता हूँ (४/११)” इस वाक्यानुसार यदि अविश्वास रखते हुए भगवान की शरणागति करेंगे तो फल भी वैसा ही प्राप्त होगा। अविश्वास तो सर्वथा वाधक है, विश्वास ही करना चाहिए। अविश्वास एवं विश्वास में ऋग्मः वाधकता एवं साधकता का विचार करते हुए अविश्वास में ‘ब्रह्मात्र’ के दृष्टांत की एवं विश्वास को समझने के लिए ‘चातक’ के दृष्टांत की भावना करनी चाहिए। लंका में जब राक्षसों ने हनुमानजी को ब्रह्मात्र के द्वारा बांधा तब भी हनुमानजी वहाँ से हिले नहीं। इस पर उन्होंने उन्हें अन्य दूसरे बंधनों द्वारा भी बांधना शुरू किया। हनुमानजी राक्षसों का इस प्रकार ब्रह्मात्र पर अविश्वास देखकर स्वयं भी ब्रह्मात्र की मर्यादा तोड़कर वहाँ से निकल पड़े। अतः ब्रह्मात्र भी व्यर्थ ही हो गया। इसी प्रकार भक्तिमार्ग पर अविश्वास करने से भक्तिमार्गीय समस्त पदार्थ व्यर्थ हो जाते हैं।

चातकः पश्चिमेषः, स्वातिर्वर्षिष्यति स्वातिजलमेव मया पेयमिति विश्वासेन महदन्यत् जलं विहाय तिष्ठति, तदर्थं स्वातिर्वर्षिति स पिबति। एवं भक्तिमार्गे हरिः सर्वं करिष्यतीति विश्वासेन भक्तिमार्गमर्यादां गृहीत्वा यस्तिष्ठति, तस्य योगक्षेमनिर्वाहं प्रभुः करोति, “तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहमि” ति वाक्यात्। सर्वं भगवत् एव, अहं भगवद्दत्तमेव भगवते समर्पयामीति ममत्वं तत्त्वा प्राप्तं सेवेत्तेत्याहुः प्राप्तं सेवेत निर्मम इति।

चातक ऐक विशेष प्रकारनुं पक्षी छे ले “स्वातिजल परस्ते अने हुं तेज स्वातिजल ने पीश” आ प्रकारना विश्वासथी अन्य सभस्त भोटा ज्याशयोने छोड़ीने डेवण स्वातिजल माटे प्रतीक्षारत रहे छे। अने तेना भाटे स्वातिजल वरसे छे अने ते तेनेज पीछे छे। आ प्रकारे भक्तिमार्गां ले “हरि बधुंज कर्शे” एवं विश्वासथी भक्तिमार्गानी भर्यादानुं पालन करीने रहे छे तेना सभस्त “योगक्षेम” नो निर्वाह प्रभु करे छे। आज वात “मारा भक्तोनी संपूर्णा आवश्यकताओं नो भार हुं वहन कड़े छुं (भ. गी. ६/२२)” आ वाक्यथी गीता मां कही छे। “बधुंज भगवाननुं ज छे, हुं भगवाननो फूत दास ज छुं, भगवाननुं आपेतु भगवानने सर्वपशु करी रहो छुं” आ प्रकारथी भमताने छोड़ीने भगवत्-सेवा करन्वी ज्ञेष्ठां, आ आचार्यचरणोंभे प्राप्तं सेवेत निर्भमः वगेरे शब्दोर्थी कहुं छे।

चातक एक विशेष प्रकार का पक्षी है जो “स्वातिजल बरसेगा और मैं उसी स्वातिजल को पीयूँगा” इस प्रकार के विश्वास से अन्य समस्त बड़े जलाशयों को छोड़कर केवल स्वातिजल के लिए प्रतीक्षारत रहता है। और उसके लिए स्वातिजल बरसता है और वह उसी को पीता है। इसी प्रकार भक्तिमार्ग में जो ‘हरि सब कुछ करें’ इस विश्वास से भक्तिमार्ग की मर्यादा का पालन करते हुआ रहता है उसके समस्त ‘योगक्षेम’ का निर्वाह प्रभु करते हैं। यही वात “मेरे भक्तों की संपूर्ण आवश्यकताओं का भार मैं बहन करता हुूँ (भ. गी. ९/२२)” इस वाक्य से गीता में कही गई है। ‘सभी कुछ भगवान का ही है, मैं भगवान का दास ही हूँ, भगवान का दिया हुआ ही भगवान की समर्पण करे रहा हूँ’ इस प्रकार से ममता का त्याग करके भगवत्-सेवा करनी चाहिए, यह आचार्यचरणों ने प्राप्तं सेवेत निर्ममः इत्यादि शब्दों से कहा है।

नन्देवं ममत्वाभावे भगवत्कार्यातिरिक्तं कार्यं न कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्यथाकथञ्चिदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्वरिम् ॥ १६ ॥

उच्चावचान्यनेकप्रकारकाणि, वैदिकानि, लौकिकान्यप्यविरुद्धानि कार्याणि । यथा कथञ्चिद् न विस्तारेण कुर्यात्, व्यवहारोपयोगित्वाद्, व्यवहारस्य परम्परया भगवद्भजनोपयोगित्वादित्यर्थः । कियन्तः प्रकाराः वक्तव्या इति सङ्केषणाहुः किं वा प्रोक्तेन बहुनेति । कर्मभिन्नं मम निस्तारः, किन्तु, भगवदाज्ञया कृतैः भगवान्प्रसन्नः शरणं भवत्विति भावयेदित्याशयेनाहुः शरणं भावयेद्वरिमिति ॥ १६ ॥

परंतु अहीं एक शंका थाय छे के, जे आ प्रकारे समस्त कार्योंमांथी भमतानो त्याग करी हईये तो भगवत्कार्य सिवायनां भीन इयों केवी रीते करवां ? तो आचार्यरणों तेनुं समाधान यथा कर्थित् वगेरे शब्दोथी करी रह्या छे।

“उच्चार्याचानि” नो अर्थ छे- वैदिक कार्यों, शास्त्र सम्बत लौकिक कार्यों; यथाकथश्चित् नो अर्थ छे- आ कार्योंने व्यभ- तेम तेम करी देवां न्वेईये, विस्तारथी नहीं अने तेमनायां निषा राखीने नहीं। केमें का कार्यों लौकिक व्यवहार निभावायां उपयोगी छे अने लौकिक व्यवहारों परंपरा थी भगवद्भजनानां उपयोगी रहां छे, आज कराणे तेमने निभावी देवां न्वेईये, आ अर्थ छे। बीजुं शुं- अने केटलुं कहीये ? तेथी आचार्यरणां संक्षेपमां केवण “हुवे वधारे शुं कहीये” अटलुंज कही रहां छे। “आ कर्माथी माङ् कल्याण नहीं थाय परंतु आ कर्मोने करवानी आज्ञा स्वयं भगवानेज आपी छे तेथी तेमनी आज्ञानुसार करवाथी तेचो प्रसन्न थशे अने भावा रक्षक थशे” ऐवी भावना करवां न्वेईये, आ भतावत्वा भाटे आचार्यरणोंचे शरणां भावयेत् हरिश् वगेरे शब्दों कल्यां छे ॥ १६ ॥

परंतु यहाँ एक शंका होती है कि, यदि इस प्रकार समस्त कार्यों से ममता का त्याग कर दें तो फिर भगवत्कार्य के अतिरिक्त दूरारे कार्य कैसे कर्से ? तो आचार्यचरण इयका समाधान यथाकथश्चित् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

“उच्चावचानि” का अर्थ है- वैदिक कार्य, शास्त्रसम्बत लौकिक कार्य; यथाकथश्चित् का अर्थ है- इन कार्यों को जैसे-तैसे कर लेना चाहिए, विस्तार से नहीं एवं इनमें निषा रखते हुए नहीं। क्योंकि वे कार्य लौकिक व्यवहार निभासे में उपयोगी हैं और लौकिक व्यवहार परंपरा से भगवद्-भजन में उपयोगी रहे हैं, इस कारण इन्हें निषा लेना चाहिए, यह अर्थ है। और क्या-क्या और कितना कहें ? अतः आचार्यचरण संक्षेप में केवल “और अधिक क्या कहें ?” इतना ही कह रहे हैं । “इन कर्मों से मेरा कल्याण नहीं होगा किंतु इन कर्मों को करने की आज्ञा स्वयं भगवान ने ही दी है अतः इन्हें उनकी आज्ञानुसार करने पर वे प्रसन्न होंगे और मेरे रक्षक होंगे” ऐसी भावना करनी चाहिए, यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने शरणं भावयेत् हरिम् इत्यादि शब्द कहे हैं ॥ १६ ॥

नन्याश्रयनिरूपणेऽन्यस्य भजनवर्जनादिकं किमित्युक्तिमत्याशङ्क्याहुरेवमाश्रयणमिति ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भत्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्वैष्णवानरथीबल्लभाचार्यचरणविरचितो

विवेकवैर्याश्रयः सम्पूर्णः ।

“यावदन्याश्रयस्तावद्गवानपि तं जनम् । आलोकयेन कृपया, अनन्यजनवत्सल” इति प्रह्लादवाक्यात् । अन्यभजने सम्यगाश्रयणमेव न सिद्धयेदिति तदभावस्याङ्गतात् प्रथमाधिकाररूपत्वात् । अनेन प्रकारेण साङ्गमाश्रयणमेव प्रोक्तं तत्सर्वेषां वर्णानामाश्रमाणां च सर्वकालं सुखकारि ।

परंतु कोई पूर्वपक्षी नो प्रथ ए छे के तमारा आश्रयना निरूपणमां अन्य देवो नां भजननो त्याग केम आवश्यक छे ? आवी शंका थाय तो आचार्यरणों वेवमाश्रयाणं वगेरे शब्दोथी तेनुं समाधान करी रह्या छे।

प्रह्लादाल्लना “ज्यां सुधी अन्याश्रय होम छे, त्यां सुधी भगवान पश तेना पर इपादृष्टि नहीं करता केमें ते अनन्यजनोने स्नेह करे छे”, आ वाक्यानुसार अन्य देवोनुं भजन करवाथी पुष्टिप्रभुनो आश्रय सुचाड़ी रीते दढ नथी थक्तो केमें अन्याश्रय न कर्यो ते आश्रयनुं भूमिभूत अंग छे अने तेनाथी भगवद्भजन नो प्रथम अधिकार प्राम थाय छे। आ प्रकारथी आचार्यरणोंचे अंगसहित “आश्रय” नुं निरूपण कर्यु छे ने समस्त वर्णों (वाक्याण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) अने समस्त आश्रमो (प्रस्तर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) भाटे सर्वदा सुभकारी छे।

परंतु किसी पूर्वपक्षी का प्रश्न यह है कि आपके आश्रय के निरूपण में अन्य देवताओं के भजन का त्याग क्यों आवश्यक है ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण एवमाश्रयण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

प्रल्हादजी के “जब तक अन्याश्रय होता है, तब तक भगवान भी उस पर कृपादृष्टि नहीं करते हैं क्योंकि वे अनन्यजनों से स्नेह करते हैं” इस वाक्यानुसार अन्य देवताओं का भजन करने से पुष्टिप्रभु का आश्रय भर्तीभाँतिपूर्वक दूढ नहीं हो पाता क्योंकि अन्याश्रय न करना आश्रय का मूलभूत अंग है एवं इसी से भगवत्भजन का प्रथम अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने अंगसहित ‘आश्रय’

का निरूपण किया है जो समस्त वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं समस्त आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास के लिए सर्वदा सुखकारी है ।

ननु मुख्या भक्तिः कुतो नोच्यत इति आशङ्क्य, “प्रायेणाल्पायुपः सूत कलावस्मिन्युगे जनाः । मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभारया स्फुपद्गुता” इति कलावेताहाशा जनाः किं साधयेयुः ? अशक्योपदेशो वाऽनापत्वं स्यात् । इत्येवमाश्रये क्रियमाणे भगवान्कृपया भक्तिमपि दास्यतीत्यशयेनाहुः कलौ भक्त्यादिमार्गा द्विदुषाश्च इति मे मतिरिति । भक्तिरादिर्येषां ते भक्त्यादयः । तेन च ते मार्गाश्र भक्त्यादिमार्गाः । प्रावाहिकभक्तिमार्गो मर्यादाभक्तिमार्गः पुष्टिभक्तिमार्गश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विवेकधैर्यश्रव्याणां विवृतिः कृतिशर्मणे ।

श्रीगोविन्दसुतेनोक्ता गोकुलोत्सवसूरिणा ॥

इति श्रीमद्भूमनन्दनचरणैकतानश्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवेकधैर्यश्रव्यविवृतिः सम्पूर्णा ।

अहीं एक शंका ऐ थाय छे के, मुख्य तो भक्ति ज छे तो पछी तमे केवण आश्रय भाटे ज केम कहुं ? भक्ति भाटे केम नहीं ? जे आ शंका छे तो समझे के, “हे सूतल ! आ कलियुगमां आयुध ओहुं थथुं छे. लोको आणसु थई गयां छे. भाष्य तो भंड ज छे अने बुद्धि पड़ा भंड छे, आज कासणे तेच्यो अनेक बाधाओयी घेरायेलां रहे छे (श्री. भा. १/१/१०)”, आ वाड्य ने अनुसार कलियुगमां आवा ल्लो शुं साधन करी शडे छे ? आवायोने जे असंभव उपदेश करवामां आये तो व्यर्थ छे. तेथी आ प्रकारे आश्रय करवाथी भगवान कूपार्पूर्ख भक्ति पषा आपी दे छे, आज आश्रथी आचार्यराणोचे “कलियुगमां भक्ति-पर्येरे मार्गो धणां कठिन छे, आ भारी मति छे”, अम कहुं छे. जे मार्गो मां मुख्यता भक्तिनी ज छे ते मार्गो भक्त्यादिमार्गः शब्दोथी कहां छे. आ मार्गो-प्रावाहिक-भक्तिमार्ग, मर्यादा-भक्तिमार्ग अने पुष्टिभक्तिमार्ग- आ प्रकारे छे, तेवो अर्थ छे ॥ १७ ॥

श्रीगोविन्दसुत “पंडित गोकुलोत्सव” द्वारा ल्लोना कल्याणभाटे “विवेकधैर्यश्रव्य” नी विवृति करवामां आवी ।

आ, श्रीभद्रवश्वभन्दन (श्रीगुरुसार्वत) ना चरणोमां एकनिष्ठ श्रीगोविन्दरायात्मज श्रीगोकुलोत्सव द्वारा विरचित “विवेकधैर्यश्रव्य” नी विवृति संपूर्ण थर्थः.

श्रीकृष्णापैषामस्तु

यहाँ एक शंका यह होती है कि, मुख्य तो भक्ति ही है तो फिर आपने केवल आश्रय के लिए ही क्यों कहा ? भक्ति के लिए क्यों नहीं ? यदि ये शंका हो तो समझिए कि “हे सूतली ! इस कलियुग में आयु कम हो गई है । लोग आसली हो गये हैं । भाष्य तो मंद ही है बुद्धि भी मंद है, इसी कारण वे अनेकविध बाधाओं से घिरे रहते हैं (श्री. भा. १/१/१०)” इस वाक्य के अनुसार कलियुग में ऐसे जीव क्या साधन कर सकते हैं ? ऐसों को यदि असंभव उपदेश कर दिया जाय तो व्यर्थ है । अतः इस प्रकार आश्रय करने पर भगवान कूपार्पूर्ख भक्ति भी दे देते हैं, इस आश्रय से आचार्यराणों ने “कलियुग में भक्ति-आदि मार्ग बडे कठिन हैं, यह मेरी मति है” यह कहा है । जिन मार्गों में मुख्यता भक्ति की ही है वे मार्ग भक्त्यादिमार्गः शब्द से कहे गये हैं । ये मार्ग प्रावाहिक-भक्तिमार्ग, मर्यादा-भक्तिमार्ग एवं पुष्टिभक्तिमार्ग इस प्रकार से हैं, यह अर्थ है ॥ १७ ॥

श्रीगोविन्दसुत ‘पंडितगोकुलोत्सव’ के द्वारा जीवों के कल्याण के लिए ‘विवेकधैर्यश्रव्य’ की विवृति की गई ॥

यह, श्रीमद्-चहूभन्दन (श्रीगुरुसार्वत) के चरणों में एकनिष्ठ श्रीगोविन्दरायात्मज श्रीगोकुलोत्सव द्वारा विरचित ‘विवेकधैर्यश्रव्य’ की विवृति संपूर्ण हुई ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
 श्रीगोपीजनवहुभाय नमः ।
 श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
 श्रीद्वैशानरावतारश्रीमद्भूभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीश्यामलसुतश्रीब्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

४४४४४४

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद्गुलाधिष्ठे ।
 स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्भयं प्रसीदतु ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गोभेत्किर्मार्गस्य च सम्प्रकृपश्चित्तचेपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं विमृश्य तत्रासमर्थनामर्थे सङ्क्षेपेण ‘जगन्नाथे विद्वले चेऽत्योक्तं प्रपत्तिमार्गं हृदि सिद्धबत्कृत्वेदानीं तं प्रपञ्चविष्यन्तस्तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वत्र बोधयिष्यन्तो विवेकधैर्याश्यामाश्रयस्य सिद्धिं बोधयितुं तत्साधने विवेकधैर्ये रक्षितुं नियुजन्ति, तद्रक्षणस्यावश्यकत्वं वा बोधयन्ति । विवेकेत्यादि ।

जेमनी प्राप्ति भावत्थी निश्चित् थाय गोकुलाधीशमां रति,
 ते श्रीभद्राचार्यचरणेऽक्षमलोनी रेणुं थाय भारा भर प्रसन्न ॥ १ ॥

श्रीभद्राचार्यचरणेऽत्र जेमे निर्बन्धमां वैदिक कर्ममार्गं, ज्ञानमार्गं अने भक्तिभाग्ने विस्तारपूर्वक समन्वयां छे छतां पशु कलिकालमां आ बधां मार्गों प्राप्त करवां भुक्तेल छे- आ विचार करीने आपक्षी आ मार्गोंने प्राप्त करवा भाटे जेमो असमर्थ छे, तेवा जुपो भाटे संक्षेपमां “जगन्नाथलमां, पंढरपुर-विद्वलनाथशु वरेते स्थलों पर-ज्यां पूजा प्रवाह हीय त्यां रहेवुं ज्ञेईये. (सर्व/२५९)” आ श्लोकमां कहेला प्रपत्ति भार्ग (शरणांगतिनो भार्ग) ने हृष्टयमां धारण करी हुए विस्तारपूर्वक कही रह्या छे. आचार्यचरणो आ शरणमाग्ने उपर्युक्त त्रिष्टुप भार्गोनो उपकारी भतावता अने विवेक-धैर्य द्वारा आश्रयनी सिद्धि भतावता भाटे आश्रयना मूलभूत अंग विवेक अने धैर्यनुं रक्षण भतावी रह्या छे अथवा तेमनी आवश्यकता “विवेक” वर्गेरे शब्दोथी कही रह्या छे.

जिनकी प्राप्ति होने मात्र से निश्चय हीं गोकुलाधीश-भगवान में प्रेम हो जाता है,
 ऐसे श्रीमदाचार्यचरणकमल की रेणु मुझ पर प्रसन्न हो ॥ १ ॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने यद्यपि ‘निबंध’ में वैदिक कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग को विस्तारपूर्वक समझाया है तथापि कलिकाल में ये सभी मार्ग प्राप्त करने कठिन हैं-यह विचार कर अब वे इन मार्गों को प्राप्त करने के लिए जो असमर्थ हैं, ऐसे जीवों के लिए संक्षेप में “जगन्नाथजी में, पंढरपुर-विद्वलनाथी इत्यादि स्थलों पर जहाँ-जहाँ पूजाप्रवाह हो, वहाँ रहना चाहिए (सर्व. /२५९)” इस श्लोक में कहा गया प्रपत्तिमार्ग शरणांगति का मार्ग हृदय में धारण करके इस समय विस्तारपूर्वक कह रहे हैं । आचार्यचरण इस शरणमार्ग को उपर्युक्त तीनों मार्गों का उपकारी बताते हुए और विवेक-धैर्य के द्वारा आश्रय की सिद्धि बताने के लिए आश्रय के मूलभूत अंग विवेक और धैर्य का रक्षण बता रहे हैं अथवा इनकी आवश्यकता “विवेक” इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सततं निरतं रक्षणीये इति पैषे प्राप्तकाले वा अनीयस्तेन निवोग आवश्यकत्वं समअसम् । रक्षणे नैरन्तर्योत्त्या आश्रयोन्तरमपि तद्रक्षणावश्यकत्वं बोध्यते । रक्षणशात्र तत्त्वाशक्तिवारणेन तत्पोषणम् । एतदेव साम्प्रदायिकैः स्वीकारत्वेन तदनुसन्धानपूर्वकतदनुकूलाकृतिकरणत्वेन च बोधितम् । तेन च फलमाहुस्तथाश्रय इति । तथाकृते आश्रयः सिद्ध्येदित्यर्थः । यद्वा, ते तथा तेन प्रकारेण रक्षणीये यथा आश्रय सिद्ध्येदित्यर्थः ।

ज्ञानकी प्रथम पंक्तिनो अर्थ ए छे के भूत, भविष्य अने वर्तमान त्रियोग कालोमां विवेक अने धैर्यनी रक्षा करवी ज्ञेयचे. आनाथी ए समन्बन्ध छे के विवेक-धैर्य त्रियोग कालोने ज्ञायेलां छे अने आवश्यक छे. अही विवेक-धैर्य नी निरंतर रक्षा करवानु कह्यु छे, ऐनाथी ए समन्बन्ध छे के भगवदाश्रय सिद्ध थथा पषी पण ते तेवाज आवश्यक छे, जेवा पहेला हता. ऐमनी रक्षा करवानु तात्पर्य छे-तेमने नष्ट करवावाणा पदार्थोनु निवारण कर्वु अने तेमनुं पोषण कर्वु. अन्य सांप्रदायिक विद्वानोचे पण आज मत स्वीकार्यो छे, तेथी रक्षण करवानो अर्थ छे-विवेकधैर्य अनुसंधान राखता भगवानने अनुकूल कार्य कर्वु, आ अर्थ छे. आवुं करवाथी शुं इण प्राप्त थशे? आ आचार्ययरणोचे तथाश्रय शब्दही कह्यु छे. आवुं करवाथी भगवदाश्रय सिद्ध थथे, तेवो अर्थ छे. अथवा ऐम अर्थ करी लेईचे के विवेक-धैर्यनी ते प्रकारे रक्षा करवी ज्ञेयचे के “आश्रय” सिद्ध थई ज्य, आ अर्थ छे.

श्लोक की प्रथम पंक्ति का अर्थ यह है कि, भूत-भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में विवेक एवं धैर्य की रक्षा करनी चाहिए। इससे यह ज्ञात होता है कि विवेक-धैर्य तीनों कालों से जुड़े हुए हैं एवं आवश्यक हैं। यहाँ विवेक-धैर्य की निरंतर रक्षा करनी कही गई है, इससे यह ज्ञात होता है कि भगवदाश्रय सिद्ध होने के बाद भी ये वैसे ही आवश्यक हैं, जैसे पहले थे। इनकी रक्षा करने का तात्पर्य है-इनको नष्ट करने वाले पदार्थों का निवारण करना एवं इनका पोषण करना। अन्य सांप्रदायिक विद्वानों ने भी यही मत स्वीकार किया है अतः रक्षण करने का अर्थ है-विवेक-धैर्य का अनुसंधान खोते हुए भगवान के अनुकूल कार्य करना, यह वेधित होता है। ऐसा करने का क्या फल प्राप्त होगा? यह आचार्यचरणों ने तथाश्रय शब्द से बताया है। ऐसा करने से भगवद्-आश्रय सिद्ध होगा, यह अर्थ है। अथवा यों अर्थ कर लें कि विवेक-धैर्य की उस प्रकार से रक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार से ‘आश्रय’ सिद्ध हो जाय, यह अर्थ है।

यत्तदोन्तिसम्बन्धात् क्रियामात्रस्यैवायाहारः। आश्रये क्रियासम्बन्धस्य कण्ठतोऽनुज्ञा पृथगुपादानेन च स्वकृत्यसायत्वं तुष्ट्रभुदानसाध्यत्वं ज्ञाप्यते। “सोऽहं तवाद्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तत्पाय्हं भवदनुग्रहीमाश्रमन्य” इत्यक्षुरस्तुतौ सुवोधिन्यां तथा प्रपञ्चनात्।

“थथा” अने “तथा” नो नित्य संबंध होवाथी अही केवण क्रियानो ज अध्याहार कर्यो छे. (ज्ञाणीलो के यदा-तदा, यत्-तत्, थथा-तथा वगेरे शब्दोनो संबंध नित्य होय छे. उदा. माटे ऐम क्लेवाय के, “ज्यारे सूर्योदैव्य थशे त्यारे अज्ञवाणु थशे”, आ वाक्यमां “ज्यारे” शब्दही साथे “त्यारे” शब्दहो ज्ञायेलो छे, नहीं तो वाक्य न बनी शके. आ प्रकारे श्री. भ. गी. ना “यदा यदा हि धर्मस्य (४/७)”. श्लोकने ध्यानाथी ज्ञेयचे तो अभर पडेहो के अही पण “यदा” अने “तदा” परस्पर ज्ञायेला छे. क्लेवानो अर्थ ए छे के ज्ञे आ भेमांशी कोई एक नो पण प्रयोग करी देवामां आवे तो ते भीज पठने आपोआप ऐची लक्ष आवशी, तेने इरीथी लभवाणी जड़र रहेती नथी, तेभे तेमानामां नित्यसंबंध होय छे. आज वातने ध्यानामां राखीने हवे टीकाकार नी पंक्तिने समन्बन्धानो प्रयत्न करो. सर्वप्रथम भूमङ्गलोकानी पंक्तिनो अर्थ समझो. “विवेक-धैर्य....तथाश्रयः” नो अर्थ छे-विवेक धैर्यनी सदा रक्षा करवी ज्ञेयचे, तेवी रिते आश्रयनी पण. आ गंक्तिने ध्यानाथी वांचशो तो समलशो के अही “लेभ” शब्द छुपायेलो छे. तेथी स्पष्ट अर्थ ऐम थशे के, नेम विवेक धैर्यनी रक्षा करवी ज्ञेयचे, तेम आश्रयनी पण रक्षा करवी ज्ञेयचे. आ अर्थ भाटे टीकाकार कही रख्या छे के केम्के “लेभ” अने “तेभ” नो परस्पर नित्य संबंध होय ज छे तेथी आचार्ययरणोचे ते प्रकारे लक्ष्य नथी, आपाणो ज्ञेय लेवुं ज्ञेयचे. परंतु एक वात ए पण छे के, विवेक-धैर्य भाटे तो कह्यु छे के रक्षा करवी ज्ञेयचे परंतु आश्रयनी लेडे “२क्षणीयः” पद ज्ञेय नथी. तो टीकाकार कहे छे के ते आपाणो ज्ञेय लेवुं ज्ञेयचे. आने ज “अध्याहार” करवो कहे छे.) “आश्रय” ने भाटे तो कोई क्रियानो प्रयोग नथी कर्यो भाटे अध्याहार करवाथी समन्बन्ध छे के भगवद्-आश्रय स्वयं लुप्त द्वारा साध्य नथी, ते तो भगवद्कृपाथी ज सिद्ध थशे. (टीकाकारे अही धाणी सुन्दर वात कही छे. तेओं कहे छे के आचार्ययरणोचे विवेक-धैर्य भाटे तो “२क्षणीयः” पदनो प्रयोग कर्यो छे. जेनो अर्थ छे-लुप्त विवेक-धैर्यनी रक्षा करवी ज्ञेयचे परंतु आश्रयनी साथे “२क्षणीयः” पदनो प्रयोग नथी कर्यो. आनो गूढार्थ ए थाय छे के - जे भगवद्-आश्रय सिद्ध करवानु सामर्थ्य लुप्तां होत तो आचार्ययरणो चोक्स “आश्रय” नी लेडे पण “२क्षणीयः” पद ज्ञेहता पण ते तो आपाणी शक्ति नी भहार छे अने केवण भगवद्कृपाथीज सिद्ध थई शके छे तेथी आचार्ययरणोचे केवण विवेक-धैर्यनी लेडे ज “२क्षणीयः” पद वापर्यु छे, आश्रयनी लेडे नहीं - आ अर्थ छे.) ज्यारे प्रबु लुक्थी संतुष्ट थाय त्यारे स्वयंज आश्रय सिद्ध करावी देशे, आ समन्बन्ध छे. सुवोधिनीमां “हुं आपना चरणकम्लोमां आवी गयो हुं जे दुष्टो भाटे दुर्लभ

छे. हे प्रभु ! हुं आने आपनी कृपा मानुं छुं. (श्री. भा. १०/४०/२८)" आ अकुरल द्वारा करेती स्तुतिना विस्तारमां आचार्यरसरणेष्वे पाणि आज कहुं छे.

'यथा' और 'तथा' का नित्य संबंध होने के कारण यहाँ केवल क्रिया का ही अध्याहार किया गया है। जानना चाहिए कि यदा-तदा, यत्-तत्, यथा-तथा इत्यादि शब्दों का संबंध नित्य होता है। उदा. के लिए जैसे कहा जाय कि "जब सूर्योदय होगा, तब उजाला होगा"। इस बाक्य में 'जब' शब्द के संग 'तब' शब्द तो जुड़ा हुआ ही है, अन्यथा बाक्य नहीं बन पायेगा। इसी प्रकार भ. गी. के 'यदा-यदा हि धर्मस्य (४/७)' श्लोक को ध्यान से देखेंगे तो पता चलेगा कि यहाँ भी 'यदा' एवं 'तदा' परस्पर जुड़े हुए हैं। कहने का तात्पर्य यह कि, यदि इन दोनों में से किसी एक पद का भी प्रयोग कर दिया जाय तो वह दूसरे पद को अपने आप खींच कर ले आएगा, उसे पुः लिखने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि उम्में नित्य संबंध रहता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए अब टीकाकार की पंक्ति को समझने का प्रयत्न करें। सर्वप्रथम मूलश्लोक की पंक्ति का अर्थ समझें। विवेक-धैर्य.....तथाश्रयः का अर्थ है - विवेक-धैर्य की सतत रक्षा करनी चाहिए, वैसे ही आश्रय की भी। इस पंक्ति को ध्यान से पढ़ेंगे तो ज्ञात होगा कि यहाँ 'जैसे' शब्द लुप्ता हुआ है। अतः स्पष्ट अर्थ यह होगा कि-जैसे विवेक-धैर्य की रक्षा करनी चाहिए, वैसे आश्रय की भी रक्षा करनी चाहिए। इस अर्थ के लिए टीकाकार कह रहे हैं कि चौकिं 'जैसे' और 'वैसे' का परस्पर नित्य संबंध होता ही है अतः आचार्यचरणों ने उस प्रकार से नहीं लिखा है पर हमें स्वयं ही जान लेना चाहिए। परंतु एक बात और भी है कि, विवेक-धैर्य के लिए तो कहा है कि रक्षा करनी चाहिए परंतु आश्रय के साथ 'रक्षणीय' पद नहीं जोड़ा गया है। तो टीकाकार कह रहे हैं कि वो हमें जोड़ लेना चाहिए। इसी को 'अध्याहार' करना कहते हैं। 'आश्रय' के लिए तो किसी क्रिया का प्रयोग नहीं हुआ है अतः अध्याहार करने से यह ज्ञात होता है कि भगवद्-आश्रय स्वयं जीव के द्वारा साध्य नहीं है, वह तो भगवत्कृपा से ही सिद्ध होगा। टीकाकार ने यहाँ बड़ी सुंदर बात कही है। वे कहते हैं कि आचार्यचरणों ने विवेक-धैर्य के लिए तो 'रक्षणीय' पद का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है - जीव को विवेक-धैर्य की रक्षा करनी चाहिए परंतु आश्रय के संग 'रक्षणीय' पद का प्रयोग नहीं किया है। इसका गूढ़ार्थ यह निकलता है कि, यदि भगवद्-आश्रय सिद्ध करने की यदि जीव में सामर्थ्य होती तब तो आचार्यचरण अवश्य ही 'आश्रय' के संग में भी 'रक्षणीयः' पद जोड़ते परंतु वह तो हमारे बलबूते के बाहर है एवं केवल भगवत्कृपा से ही सिद्ध हो सकता है अतः आचार्यचरणों ने केवल विवेक-धैर्य के संग ही 'रक्षणीयः' पद का प्रयोग किया है, आश्रय के संग नहीं, यह अर्थ है। जब प्रभु जीव से संतुष्ट होंगे तब स्वयं ही आश्रय सिद्ध करवा देंगे, यह ज्ञात होता है। सुवैधिनी में 'मैं आपके चरणकर्मतों में आ पहुँचा हूँ जो दुश्मों के लिए दुर्लभ हैं। हे प्रभु ! मैं इसे आपकी कृपा मानता हूँ (श्री. भा. १०/४०/२८)" इस अक्रूरजी के द्वारा की गई स्तुति के विस्तार में आचार्यचरणों ने भी यही कहा है।

अत्र साम्प्रदायिकाः। अयाहारपेक्ष्याऽनुपदङ्गस्य वचनविपरिणामस्य च लघुत्वात्तथा आश्रयो रक्षणीय इत्येवं योजनं ज्यायो मत्वा केचन त्रयाणां दण्डकादिन्यायेन भक्त्युपायत्वसामान्यात् समप्राधान्यं रोचयन्ते। केचन पूर्वयोरेकपदेन कथनात् तृतीयस्य पृथग्वोपादानात्पूर्वोरुत्तरहेतुत्वं युक्तमुत्पदयन्ति। केचन त्रयाणां क्रमेणोक्ते: सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्व विवेक आवश्यकस्तो धैर्यम्, आश्रयस्तूभ्यनिर्बोहक इति तात्पर्य प्रकाशयन्ति। यद्यप्येवं मतत्रयमप्युपन्नं, तथापि, समाप्तावाश्रयस्य फलसम्बन्धयोग्यनात् स्वस्याभिसंहितस्त्वेणाश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनाचायाहरेण योजनाप्यदृष्टे।

कोई अन्य संप्रदायिक विद्वानो आ पंक्तिनो जुही रीते अर्थ करे छे. तेथो कहे छे के अध्याहार करवानी पद्धतिनी तुलनात्मा, कोई शब्दनो गौण अर्थ लेवानी पद्धति अनेवाक्यनो बीजे अर्थ करवानी पद्धतिनी भलता ओछी छे तेथी "विवेक-धैर्य नी ज्वेभ आश्रय पाणि रक्षणीय छे" आज अर्थ ने श्रेष्ठ भानीने तेथो विवेक-धैर्य-आश्रय नाणेयने दुष्टयकादि न्याय थी (आ एक न्याय छे ज्वे समानता भताववा भाटे प्रयोगभां लाववामां आवे छे. भाटीना घडाने भनाववा भाटे चाक्कु, दंड, भाटी, ऊभार आ भधानी समान रीते बज्जर होय छे. आभांधी कोई एक पाणि वस्तु न होय तो घडो नथी भनी शक्तो. तेथी ज्यां कोई वस्तुओंनी समान आवश्यकता भताववी होय त्यां आ न्याय ने वापरवामां आवे छे. अहीं विवेक-धैर्य-आश्रय नाणेयनी समानता भताववा भाटे आ न्यायनो प्रयोग झर्ने छे.) भक्तिना ज्वेवोज उपाय भतावी तेमनी एक सरभी प्रधानता भतावे छे. कोई विद्वानोनी दृष्टिमां एम छे के, केमके विवेक अने धैर्य एक साथे प्रयुक्त थयां छे अने आश्रय अलग थी, तेथी विवेक अने धैर्य बने आश्रय सिद्ध करवानां कारणो छे. कोई विद्वानोनुं भानवुं एम छे के, केमके नाणेयने फलवार क्खां छे, तेथी एम समज्वाल ज्वेईचे के भगवत् सेवामां प्रवृत्त थवा वाणा ल्पने सर्व प्रथम "विवेक" थवो ज्वरी छे. ऐना पछी "धैर्य" अने

‘आश्रय’ आ बने पछी सिद्ध थाये हे. जे के आ त्रिशेष भतो उचित हे छतां पशु ग्रंथ सभामिभां “‘आश्रय’” नेज भुज्य इण बंताव्यो हे, तेथी पोत पोतानी पद्धतिथी आश्रयनीज भुज्यता सिद्ध थवाने कारणे अध्याहार वाणी योजना पशु उचित हे.

कुछ अन्य सांप्रदायिक विद्वान् इस पक्ति का कुछ भिन्न रीति से भी अर्थ करते हैं। वे कहते हैं कि अध्याहार करने की पद्धति की तुलना में, किसी शब्द का गौण-अर्थ लेने की पद्धति और वाक्य का दूसरा अर्थ करने की महता कम है अतः “विवेक-धैर्य की तरह आश्रय भी रक्षणीय है” इसी अर्थ को श्रेष्ठ मान कर वे विवेक-धैर्य-आश्रय तीनों को दण्डकारादि-न्याय से यह एक न्याय है जो समानता बताने के लिए प्रयोग किया जाता है। मिट्टी के घडे को बनाने के लिए चाक, दण्ड, मिट्टी, कुम्हार इन सभी की समान रूप से आवश्यकता होती है। इनमें से किसी भी एक वस्तु के न रहने पर घडा नहीं बन सकता। अतः जहाँ कुछ वस्तुओं की समान आवश्यकता बतानी हो, वहाँ इस न्याय का प्रयोग किया जाता है। यहाँ विवेक-धैर्य-आश्रय तीनों की समान आवश्यकता बताने के लिए इस न्याय का प्रयोग किया गया है भक्ति के समान उपाय बता कर इनकी एक समान प्रधानता बताते हैं। कुछ विद्वानों की दृष्टि में ऐसा है कि, चूँकि विवेक एवं धैर्य एक साथ प्रयुक्त हुए हैं और आश्रय अलग से; अतः विवेक और धैर्य दोनों आश्रय सिद्ध करने के हेतु हैं। कुछ विद्वानों का मानना ऐसा है कि, चूँकि ये तीनों क्रम से कहे गये हैं अतः यह समझना चाहिए कि भगवत्सेवा में ग्रवृत्त होने वाले जीव को सर्वग्रथम ‘विवेक’ होना आवश्यक है। इसके पश्चात् ‘धैर्य’; और ‘आश्रय’ इन दोनों के पश्चात् सिद्ध होता है। यद्यपि ये तीनों मत उचित ही हैं तथापि इस ग्रंथ की समाप्ति में ‘आश्रय’ को ही मुख्यफल बताया गया है अतः अपनी-अपनी पद्धति से आश्रय की ही मुख्यता सिद्ध होने के कारण अध्याहार वाली योजना भी उचित है।

न च गौरवं शङ्खनीयम् । तत्पश्चेत्पुङ्क्षविपरिणामपोद्विरोऽङ्गीकरणं तौल्यात् । किञ्चिं “पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे” ति नामापि पुष्टार्थं भवति । अन्यथा तु निवन्धे सङ्केषणे निस्पृष्टात्मुनोधिन्यामप्यन्योपत्तेन कवित् सङ्कीर्णत्वात्तत्र तत्र किञ्चित् कथनेन विप्रकीर्णत्वाच्च ‘पृथक्’ पदमपुष्टार्थं स्यात् । न चैवं सति भज्यङ्गत्वभङ्गात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निस्पृष्टं विस्त्रयेतेतिवाच्यम् । उपकारकत्वेन गौण्यापि तत्सम्भवात् ।

भारी अध्याहार वाणी योजनाने पशु हुं उचित कही रहो छुं, ऐनो अर्थ ए नथी के “पूर्व टीकाकारो नो पक्ष अनुचित हे” ऐवी शंका करवामां आवे. केम्डे ऐमना भतमां पशु भले नेडे जेडे कहो के परिषामङ्गपथी, भुज्यता तो आश्रयनीज सिद्ध थाय हे, तेथी भारा अने तेभना भत सभान ४ हे. अने, आचार्यचरणोनुं “भिन्न प्रकारना शरणमार्गनो उपदेश करवावाणा” (सर्वोत्तम २५), आ नाम पशु आश्रय नी ४ भुज्यता सिद्ध करे हे. नहीं तो आचार्यचरणोभे आश्रयनुं निःपृष्ठा निवन्धमां संक्षिप्तमेके करेलुं ज छे, सुबोधिनीमां पशु वध्या-धट्या नी रीते के क्षांक-क्षांक संक्षिप्तपथी तो क्षांक अर्ही-तर्ही विभरायेली रीते आश्रयनुं निःपृष्ठा करेलुं ज छे तेथी ले तेओये त्यां संपूर्णदृष्टे आश्रयनुं निःपृष्ठा करी दीदुं होत तो पछी आचार्यचरणोनुं सर्वोत्तमां कहेलुं “पृथक्कृप थी शरण भार्ग नो उपदेश करवावाणा”, आ नाम तो व्यर्थ ज थर्थ जतुं. तेथी सिद्ध थाय हे के, अर्ही आचार्यचरणोभे भिन्नपथी अने भुज्यकृपथी आश्रयनुं निःपृष्ठा कर्मु छे. परंतु ऐनाथी ए नहीं समझ लेवानुं के निवन्ध अने सुबोधिनी वरेतेमां भतावेलो शरणमार्गं अर्ही भतावेलो शरणमार्गं अर्ही अलग हे. केम्डे भलेने त्यां आश्रयनी यर्था गौण्यकृपथी थर्थ हे परंतु तेम छतां ते शरणमार्गने सिद्ध करवा भां उपकारी तो हे ४.

मेरी अध्याहार वाली योजना को भी मैं उचित कह रहा हूँ, इसका अर्थ ये नहीं है कि ‘पूर्व टीकाकारों का पक्ष अनुचित है’ ऐसी शंका कर ली जाय। क्योंकि उनके मत में भी चाहे संग-संग कह लो या परिणामरूप से; मुख्यता तो आश्रय की ही सिद्ध होती है। अतः मेरे और उनके मत समान ही हैं। और भी, आचार्यचरणों का “भिन्न प्रकार के शरणमार्ग का उपदेश करने वाले (सर्वो./ २५)” यह नाम भी आश्रय की ही मुख्यता सिद्ध करता है। अन्यथा तो आचार्यचरणों ने आश्रय का निरूपण निवन्ध में संक्षिप्तरूप से किया ही है, सुबोधिनी में भी बचे-खुचे तरीके से और कहीं-कहीं संक्षिप्तरूप से तो कहीं यहाँ-वहाँ विखरे हुप तरीके से आश्रय का निरूपण किया ही है अतः यदि उहोने वहीं संपूर्णरूप से आश्रय का निरूपण कर दिया होता तो फिर आचार्यचरणों का सर्वोत्तम में कहा गया “पृथकरूप से शरण मार्ग का उपदेश करनेवाले” यह नाम तो व्यर्थ ही हो जाता। अतः सिद्ध होता है कि, यहाँ आचार्यचरणों ने भिन्न रूप से एवं मुख्यरूप से आश्रय का निरूपण किया है। परंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि निवन्ध और सुबोधिनी आदि मैं बताया गया शरणमार्ग यहाँ बताए गये शरणमार्ग से अलग है। क्योंकि भले ही वहाँ आश्रय की चर्चा गौणरूप से दुई है परंतु फिर भी वह शरणमार्ग को सिद्ध करने में उपकारी तो है ही।

किञ्चायं शरणमार्गो न भक्तिमार्गद्विविक्तः, पुष्टिवाहमर्यादाग्रन्थे पृथक् तदनुक्तेः । किन्तु, प्रवाहादत्यन्तं विविक्तो भगवति स्वस्वामित्वस्य सर्वदानुसन्धानान्मर्यादाया अपि विविक्तः, पुष्टा सङ्कीर्णः । तेन प्रयोजकैव्यात्तत्र मिश्रभेष्टेतन्मिश्रत्वानुकूलत्र च समाप्तावाश्रयकथने “कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाया इति” मार्गर्युःसाय्यत्वस्य हेतुत्वक्यनेनास्य भक्त्यादिमार्गानुकूलत्वबोधनाच्च स्वरूपभेदात् वित्यसजातीयः स्वफलसापेन तत्तदुपकारकश्रेति सिद्ध्यति ।

अने आ शरणमार्गं कोई भक्तिभार्थी अलग नन्दी, उभे पुष्टि-प्रवाह-भर्यादा ग्रंथभां अने लक्षितभार्थी बिज्ञ नन्दी भताव्यो. पशु ए सभले के प्रवाहभार्थी ऐकदम् अलग ध्येते लुप्त भगवानभां पोताना स्वाभित्वन्तु सर्वदा अनुसंधान करवार्थी भर्यादाभार्थी पशु अलग थर्ने पुष्टिभां केंद्रित थर्न जप्त छे. तेथी पुष्टिप्रवाहभर्यादाभेद ग्रंथभां पुष्टि, प्रवाह अने भर्यादाना भिक्षित लेदोभां आश्रयनी चर्चा नन्दी कीर्ती अने अहीं वि. धै. आ. ग्रंथनी समाप्तिभां “कलिकालयां भक्ति वोरे भार्ग धाणां भुक्तेल छे” आ वाक्य द्वारा कर्मभार्ग-ज्ञानभार्ग अने भक्तिभार्ग ने साधवा अत्यंत कठिन भतावाभां आव्यां छे तेथी आश्रयने आ समस्त मार्गों नो अनुकूल्य भताव्यो छे. तेथी स्वरूपभेदशी आश्रय आ त्राईय मार्गोंनो सञ्जातीय छे अने तेमनो सहयोगी पशु सिद्ध थाप्त छे.

और, यह शरणमार्ग कोई भक्तिमार्ग से अलग नहीं है क्योंकि पुष्टिवाहमर्यादा ग्रंथ में इसे भक्तिमार्ग से भिन्न नहीं बताया गया है । किन्तु यह समविए कि प्रवाहमार्ग से नितांत अलग हुआ जीव भगवान में अपने स्वामित्व का सर्वदा अनुसंधान करने से मर्यादामार्ग से भी अलग होकर पुष्टि में केंद्रित हो जाता है । अतः पुष्टिवाहमर्यादामेद ग्रंथ में पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा के मिले-जुले भेदों में आश्रय की चर्चा नहीं की गई है और यहाँ वि. धै. आ. ग्रंथ की समाप्ति में “कलिकाल में भक्ति आदि भार्ग वडे कठिन हैं” इस वाक्य द्वारा कर्ममार्ग-ज्ञानभार्ग एवं भक्तिमार्ग को साधना अत्यंत कठिन बताया गया है अतः आश्रय को इन समस्त मार्गों का अनुकूल्य बताया गया है । अतः स्वरूपभेद से आश्रय इन तीनों मार्गों का सजातीय है एवं इनका सहयोगी भी सिद्ध होता है ।

तत्त्वानुकूलत्वं “नामान्यनन्तरस्य” त्यत्र प्रथमस्कन्धष्ठे प्रपञ्चितम् । यद्यपि, तद्विरक्ताधिकारित्वं तथापि, गीतायाः द्वादशोऽध्याये “अथेतदप्यस्यकोसि कर्तुमुद्योगमाश्रित्वा” इत्यत्र “सर्वधर्मानि” त्यत्र च, गृहस्थमर्जुनं प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वमपि सिद्ध्यति । अनुकूलस्योपकारकत्वं पूर्वतन्त्रसिद्धम् । एतावान्वरं विशेषस्तत्र फलोपकारकत्वं सिद्धमत्र तु स्वरूपोपकारकत्वमप्यस्तीति । तेन येषां यथा भातस्तैस्तथा विवृत इति न कोपि कापि विरोधः ।

“आश्रय” आ त्राईय मार्गोंनो अनुकूल्य छे, आ वात श्रीभद्रभागवतभां “त्यारथी हुं भगवानना अत्यंत रहस्यभय अने भगवत्प्रभ मधुर नाभो अने लीलाओंनु कीर्तन-स्मरण करवा लायो (१/६/२७)” आ वाक्यभां विस्तारधी भतावी छे. ज्ञेते भगवान्तो आश्रय करवाभां संसारधी विरक्त लुप्त अविकारी होप्त छे परंतु भगवद्गीतानां “जे सभाऽ४, परिवार अथवा अन्य वीलु कोई बाधावश तु भारी भक्ति करवाभां अशक्त छे तो भारा पर आश्रित थर्ने समस्त कर्भ कर. (भ. गी. १२/११)” अने “समस्त धर्मो नो त्याग करीने ऐक भारे शरणे आव (भ. गी. १८/६६)” वगेरे वाक्यो द्वारा भगवाने गृहस्थ अर्जुनने पशु आश्रयनो उपदेश आयो छे, तेथी अहीं आश्रय करवाभां गृहस्थोनो पशु अधिकार सिद्ध थाप्त छे. अने ज्ञेभने आश्रय करवाभां अनुकूलता छे तेमना भाटे तो आश्रय उपकारी छे, आ पहेला कहेवायुं छे ४. परंतु अहीं ऐटलु विशेष अवश्य छे के, त्यां ज्ञान-कर्म-भक्ति वगेरे भार्गोभां तो आश्रय उपकारी शरणांगतिकृपी इनने सिद्ध करावी है छे अने अहीं पुष्टिभक्तिभार्थभां तो साक्षात् भगवत्प्रवृद्धपी ग्रामि पशु करावी है छे. तेथी आ पूर्व टीकाकारोने ज्ञेयुं लायुं तेयुं तेमणे ते प्रकारे आश्रयनु विवरण झर्नु. तेथी कोईनो पशु डोर्नाधी श्रीभद्रभागवतम् विवेद नन्दी.

‘आश्रय’ इन तीनों मार्गों का अनुकूल्य है, यह बात श्रीमद्-भगवत में “तभी से मैं भगवान के अत्यंत रहस्यमय एवं मंगलमय मधुर नामों और लीलाओं का कीर्तन-स्मरण करने लगा (१/६/२७)” इस वाक्य में विस्तार रूप से बताई गई है । यद्यपि भगवान का आश्रय करने में संसार से विरक्त जीव ही अधिकारी होते हैं परंतु भगवद्-गीता के “यदि समाज, परिवार या अन्य किसी की बाधावश तू मेरी भक्ति करने में अशक्त है तो मुझ पर आश्रित होकर समस्त कर्म कर (भ. गी. १२/११)” एवं “समस्त धर्मो का त्याग करके एक मेरी शरण में आ (भ. गी. १८/६६)” इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान ने गृहस्थ अर्जुन को भी आश्रय का उपदेश दिया है अतः यहाँ आश्रय करने में गृहस्थों का भी अधिकार सिद्ध होता है । और जिन्हें आश्रय करने में अनुकूलता है, उनके लिए तो आश्रय उपकारी है ही, यह पूर्व में कहा जा चुका

१ अनुकूलस्योपकारकत्वं “अपि शृण्वन् सुभद्राणि” इत्यैवकादप्रपञ्चितम् । २. “अधिकारिकम्” इति पाठः च ।

है। परंतु यहाँ इतना विशेष अवश्य है कि, वहाँ ज्ञान-कर्म-भक्ति इत्यादि मार्गों में तो आश्रय केवल शरणागतिरूपी फल को सिद्ध करा देता है और यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में तो साक्षात् भगवत्स्वरूप की प्राप्ति भी करा देता है। अतः इन पूर्व टीकाकारों को जैसा-जैसा लगा उन्होंने उत्त-उस प्रकार से आश्रय का विवरण किया। सो किसी का भी किसी से कोई विरोध नहीं है।

ननु निबन्धोक्तस्यैवायं विस्तार इति कथं विनिगतन्त्यमिति चेतु, इत्थम्। तत्र पूजाप्रवाहस्य भगवत्साक्षिण्यगमकत्वमुक्त्वा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपत्तिरितमार्गस्वरूपं निष्कृष्टम्। परन्तु, तच्चीरणविष्ट नत्परत्वं न विचारितम्। तद्व एष्यतीति तथा विनिगत्यते। किञ्च, प्रपत्तिपर्दर्थः शरणगमनम्। “कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन, वर्यं त्वां शरणं याम्” इति मागधसरुद्धराजवाक्यसुवोदित्यां प्रपन्नभयनिवारकत्वं तवावश्यकं, “अतो वर्यं प्रपन्ना भवाम्” इत्याहु “वर्यं त्वां शरणं याम्” इति शरणगमनस्य प्रपन्नभवनत्वेन व्याख्यानात्। तच्चात्र स्फुटमतोषि तथेतिविक्ति ।

परंतु अहीं ऐक शंका एव थाथ छे के, निबंधमां भतावेली शरणागति/आश्रयनेत्र अहीं वि. धै. आ. ग्रंथमां विस्तारथी कही रह्या छे - - ऐकेवी रीते भवर पठे ? तो सभलेके निबंधमां तो पूजाप्रवाह वाणा स्थलोने भगवाननुं सान्निध्य प्राप्त करवानुं करवान भतावीने ऐवाज स्थलों पर भगवत्पत्र थर्हेन रहेवानुं कहुं छे अने शरणागतिल आ भाग्ननुं स्वदृप छे - आ सार काढ्यो छे। परंतु आपइनुं शरीर भगवत्स्वरूपमां प्रविष्ट थर्ही लथ अध्यवा भगवत्परायाश थर्ही लथ-ऐनो विचार नथी कर्यों। ते विचार अहीं कर्यों छे तेथी ए सभलय छे के निबंधमां कहेली शरणागति ने ल विस्तारस्त्रियर्थी अहीं कहेवाई रही छे। अने प्रपत्तिनो अर्थ थाथ छे - शरणांगति, “हे इष्टश ! ले आपनी शरणमां आवे छे, तेना आप बधाज भयोनो नाश करो छो (श्री. भा. १०/३०/२५)” आ वाक्यमां वरासंध द्वारा भंडी जनावेला राजलभोजे भगवानने प्रार्थना करी छे। आ वाक्यनी सुबोधिनीभां; केम्हे शरणागतोना भयनुं निवारण भगवान भाटे ज़री छे, तेथी “अमे आपने शरणागत थया छीयो” “अमे तभारी शरणमां आव्या छीयो”, वगेरे वाक्योदी आवार्थयरशुओ शरणागतोनेत्र प्रपन्न थयेला लिवोना अर्थमां व्याख्यायित कर्यों छे। आज वात अहीं पशु स्फुट थर्ही छे, आज कारणार्थी पशु अमे प्रपत्तिनो अर्थ शरणागति कही रह्या छीयो। तो अहीं दिशा स्पष्ट थर्ही गर्ह छे।

परंतु यहाँ एक जंका यह होनी है कि, निबंध में ब्राह्मी गई शरणागति/आश्रय को ही यहाँ वि. धै. आ. ग्रंथ में विस्तार रूप से कहा जा रहा है-यह कैरे पना चले ? तो यमद्विषए कि निबंध में तो पूजाप्रवाह वाले स्थलों को भगवान की सन्तिधि प्राप्त करने का कारण बताकर ऐसे ही स्थलों पर भगवत्पत्र होकर रहना कहा गया है और शरणागति ही इस मार्ग का स्वरूप है-यह सार निकाला गया है। परंतु हमारी देव भगवत्स्वरूप में प्रविष्ट हीं जाय या भगवत्परायां हो जाय-इसका विचार नहीं किया है। वह विचार यहाँ किया गया है अतः ज्ञान होता है कि निबंध में कहीं गई शरणागति ही विस्ताररूप से यहाँ कहीं जा रही है। और प्रपत्ति का अर्थ होता है- शरणागति। “हे कृष्ण ! जो आपकी शरण में आता है, आप उसके सारे भय नष्ट कर देते हैं (श्री. भा. १०/३०/२५)” इस वाक्य में जरारंघ के द्वारा वंदी बनाए गये राजाओं ने भगवान से प्रार्थना की है। इस वाक्य की सुवेधिनी में; चूंकि शरणागतों के भय का निवारण करना भगवान के लिए आवश्यक है, अतः “हम अमेक शरणागत हुए हैं” “हम आपकी शरण में आए हैं” इत्यादि वाक्यों में आवार्थयरणों ने शरणागत को ही प्रपन्न हुए जीवों के अर्थ में व्याख्यायित किया है। यही बात यहाँ भी स्फुट होती है, इस काणग से भी हम प्रपत्ति का अर्थ शरणागति बता रहे हैं। सो यह दिशा यहाँ स्पष्ट हो गयी है।

प्रकृतमुन्सरामः । एवमुभयोर्विवेकधैर्ययो रक्षणं, तस्य कलसम्बन्धश्च वोधयित्वा तथो रक्षणप्रकारमाश्रयस्य च भाग्न वक्तु तेन तत्स्वरूपश्च वक्तुमुद्देशानुसरेण प्रथमं विवेकस्य स्वरूपमाहुः विवेकस्त्वित्यादि । साम्प्रदायिकास्तु, ‘विवेकोर्यं समाख्यातः’ ‘एतस्हनमोक्तम्’ ‘एवमाश्रयणं प्रोक्तमि’त्युपसंहारदर्शनत् सामान्यविशेषभावेन विवेकधैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरुपणमत्र ग्रन्थनाम्ना समासव्यासधारणस्य विद्विष्टन्तेन च तथा कथनस्यौचित्याचेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति । तथा सति रक्षणप्रकारस्यार्थत् सिद्धिः । एतनु वचनादिति शेषः ।

हुये प्रकृत विषयनी चर्चा पर आवीये छीयो। आ प्रकारे आवार्थयरणो विवेक अने धैर्यनुं रक्षणां कहीने ते रक्षणानुं इन भतावी ते बनेना रक्षणों प्रकार अने आश्रयनो भार्ग भतावया भाटे अने तेनुं स्वदृप कहेवा भाटे सर्वप्रथम विवेकनुं स्वदृप “विवेकस्तु” वगेरे शब्दोदी कही रह्या छे। अन्य आपशु भार्गना सांप्रदायिक विद्वानोनो भत तो ए छे के “आ प्रकारे “विवेक” नुं स्वदृप कही दीयुं छे.” “अहीं सुधीं धैर्यनुं स्वदृप कही दीयुं छे”, अने “आ प्रकारे ‘आश्रय’ नुं स्वदृप कही दीयुं छे” वगेरे वाक्यों द्वारा ज्ञेयनो उपसंहार (सभाभि) देखाई रह्यो छे तेथी तेमने सामान्यस्त्रपथी अथवा विशेषउपस्थिती

केवण विवेक-धैर्य-आश्रयनुं निदृपणा ज्ञ आ ग्रंथधी अपेक्षित छे। क्यांक संक्षिमङ्गलधी तो क्यांक विस्तारधी, तेओ डेवण तेमना स्वदृप्तुं निदृपणा करवाना आश्रयधी ज्ञ आ प्रकारधी व्याप्त्या इरी रहा छे, अने अंतमां (१७ मा २५ोकभाँ) “अेवभ्” शब्दधी ए सम्भाल्य छे के आ प्रकारे आ त्रैयेना रक्षणाने प्रकार कही हीधे।

अब प्रकृत विश्व की चर्चा पर आते हैं। इस प्रकार से आचार्यरचण विवेक एवं धैर्य का रक्षण कह कर उस रक्षण का फल बताकर उन दोनों के रक्षण का प्रकार और आश्रय का मार्ग बताने के लिए और उसका स्वरूप कहने के लिए सर्वप्रथम विवेक का स्वरूप विवेकस्तु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अन्य एतन्मार्गीय सांप्रदायिक विद्वानों का मत तो यह है कि “इस प्रकार से ‘विवेक’ का स्वरूप कह दिया है”, “यहाँ तक धैर्य का स्वरूप कह दिया है” एवं “इस प्रकार ‘आश्रय’ का स्वरूप कह दिया है” इत्यादि वाच्यों द्वारा चौंकि इन तीनों का उपसंहार (समाप्ति) दिखाई दे जाता है अतः उन्हें सामान्यरूप से या विशेष रूप से केवल विवेक-धैर्य-आश्रय का निरूपण ही इस ग्रंथ से अपेक्षित है। कहीं संक्षिमरूप से तो कहीं विस्ताररूप से; वे केवल इनके स्वरूप का निरूपण करने के आशय से ही इस प्रकार से व्याख्या कर रहे हैं। और अंत में अर्थात् १७ वें श्लोक में एवम् शब्द से यह ज्ञात होता है कि-इस प्रकार इन तीनों के रक्षण का प्रकार कह दिया गया।

प्रकृतमनुसरामः । विवेकशब्दः पृथकूत्वे तज्जाने वा प्रसिद्धः । यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक इति । शीलविशेषे च यथा उचितसन्कारकतरि विवेकीति । ‘विवेकः पुनरेकान्ते जलद्रेणीविचारयो’ रिति कोशात्रिषु रूढश्च । तदत्र किमपि न विवक्षितमिति ज्ञापनाय तुशब्दः । कस्तहि? । हरि: सर्वं निजेच्छातः करिष्यति । हरि: सर्वदुःखहर्ता सर्वं स्वीयानां लौकिकालौकिकं, निजेच्छातः स्वतन्त्रेच्छातः, क्रीडेच्छातो चा, निजानामिच्छातो चा, करिष्यति । अयत्र विषयनिर्देशस्तेनैतद्विषयकमनुसन्धानं विवेकं इत्यर्थः ।

प्रस्तुत विषयनी चर्चा कर्राये, अभ म तो “विवेक” शब्दनो अर्थ अहीं ग्रंथमां कहेता अर्थधी अलग दीते अथवा पछी भगवत्संबंधी ज्ञानना अर्थमां प्रसिद्ध छे. लेम नित्य-अनित्य वस्तुनो विवेक थाय छे. अने, स्वभावमां लेम कोई बधानो उचित सत्कार करतो होय तो अने “विवेकी” कहेवाय छे वगेरे. जे शब्दकाशमां लेईअे तो विवेक शब्द “अेकांत”, “जलप्रापात” अने “विचार” वगेरे अर्थमां प्रयुक्त थेपेलो छे. परंतु उपर्युक्त विवेकना समस्त अर्थोमांधी आचार्यरचणोने अहीं कोई पाण अर्थ ईच्छित नहीं - ते भतावपा भाटे तेमाणे “तु” शब्दनो प्रयोग क्यों छे. तो पछी तेमने अहीं क्यों अर्थ विवक्षित छे ? तो तेओ कहीं रह्या छे के “हरि बयुज पोतानी ईच्छार्थी करशे” आ रीतनो भाव विवेकना अर्थमां विवक्षित छे. हरि समस्त दुःखोनुं हरण करवावाणा छे, पोताना जनोना लौटिक-अलौटिक समस्त कार्योने पोतानी स्वतंत्र ईच्छार्थी करशे अथवा पोतानी ईडा द्वारा करशे अथवा तो पछी निजबनोनी ईच्छाने अनुसार करशे, तेवो अर्थ छे. आचार्यरचणोअे आज अर्थ विवेक ना इप्मां निर्देशित कर्त्ता छे अने तेथी भन्मां ऐपा भापुनु अनुसंधान करव्युज “विवेक” छे, आ अर्थ छे.

प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। यों तो “विवेक” शब्द का अर्थ यहाँ ग्रंथ में कहे अर्थ से मिश्र प्रकार से या फिर भगवत्संबंधी ज्ञान के अर्थ में प्रसिद्ध है। जैसे नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक होता है। और, स्वभाव में जैसे कोई सभी का उचित सत्कार करता हो तो उसे “विवेकी” कहा जाता है, इत्यादि। यदि शब्दकोश में देखें तो विवेक शब्द ‘एकांत’, ‘जलप्रापात’ एवं ‘विचार’ इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। परंतु उपर्युक्त विवेक के समस्त अर्थों में से आचार्यरचणों को यहाँ कोई भी अर्थ विवक्षित नहीं है- यह बताने के लिए उन्होंने ‘तु’ शब्द का प्रयोग किया है। तब फिर उन्हें यहाँ कौन सा अर्थ विवक्षित है ? तो वे कह रहे हैं कि “हरि सुभी कुछ अपनी ही इच्छा से करेंगे” इस तरह का भाव विवेक के अर्थ में विवक्षित है। हरि समस्त दुर्खों का ह्रण करने वाले हैं, स्वीयजनों के लौकिक-अलौकिक समस्त कार्यों को अपनी स्वतंत्र इच्छा से करेंगे या अपनी क्रीडा द्वारा करेंगे अथवा तो फिर निजजनों की इच्छा के अनुसार करेंगे, यह अर्थ है। आचार्यरचणों ने यही अर्थ विवेक के रूप में निर्देशित किया है अतः मन में ऐसे भाव का अनुसंधान करना ही “विवेक” है, यह अर्थ है।

अत्र हरिपदेन गजेन्द्रमोक्षकर्तुवस्फोरणात्पशुबद्धानामत्यन्तदुःखहारित्वं सूच्यते । निजेच्छात इत्यनेन “क्रीडाभाण्डमिदं विश्वं” “क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतमि”त्यादिवाक्योक्तं जगतः क्रीडाभाण्डत्वं स्मायेते । इच्छाविशेषणीभूतनिजपदेन स्वस्य विशेषतस्तदीयत्वश्च । अतः स्वस्याङ्गत्वे क्रीडाभाण्डत्वे वा स्फुरिते, “विश्वस्य यः स्थितिलयोऽवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययोगमायः, क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्यथीशतत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहर्थ” इत्यादिरूपेणानुसन्धेयम् ।

अहीं “हरि:” पद्धती गजेन्द्रमोक्षनो प्रसंग स्फुरित थाय छे (भाष्यां लेईअे के भगवाननुं “हरि” नाम गजेन्द्रमोक्षना प्रसंगमां प्रसिद्ध छे. जुझो श्री. भा. ८/३/३०). तेथी अहीं ऐ सम्भाल्य छे के भगवान हरि, पशु-सम्भान अक्षानी ज्योना-

समस्त दुःखो दूर करे छे. “निजेच्छातः” शब्दथी “हे भगवान ! आ संपूर्ण विश्व तमारी भेल-सामग्री छे. (श्री. भा. ४/७/४३)”, “हे प्रभु ! तमे तमारी कीडा भटेज आ संपूर्ण जगतनी रखना करी छे (श्री. भा. ८/२२/२०)” वगेरे वाक्योनुं स्मरण थाय छे. (निजेच्छातः शब्दनो अर्थ छे पोतानी ईच्छाथी. टीकाकार कहे छे के आ शब्दथी उपर्युक्त श्लोकानुसार ऐ समझय छे के, प्रभु संसारमां बधूंज पोतानी ईच्छाथी व करे छे.) अहीं डेवल “ईच्छाथी” ऐम नथी कह्युं परंतु “निज-ईच्छा” थी तेम दह्युं छे, तेनाथी ऐम समजत्य छे के भगवान पोताना निजेज्जन के तहीयो भाटे कांઈक विशेष ईच्छा राखे छे. तेथी ज्ञे लुप्तयां प्रभुना ऐवा स्वदृपनुं अशान होय अथवा पछी “आ संपूर्ण विश्व भगवाननुं कीडा स्थण छे.” ऐवुं ज्ञान होय तो पाण, “हे भगवान ! आप संसारनी उत्पत्ति, स्थिति अने लयनुं कारण छो. आपनी योगमाया ने तो भोटा-भोटा धोगीलनो पाण मुक्तेलीथी पार करी शके छे. सत्य-२४-तम व्राण्ये गुणोना नियंता श्री हरिज अमाङ् कल्पाण करशे. अमारा विशेष विचार करवाथी शुं थर्ह शके छे ? (श्री. भा. ३/१६/३७)” वगेरे इपथी भगवाननुं अनुसंधान कर्वनुं ज्ञेईये (अर्थात् भगवत्स्वदृपनुं वास्तविक ज्ञान न होय, परंतु भनमां भगवाननुं अनुसंधान तो करताज रहेयुं ज्ञेईये, आ अर्थ छे.)

यहाँ ‘हरि’ पद से गजेन्द्र मोक्ष का प्रसंग स्फुरित होता है जानना चाहिए की भगवान का ‘हरि’ नाम गजेन्द्रमोक्ष के प्रसंग में प्रसिद्ध है. देखें श्री. भा. ८/३/३०। अतः यह ज्ञान होता है कि भगवान हरि पशु-समान अज्ञानी जीवों के भी समस्त दुःख दूर करते हैं। निजेच्छातः शब्द से ‘हे भगवान ! यह संपूर्ण विश्व आपकी खेल-सामग्री है (श्री. भा. ४/७/४३)’. ‘हे प्रभु ! आपने अपनी कीडा के लिए ही इस संपूर्ण जगत की रचना की है (श्री. भा. ८/२२/२०)’ इत्यादि वाक्य स्मरण होते हैं। निजेच्छातः शब्द का अर्थ है- अपनी इच्छा से। टीकाकार कहते हैं कि इस शब्द से उपर्युक्त श्लोकानुसार यह ज्ञान होता है कि, प्रभु संसार में सब कुछ अपनी इच्छा से ही करते हैं। यहाँ केवल ‘इच्छा से’ यों ही नहीं कहा है परंतु ‘निज-इच्छा से’ इस प्रकार कहा गया है, उससे यह ज्ञान होता है कि भगवान अपने निजजन या तदीयों के लिए कुछ विशेष इच्छा रखते हैं। अतः यदि तीव्र में प्रभु के ऐसे स्वरूप का अज्ञान हो या फिर यह संपूर्ण विश्व भगवान का कीडा-स्थल है ऐसा ज्ञान हो तो भी ‘हे भगवान ! आप संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं। आपकी योगमाया को बड़े-बड़े योगीजन भी कठिनता से पार कर पाते हैं। सत्य-२४-तम तीनों गुणों के नियंता श्रीद्वारा ही द्वारा कल्पाण करेंगे। हमारे विशेष विचार करने से क्या हो सकता है ? (श्री. भा. ३/१६/३७)’ इत्यादि लृप्त से भगवान का अनुसंधान करना चाहिए। (अर्थात् भगवन्स्वरूप का वास्तविक ज्ञान न हो, परंतु मन में भगवान का अनुसंधान तो करते ही रहना चाहिए, यह अर्थ है ।)

विशेषत्सत्त्वायत्वस्फूर्ती “अहं भक्तपाराधीनः”, “मणि ते तेषु चायहं”, “आत्मारामोपायरीमदि” त्यादिवाक्योंके भगवतो भक्ताधीनत्वं परोक्षेण हितकारित्वं स्वनिकटवर्तित्वं स्वस्त्रमर्यादामप्यत्रिक्रम्य भक्ताभिलापपूरकत्वं यथाधिकारमनुसृत्य भाविहितकारित्वमनुसन्धेयमिति तस्य तस्य ताहकादग्नुसन्धानं विवेक-इति भावः। करिष्यतीति भविष्यदर्थक्षयोगो भावव्यवचिन्नाया जायमानत्वात्तश्चिवृत्योः, न तु भूतवर्त्तमानयोर्भेगवत्कार्यत्वानुसन्धानव्यावृत्तर्थः। तेन करोत्पकार्यात् करिष्यतीति विवेक-इति फलति ॥ १ ॥

आ प्रकारना अनुसंधान द्वारा ज्ञारे आपशामां भगवतीयता स्फुरित थर्ह लघु त्यारे “हुं भक्तोने अधीन हुं (श्री. भा. ६/४/६३)”, “मारा भक्तो भारामां स्थित छे अने हुं तेमनामां (भ. गी. ६/२६)”, “भगवान तो आत्माराम छे, तेमने रभाण करवा भाटे कोई पाण भाल्ह वस्तुनी अपेक्षा नथी छातां पाण तेओओ गोपीओनी साथे हस्सीने कीडानो आरंभ क्यों (श्री. भा. १०/२८/४२)” वगेरे वाक्योमां भगवाननी पोताना भक्तो तस्य अधीनता, परेक्षजपे पोताना भक्तोनुं हित कर्वनुं ज्ञेई भगवाननुं पोताना भक्तोनी निकट वास करवो, पोताना निजेज्जनो भाटे पोतानी स्वदृपमर्यादाने पाण छोटी भक्तोनी अभिलापा पूरी करवी वगेरे समस्त वातोनुं यथाधिकार अनुसंधान करतां-करतां पोताना भावि सुभकारी भविष्यनुं अनुसंधान कर्वनुं ज्ञेईये. आ प्रकारे अनुसंधान कर्वनुं विवेक छे, आ भाव छे. “करिष्यति” पदमां करेलो भविष्यकाणो प्रयोग भविष्यमां थवा वाणी यिताओने दूर करवा भाटे छे परंतु तेनाथी भूतकाण अने वर्तमानकाणमां थवावाणी यिताओ ने दूर नहीं करे, ऐवुं नथी. आनाथी ऐ ज्ञान थाय छे के भगवान करे छे, भगवाने कर्मु छे अने तेओ करशे - आ त्रासेपनुं अनुसंधान राख्युं विवेक छे, ऐम इसित थाय छे ॥ १ ॥

इस प्रकार के अनुसंधान द्वारा जब हममें भावदीयता स्फुरित हो जाय तब “मैं भक्तों के अधीन हूं (श्री. भा. ०/४/६३)”, “मैं भक्त मुझमें स्थित हूं और मैं उनमें (भ. गी. ९/२९)”, “भगवान तो आत्माराम हैं, उन्हें स्मर करने के लिए किसी भी बाल्ह वस्तु की अपेक्षा नहीं है तथापि उन्होंने गोपियों के संग हँसकर कीडा आरंभ की (श्री. भा. १०/२९/४२)” इत्यादि वाक्यों में भगवान की अपने भन्तों के

प्रति अधीनता, परोक्षरूप से उनका भक्तों का हित करना, भगवान का अपने भक्तों के निकट वास करना, अपने निजजनों के लिए अपनी स्वरूपमर्यादा भी त्याग कर भक्तों की अभिलाषा पूरी करना इत्यादि समस्त बातों का यथाधिकार अनुरागण करते हुए अपने भावि सुखकारी भविष्य का अनुसंधान करना चाहिए । इस प्रकार अनुसंधान करना ही विवेक है, यह भाव है । करिष्यति पद में किया गया भविष्यकाल का प्रयोग भविष्य में होने वाली चित्ताओं के निराकरण के लिए है परंतु इसमें भूतकाल एवं वर्तमानकाल में होने वाली चित्ताओं का निवारण नहीं कोंगे, ऐसा नहीं है । इससे यह ज्ञात होता है कि भगवान करते हैं, किया है और करेंगे-इन तीनों का अनुसंधान रखना विवेक है, यह फलित होता है ॥ १ ॥

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणप्रकारं बदिष्यन्तस्तत्प्रसङ्गेन कामनायासतत्पूरणसाधनस्य च तन्नाशक्त्वं हृदिकृत्य गजेन्द्रवत् ब्रजस्थवत् ग्रामस्यापि प्रार्थनस्यवायकल्पत्रं हृदिकृत्य ततो रक्षितुं प्रार्थनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या समर्थयन्ति प्रार्थितेबेति ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्राप्यसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

बेत्यनादे, अभ्युपगम्य दूष्यते, प्रार्थिते प्रार्थनकृते ततः प्रार्थनातः किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । न हि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं, किन्तु स्वेच्छातः । यदि ततः स्यात् प्राग्जन्मन्येव स्यात्, “जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्युशिक्षितमि” ति वाक्यात्तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात् । किन्तु, विचारिष्य र्मवादस्थापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वापनादेशं कर्त्यस्य जातत्वेन स्वेच्छात एव । अन्यथा “नय मामि” त्वयं नान्तर्देश्यात् । अथाऽपेक्षितदानमापाततः प्रार्थनैव चेदाद्रियेत तदापि, कालविलम्बेन फलव्यभिचारेण चान्यथासिद्धत्वम् ।

आ प्रकारे अहीं सुधी आचार्यचरणों विवेकनुं स्वरूप निरूपित करी युक्त्यां छे अने हवे तेना रक्षणाना प्रकारो कही रह्या छे. अहीं सुधी आचार्यचरणों “लुभ द्वारा करवामां आवती समस्त कामनाओंनी पूर्तिना साधनो अने ते कामनाओं नु नष्ट थई ज्वलु-आ बधामां कारण तो भगवान ज्व छे” आ वातोने हृदयमां धारण उठी लीधी छे अने हवे आगप ए बतावी रह्या छे के गजेन्द्र अने प्रबन्धकतो नी ज्वेम करवामां आवती प्रार्थना पशु आपणा भाटे तो बाधक ज्व छे तेथी “प्रार्थना करवी आपणा भाटे उचित नथी” आ पक्षनुं तेओ युक्तिपूर्वक समर्थनं “प्रार्थिते वा” वगेरे वाक्योथी कही रह्यां छे. अहीं “वा” शब्दनो अर्थ ए छे के, प्रार्थना करवावी पशु अंतवां थरे शुं ? काँट पशु नहीं - आ अर्थ छे. गजेन्द्र ने पशु भगवान ग्राह-भगवर्मच्छथी छोडाव्यो तो खरो पशु तेनी प्रार्थना द्वारा नहीं पशु भोतानी ईछावी ज्व छोडाव्यो. ज्वे प्रार्थनाथी छोडाव्यो होत तो तेने तेना पूर्वजन्मभान्जः भोक्ष आपी देता डेम्हे गजेन्द्रभ्ये पशु भगवाननी स्तुति करवामां प्रार्थना करी छे ते पशु, “गजेन्द्रेये पूर्वजन्मभान्मां सीधेला स्तोत्रजप्त द्वारा भगवाननी स्तुति करी (श्री. भा. ८/३/१)”, आ वाक्य अनुसार पूर्वजन्मभान्मां सीधेली स्तुतिशीज करी छे. तेथी ज्वेम सभले के १) आपाणे/प्रभुभ्ये ज्वेनो विचार कर्त्त्वे छे, २) प्रभु ज्वारे भर्यादानुं स्थापन करे छे, ३) ज्वारे तेओ भक्तनी भक्तिशी प्रसन्न थाय छे, ४) ज्वारे तेओ भोतानी सर्वात्मकतानो भोध करावे छे-आ बधा कार्यो ज्वारे थई भय, त्यारे एम समलुको के प्रभु-ईछावी थथा छे. नहीं तो “हवे भाराथी चलतुं नथी, भने भज्वा पर चढावी हो - आ सांभालीने प्रभु अंतर्धान थई गया (श्री. भा. १०/३०/३८)”, आ वाक्यानुसार प्रभु प्रार्थना सांभलवा पर पशु अंतर्धान थई भय छे. ज्वे येनेन्द्रेन प्रकारथी ज्वेम भानी देवामां आवे के प्रभु भांगेली वस्तु प्रार्थना करवावी आपे छे तो पशु सभल्लुको के कां तो ते प्रार्थना द्वारा इन प्राप्त करवामां विलंब थरे अथवा पक्षी योग्यकृपा प्राप्त नहीं थाय.

इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरण विवेक का स्वरूप निरूपित कर चुके हैं और अब उसके रक्षण का प्रकार कह रहे हैं । यहाँ तक आचार्यचरणों ने “जीव द्वारा की जाने वाली कामनाएँ, उन कामनाओं की पूर्ति के साधन एवं उन कामनाओं का नष्ट हो जाना-इन सभी में कारण तो भगवान ही है” इन बातों को हृदय में धारण कर लिया है और आगे यह बता रहे हैं कि गजेन्द्र एवं ब्रजभक्तों की तरह की जाने वाली प्रार्थना भी हमारे लिए तो बाधक ही है अतः “प्रार्थना करनी हमारे लिए उचित नहीं है” इस पक्ष का वे युक्तिपूर्वक समर्थन प्रार्थिते वा इत्यादि वाक्यों से कर रहे हैं । यहाँ ‘वा’ शब्द का अर्थ यह है कि, प्रार्थना करने से भी अंततोगत्वा होगा क्या ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है । गजेन्द्र को भी भगवान ने ग्राह मारगम्च से छुड़ाया तो सही परंतु उसकी प्रार्थना द्वारा नहीं अपितु अपनी इच्छा से ही छुड़ाया । यदि प्रार्थना से ही छुड़ाना होता तो उसे उसके पूर्वजन्म में ही भोक्ष दे देते क्योंकि गजेन्द्र ने भी भगवान की स्तुति करते हुए जो प्रार्थना की है वह भी “तब गजेन्द्र ने पूर्वजन्म में सीखे हुए स्तोत्रजप्त द्वारा भगवान की स्तुति की (श्री. भा. ८/३/१)” इस वाक्य के अनुसार पूर्वजन्म में सीखी हुई स्तुति से ही की है । अतः यह समझिए कि (१) हमने/प्रभुने जिसका विचार किया है (२) प्रभु जब मर्यादा

का स्थोपन करते हैं (३) जब वे भक्त की भक्ति से प्रसन्न होते हैं (४) जब वे अपने सर्वात्मकता का बोध कराते हैं-इतने सब कार्य जब हो जाएँ, तब यह समझिए कि प्रभु-इच्छा से ही हुए हैं । अन्यथा तो “अब मुझसे चला नहीं जाता, मुझे कंधे पर चढ़ा लो- यह सुनकर प्रभु अनन्दर्थान हो गये (श्री. भा. १०/३०/३८)” इस वाक्यानुसार प्रभु प्रार्थना सुनने पर भी अनन्दर्थान हो जाते हैं । यदि येनकेन प्रकारेण ये मान भी लिया जाय कि प्रभु माँगी हुई वस्तु प्रार्थना करने से ही देते हैं तथापि समझिए कि या तो उस प्रार्थना के द्वारा फल प्राप्त करने में विलंब होगा या पिर योग्य फल प्राप्त नहीं होगा ।

अथ सापि चेत् कथश्चित् परिहियेत तर्हि, सा भगवदभिप्रायनिश्रयकृता प्रार्थना, न तु स्वात्मभिप्रायसंशयकालीना । तथा सति तत्रापीच्छैव कारणत्वेन पर्यवस्थतीति तत्र प्रार्थनाया व्यापारतामात्रं सेत्पत्ति । संशयकालीनायास्तु तदपि न । प्रत्युतापीरत्वापकतया क्रोधेष्वक्षावहतया वा वापकत्वत्व । एतनैव भ्रमकालीनापि व्यास्यातैव । किञ्च, यथा तथास्तु, स्वस्य जीवत्वेनात्प्रवृत्त्वात् स्वमनोरथस्याप्त्वात्प्रार्थितस्तावदेव दास्यति कुञ्जाया इव । कुमनीषित्वाऽधिकं भविष्यति । अप्रार्थितस्तु प्रभुरूपैकित्वात्तोनन्तरुणम् दास्यति । तदुक्तं “मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरि”ति । तदेतदुक्तं प्रार्थिते वा ततः कि स्वात्मव्यभिप्रायसंशयादिति ।

चलो ऐकवार भानी पशु लो के प्रभु प्रार्थना करवाथी भांगेली वस्तु ईड़ी पशु देता होय परंतु त्यां पशु ऐम समझे के ज्यां आपशुने भगवानना अभिप्रायमां पूर्ण निष्ठा छे, ऐवी प्रार्थना तो इसित थर्ड जशे परंतु ज्यां आपशुने आपशु स्वामी-भगवानाज अभिप्रायमां संशय छे, ऐवी प्रार्थना तो सिद्ध नहीं थाय. आवी परिस्थितिमां सर्वत्र भगवानी ईच्छाज भूमिकारण सिद्ध थाय छे, प्रार्थना तो किया मात्र रही ज्य छे, अने भगवानना अभिप्रायमां संशय करवावाणी प्रार्थना तो छिताय सिद्ध नथी थती. आवी प्रार्थना तो उल्टानी आपशु अधीरता भतावी रही छे अने तेनाथी भगवान कुपित थर्ड शके छे अथवा आपशु उपेक्षा करी शके छे. तेथी ऐवी प्रार्थना करवी आपशु भाटे भाधक छे. आ प्रकारथी अमे अहीं भगवानमां संशय राखवावाणी प्रार्थनानी व्याप्या करी दीधी छे. अने, चालो भदेने कार्ड पशु होय परंतु ज्वतो अल्पज्व छे अने तेथी अना भनोरथो तो अल्पज्व होय छे तेथी भगवान पशु तेने कुञ्जनी भेम अल्पज्व आपे छे. (श्रीमद्-भागवतमां कुञ्जनो प्रसंग आवे छे, ज्यां भगवाने तेना भर कृपा करीने तेना वांडाअंगने सीधुं करीने तेने ऐक सुंदर स्त्री भनावी दीधी. आना पाई ज्यारे तेणे भगवानी प्राप्ति करवा चाह्युं तो भगवान अनी वात वशसांभाली करीने पधारी वया. टीकाकार आ प्रसंग द्वारा समझावी रहवा छे के ज्व अल्पज्व होय छे तेथी कुञ्जने सुंदर शरीर तो प्राप्त करी लीधुं पशु भुज्यफळ भगवत्प्रामिथी वंचित रही गई. आज प्रकारे ज्व पशु पोतानी अल्पज्व बुद्धियी तुअ्य वस्तुओने प्राप्त करीने प्रसंग थर्ड ज्य छे तो भगवान पशु तेने तेतुंज्व आपी तेने प्रसंग करी हे छे, परंतु तेने ए आभास नथी रहेतो के कदाच भगवाने तेना भाटे तेनाथी कार्डक धर्णी किमती वस्तु आपशानी निश्चित करी राखी होय, आ अर्थ छे. कुञ्जना प्रसंग भाटे ज्वओ श्री. भा. १०/४२/१.....१३) आ प्रकारे ज्वभाली कुञ्जद्व पशु वधे छे. अने ज्वे प्रार्थना नहीं करीये तो अलौकिक प्रभु अनंतगण्य आपी हे छे. आज वात, “भगवानाना दर्शनन्थी गोपीओने घेटलो आनंद थयो के तेमनां हृदयनी बधी व्याधि दूर थर्ड गई. ज्वेम कर्मकांडनी श्रुतिओ भगवान्तुं प्रतिपादन करता-करतां तेमना माहात्म्यशानना विषयमां बोलवा लागी ज्य छे अने पोताना समस्त भनोरथोनी उपर उठाने कृतकृत्य थर्ड ज्य छे, तेम गोपीओने समस्त भनोरथोथी अधिक सुख प्राप्त थयुं (श्री. भा. १०/३२/१३)”, आ वाक्यधीं कही छे. आने ज्व आचार्यरथशुभोये “भगवाननो अभिप्राय शुं छे ? ए समजबुं मुश्केल छे, तेथी प्रार्थना करवाथी पशु शुं लाभ थशे ?”, आ वाक्य द्वारा कहयुं छे.

चलो एक बार मान भी तें कि प्रभु प्रार्थना करने से माँगी हुई वस्तु दे भी देते हों परंतु वहाँ भी यह समझिए कि जहाँ हमें भगवान के अभिप्राय में पूर्ण निष्ठा है, ऐसी प्रार्थना तो फलित हो जायेगी परंतु जहाँ हमें हमारे स्वामी-भगवान के ही अभिप्राय में संशय है, ऐसी प्रार्थना तो सिद्ध नहीं होती । ऐसी प्रार्थना तो उल्टे हमारी अधीरता बता रही है अतः इस से भगवान कुपित हो सकते हैं या हमारी उपेक्षा कर सकते हैं । अतः ऐसी प्रार्थना करनी हमारे लिए बाधक है । इस प्रकार से हमने यहाँ भगवान के अभिप्राय में संशय रखने वाली प्रार्थना की व्याल्या कर दी है । और, चलो भले ही कुछ भी हो परंतु जीव तो अल्पज्व है और इससे उसके मनोरथ भी अल्प ही होते हैं अतः भगवान भी उसे कुञ्जा की भाँति अल्प ही देते हैं । श्रीमद्-भागवत में कुञ्जा का प्रसंग आता है जहाँ भगवान ने उस पर कृपा करके उसके टेढ़े अंग सीधे करके उसे एक सुंदर स्त्री बना दिया । इसके पश्चात् जब उसने भगवान

की प्राप्ति करनी चाहीं तो भगवान् उसकी बात अनसुनी करके पढ़ार गये । टीकाकार इस प्रसंग द्वारा यह समझाना चाह रहे हैं कि जीव अल्पज्ञ होता है इसी कारण कुब्जा ने सुंदर देह तो प्राप्त कर ली परंतु मुख्य फल भगवत्प्राप्ति से वंचित रह गई । इसी प्रकार जीव भी अपनी अल्पज्ञ बुद्धि से तुच्छ वरतुओं को प्राप्त करके प्रसन्न हो जाता है तो भगवान् भी उसे उतना ही देकर उसे प्रसन्न कर देते हैं परंतु उसे यह आभास नहीं रहता कि कवदाचित् भगवान् ने उसके लिए इससे कहीं अधिक मूल्यवान् वस्तु देनी निश्चित कर रखी हो, यह अर्थ है । कुब्जा के प्रसंग के लिए देखें श्री भा. १०/४२/१.....१३ । इस प्रकार से जीव में कुबुद्धि भी बढ़ती है । और यदि प्रार्थना नहीं करें तो अलौकिक प्रभु अनंत गुना दे देते हैं । यही बात “भगवान् के दर्शन से गोपियों में इन्हाँ अननंद हुआ कि उनके हृदय की सारी व्याधि मिट गई । जैसे कर्मकांड की श्रुतियाँ भगवान् का प्रतिपादन करते-करते उनके माहात्म्यज्ञान के विषय में बोलने लगे जाती हैं और अपने समस्त मनोरथों से उपर उठ कर कृतकृत्य हो जाती हैं, वैसे गोपियों को समस्त मनोरथों से कहीं अधिक सुख प्राप्त हुआ (श्री. भा. १०/३२/१३)” इस वाक्य द्वारा कही गई है । इसी को आचार्यचरणों ने “भगवान् का अभिप्राय क्या है? यह समझाना कठिन है अतः प्रार्थना करने से भी क्या लाभ होगा?” इस वाक्य द्वारा कहा है ।

तथा च प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यनाशः, अदाने खेदात् स्वरूपनाशस्ततो स्माद्भाकादेवं विचरेण स रक्षणीय इति भावः । एतेन कामनायाः पूर्कं साधनान्तरं कैमुतिकादेव निरस्तम् । प्रार्थनैव चेतिष्ठला काम्यकर्मणि किमुतेति । ‘सुखाय कर्मणि करोति लोको न तैः सुखञ्चान्यदुपारम् वा, विन्देत् भूयस्तत् एव दुःखं यदन् युक्तं भगवान्वदेन’ इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्मणां फलव्यभिचारस्यानिष्ठेतुत्पत्य च विदुरेणैव ददीर्तन्त्वात् । न च साङ्गद्वैरिककर्मणः फलवश्यं भावनियमात्कलव्यभिचारो न प्राप्तावसर इति शङ्क्यम्, दक्षयज्ञादिवत् साङ्गताया एव दुर्घटन्त्वात् । इदं यथा तथा “कर्मणां गहनागतिरित्यत्र निबन्धे प्रपञ्चतमिति ततोऽवधेयम् ।

प्रार्थना करवाथी ज्यारे प्राप्त थाय छे, तो विवेक राखवानुं सामर्थ्यं नष्ट थर्ई ज्य छे अने ज्ञे प्रार्थना करवा पर पश भनोवांछित वस्तु प्राप्त नथी थती तो भनमां भेद उत्पन्न थर्ई ज्य छे अने अनाथी तो विवेकनुं स्वरूपन नष्ट थर्ई ज्य छे । तेथी “‘प्रार्थना करवी बाधक छे’” आ विचार द्वारा विवेकनी रक्षा करवी ज्ञेर्ई, आ भाव छे, आ प्रकारे आपाणी कामनाओंने पूर्ण करवावाणा भगवान्थी अतिरिक्त अन्य साधनों तो कैमुतिक-न्यायथीज निरस्त थर्ई ज्य छे । (क्लेवानुं तात्पर्य ए छे के पुष्टिमार्गमां ज्यां प्रार्थना करवानी ज्ञ निषिद्ध हीय तो त्यां कामनाओंने पूर्ण करवा भाटे भगवान्थी अतिरिक्त अन्य साधनोंनो आश्रय करवो तो तेमेय निषिद्ध थर्ई ज्य एवो अर्थ छे.) ज्यां लुभ द्वारा क्लेली प्रार्थना ज्ञ निषिद्ध थर्ई शक्ती हीय त्यां अन्य कर्मोना निषिद्ध थर्ई ज्वा भाटे शुं क्लेवुं ? श्रीभद्रभागवतमां, ‘हे भगवन् ! संसारभां भधा लोको सुख भाटेज कर्मों करे छे परंतु ते कर्मोंनी न तो तेमेन सुख भणे छे अने न तो तेमना दुःखो दूर थाय छे (श्री. भा. ३/५/२)”, आ वाक्य द्वारा विदुलुभे कर्मोनी निषिद्धता अने अनिष्टता भतावी छे, अहीं ए शंका करवी उचित नथी ते ज्ञे घटतिसहित, अंगसहित वैदिककर्मों करवामां आये तो ते निषिद्ध नथी ज्ञतां अने इश अवश्य प्राप्त थाय ज्ञ छे । केम्भे प्रज्ञपतिदक्ष नो यक्ष विधिपूर्वक थवा छतां पश नष्ट थर्ई ज्यो हतो, (ज्युओ श्रीभद्र-भागवत चतुर्थ स्कंधनो पांचयो अध्याय) आज वातने आचार्यराणोंने निर्बन्धमां “कर्मभार्गमां इश प्राप्त करवूं धशुं भुक्षेल छे (सर्व. / २४८)”, आ श्लोकमां विस्तारपूर्वक समझब्युं छे तेथी त्यां ज्ञेर्ई लेवुं ज्ञेर्ई.

प्रार्थना करने से जब प्राप्त होता है, तो विवेक रखने की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है और यदि प्रार्थना करने पर भी मनोवांछित वस्तु प्राप्त नहीं होती तो मन में खेद उत्पन्न होता है और इससे तो विवेक का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है । अतः ‘प्रार्थना करनी बाधक है’ इस विचार के द्वारा विवेक की रक्षा करनी चाहिए, यह भाव है । इस प्रकार हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाले भगवान् के अतिरिक्त अन्य साधन तो कैमुतिक-न्याय से ही निरस्त हो जाते हैं । कहने का अर्थ यह कि पुष्टिमार्ग में जहाँ प्रार्थना करनी ही निषिद्ध बताई गयी हो वहाँ कामनाओं को पूर्ण करने के लिए भगवान् से अतिरिक्त अन्य साधनों का आश्रय करना तो वैसे ही निषिद्ध हो जाता है, यह अर्थ है । जब जीव द्वारा की गई प्रार्थना ही निष्पत्त हो सकती हो तो अन्य कर्मों के निष्पत्त हो जाने में क्या कहना ? श्रीमद्-भागवत में “हे भगवन् ! संसार में सभी लोग सुख के ही लिए कर्म करते हैं परंतु उन कर्मों से न तो उन्हें सुख प्राप्त होता है और न ही उनके दुःख दूर होते हैं (श्री. भा. ३/५/२)” इस वाक्य द्वारा विदुरजी ने कर्मों की निष्पत्तता एवं अनिष्टता बताई है । यहाँ यह शंका करनी उचित नहीं है कि, यदि पद्धतिसहित, अंगसहित वैदिककर्म किए जाएँ तो वह निष्पत्त नहीं जाता और फल अवश्य प्राप्त होता ही है । क्योंकि प्रजाप्रति-दक्ष का यज्ञ विधिपूर्वक होने के बाद भी नष्ट हो गया था । देखें श्रीमद्-भागवत चतुर्थ स्कंध का पांचयो अध्याय । इसी बात को आचार्यराणोंने निर्बन्ध में “कर्मभार्ग में फल प्राप्त करना बड़ा कठिन है (सर्व. / २६८)” इस श्लोक में विस्तारपूर्वक समझाया है अतः वहाँ देख लेना चाहिए ।

नन्वस्त्वेवम्, तथापि निन्दावाक्यात्कुञ्जादावप्यभिप्रायाऽङ्गानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञाने तु न तथा दोष इति स्वाभिलाष्टपूर्व्यर्थं प्रभुर्बिज्ञापनीय एवेति चेतेत्याहुः सर्वत्रोत्यादि । सर्वत्र ब्रह्माण्डे अनन्वर्बहश्च तस्य स्वामिनः सर्वं वस्तुमात्रमस्तीति शेषः । हीतियुक्तं क्रीडार्थत्वात्, सर्वसामर्थ्यच्च तस्यैव, “यः सर्वदः सर्वशक्तिः,” “सर्वस्य वशी सर्वस्येशान्,” इत्यादि श्रुतेः । तथा च यदि दित्सेत् सर्वज्ञत्वादस्मदभिलाप्तं ज्ञात्वा तदैव दद्यात् । यदि जीवे तत्फलानुभवासामर्थ्यं पश्येत्तदपि विदद्यात् । तन्मनोभिलिपितप्रकारेणैव स्वस्मिन्नपि तथात्वं प्रकटीकृत्व वा तन्मनोरथं पूर्येत् ।

यातो भानीतो के आ ठीक छे परंतु कुण्डलने भगवानना मूण अभिप्रायनी खबर न हती, तेथी तेजे क्षुद्र प्रार्थना कर्ता अने मुख्य भगवत्प्राप्तिथी वंचित थई गई परंतु जे कोईने भगवद्-अभिप्रायनुं ज्ञान होय तो ? त्यारे तो कोई दोष नन्थी ने ? त्यारे तो पोतानी अभिलाषाओनी पूर्णि भाटे भगवानने प्रार्थना करवीन लोईचे-जे ऐवी शंका होय तो अनुं समाधान आचार्यचरणों “सर्वत्र” वगेरे शब्दोथी करी रह्यां छे. आनो अर्थ ए छे के खलांडभां भाहर अंदर सर्वत्र वधी वस्तु मात्र भगवानीक छे. “हि” शब्दथी आ अर्थनी योग्यता बतावी छे केभके समस्त प्रक्षांडानी रचना प्रभुचे पोतानी कीडा भाटे करी छे. तंथी, “जे सर्वक्ष, सर्वशक्तिमान् छे”, “भधाने वशमां करवावाणा अने भधाना स्वामी (पृ४. ७५. ४/४/२२)”, वगेरे श्रुतियो द्वारा सर्वसामर्थ्य भगवाननुं ज छे. तेथी तेझो जे आपवा भांगे तो सर्वक्ष होवाथी आपणी अभिलाषाओ ने लाणीने तेज समये आपी हे छे. जे लुबमां भगवान द्वारा आपेली वस्तुनो अनुभव करवानी सामर्थ्यं न जुच्ये तो पण आपी हे छे. अथवा लुवना भनोभिलिपित प्रकारथी (अर्थात् भनभां जेवी अभिलाषा करी हती तंपा प्रकारथी) पोतानामां पण आपी देवानी अभिलाषा प्रकट करीने तेना भनोरथो ने पूर्ण करे छे.

चलिए मान लें कि यह ठीक है परंतु कुण्डा को भगवान का मूल अभिप्राय ज्ञान नहीं था, इसी कारण उसने क्षुद्र प्रार्थना की और मुख्य भगवत्प्राप्ति से वंचित रह गई परंतु यदि किसी को भगवद्-अभिप्राय का ज्ञान हो तो ? तब तो कोई दोष नहीं है न ? तब तो अपर्णी अभिलाषाओं की पूर्णि के लिए भगवान से प्रार्थना करती ही चाहिए - यदि ऐसी शंका हो तो इसका समाधान आचार्यचरण सर्वत्र इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मांड में बाहर-भीतर सर्वत्र सभी वस्तु मात्र भगवान की ही हैं । ‘हि’ शब्द से इस अर्थ की युक्तता बताई गई है क्योंकि समस्त ब्रह्मांड की रचना प्रभु ने अपर्णी क्रीडा के लिए की है । अतः “जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है” “सर्वको वश में रखने वाला और सबका स्वामी” इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सर्वसामर्थ्य भी भगवान की ही है । अतः यदि वे देना चाहें तो सर्वज्ञ होने के नाते हमारी अभिलाषाओं को जानकर उसी समय दे देते हैं । यदि जीव में भगवान द्वारा दी गई वस्तु का अनुभव करने की सामर्थ्यं न देखें, तब भी दे देते हैं । (अर्थात् जीव भले ही यह समझ न पा रहा हो कि उसे मिलने वाली वस्तुएँ भगवान ने ही उसे दी है, फिर भी भगवान उसे दे देते हैं, यह अर्थ है) अथवा जीव के मनोभिलिपित प्रकार से अर्थात् मन में जैर्या अभिलाषा की थी, वैसे प्रकार से अपने आप में भी देने की अभिलाषा प्रकट करके उसके मनोरथों को पूर्ण करते हैं ।

एतदपि, “एवं सन्दर्शितायाहङ् हरिणा भृत्यवश्यता, गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्,” “दर्शयस्तद्विदां लोक आत्मने भृत्यवश्यतामि” त्यातिभिरुक्तम् । एवं सत्यपि यन ददाति तस्मान् दित्सतीति निश्चितम् । निश्चिते चाभिप्राये प्रार्थना न प्राप्तावसरेति न प्रार्थनीय इत्यर्थः । एतदेवाभिसन्धाय श्रीमद्भुत्तरणौरुक्तं, “यथा वयं तदीयाः स्मस्तथा सोपि निसर्गतः, अस्मत्प्रभुतश्चिन्ता नैहिके पारलौकिकं” इति ।

आ वात पण, “हे परीक्षित ! आ संपूर्ण जगत एमना वशमां छे छतां पण खांडिल्या थी बंधाईने तेभाणे ए वात भतावी दीधी के तेझो भक्तोना वशमां छे (श्री. भा. १०/६/१६)”, “सर्वशक्तिमान भगवान गोपीओना द्वैसतावा पर भाणकनी जेभ नायवा लागता (श्री. भा. १०/११/७)”, “सर्वशक्तिमान भगवान पोतानी भाललीलाओथी वशवासीओने आनंदित करता अने संसारने ए भतावता के हुं पोताना सेवकीना वशमां छुं (श्री. भा. १०/११/८)”, आ प्रकारे ते लोकामां कही छे. आयुं थवा छतां पण भगवान जे कोईने आपता नन्थी, तो तेझो तेने आपवा नन्थी भांगता, आ निश्चित थाय छे. अने जे प्रभुचे आपवानुं निश्चित कर्म होय तो पछी ग्रार्थनाना भाटे कोई अवसर ज नन्थी रही जतो तेथी ग्रार्थना न करवी जेईचे, आ अर्थ छे. आ वातने सभजवपा भाटे प्रभुचरणोचे, “जेभ आपाणे तेभना छीचे, तेज रीते स्वभावथी तेझो पण आपणा छे तेथी अभने न लौडिकनी चिंता छे न असौडिकनी (नव. वि. ८/५), आ वाड्य कहुं छे.

यह वात भी “हे परीक्षित ! यह संपूर्ण जगत उनके वश में है परंतु फिर भी ऊखल से बँध कर उन्होंने यह वात दिखता दी कि वे भक्तों के वश में हैं (श्री. भा. १०/९/१९)”, “सर्वशक्तिमान भगवान गोपियों के फुसलाने पर बालक के समान नाचने लगते (श्री. भा.

१०/११/७)”, “सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी बालतीलाओं से ब्रजवासियों को आनंदित करते और संसार को यह दिखाते कि मैं अपने सेवकों के वश में हूँ (श्री. भा. १०/११/९)” इस प्रकार से इन श्लोकों में कही गयी है। इतना होने पर भी भगवान् यदि किसी को नहीं देते, तो वे उसको देना नहीं चाहते, यह निश्चित् होता है। और यदि प्रभु को देना निश्चित् हो जाय तो फिर प्रार्थना के लिए कोई अवसर ही नहीं रह जाता है अतः प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है। इसी बात को समझाने के लिए प्रभुचरणों ने “जैसे हम उनके हैं, वैसे ही रथभाव से वे भी हमारे हैं अतः हमें न लौकिक की चिंता है न अलौकिक की (नव. वि. ८/४) यह बाक्ष्य कहा है।

एवं कामितपूरकाद्रक्षणप्रकार उक्तः। अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो बक्तव्यस्तं बुकुमाहुरभिमान इत्यादि।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

अभिमानो गर्वः। यौगिकार्थगणे अभितः उभयतो मानोऽभिमानः, स्वतः पगतश्च चित्तसमुच्चितिः पूजा वा । तत्सर्वमत्राभिमान इत्यनेन सङ्गुहते । चकारात्तसाधनादिश्च । स सम्यक् लौकिकप्रकारेण त्याज्यः । तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । त्वय्लोपे पञ्चमी । स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाव्य त्याज्य इत्यर्थः । कामनामूलं हि गर्वश्चित्तोन्नतिः पूजा च । अहमीद्वाः, ईश्वरुलोत्पवः, ईद्गम्भिः प्रशस्यः, इत्याद्युन्मनान्थान एव । तदनुरूपाकामनादर्शनात् । तदनुत्पत्तिर्निवृत्तिश्च स्वाम्यधीनत्वभावनया, तदन्तां तददर्शनात् ।

आ प्रकारे अहीं आ विवेकद्वारा इकामनाओंनी पूर्ति थाय छे तेथी तेनो रक्षणप्रकार कह्यो छे. परंतु इकामनाओंथी विवेकने भवावी राख्यावो ज्ञेईचे तेथी आसार्थयशः ऐने अभिमानः वर्गेरे शब्दोदी ठीकी रथ्या छे.

अभिमाननो अर्थ थाय छे-गर्व करवो. अभिमाननो यौगिक अर्थ छे - आत्मशताधा (अर्थात् स्वयंनी प्रशंसा स्वयंज करवी) करवी अंथवा वीजन्मोथी पोतानी स्तुतिनी कामना करवी, आ रीते बने बाजुर्थी पोतानु भान याहावु. आ बधु अहीं अभिमान शब्दथी क्लेवार्थ रव्यु छ. “च” शब्दथी अभिमान उत्पन्न करवायां सहयोगी साधन पाण गणी लेवा ज्ञेईचे. आ समस्त अभिमानोनो त्याश करी देवो ज्ञेईचे. अहीं “सन्त्याज्यः” शब्दमां “सम्” उपसर्गनो अर्थ ऐ छे के - आ समस्त अभिमान लौडिकप्रकारो द्वारा बधी रीते छोटी देवा ज्ञेईचे. इह रीते छोटी देवां ज्ञेईचे ? तो तेनो उत्तर आचार्यरथयोंचे “स्वाम्यधीनत्व भावनात्” पद्द्वारा आप्यो छे. “भावनात्” शब्दमां “त्यप्” प्रत्ययनो लोप थर्ही पंचमीविभक्ति थर्ही छे. आनाथी “अभे अभारा स्वामीन अधीन छीचे” आ प्रकारनी भावना करीने अभिमान छोटी हेवु ज्ञेईचे, आ अर्थ छे. कामनाओंने कारणेन गर्व थाय छे अंथवा आ आत्मशताधा थाय छे. “हुं आवो छुं”, “आवा कुण्डां उत्पन्न थयो छुं”, “आवा लोकी भारी प्रशंसा करे छे”, आ प्रकारनी विचारधारा राख्याव॑ “अभिमान” छे. तेमें इकामनाओंते तेवीज होय छे. आवा अभिमाननी उत्पत्ति न थवी अंथवा उत्पन्न थयेलां अभिमाननी निवृत्ति आपणा स्वामीना प्रति अधीनतानी भावनाथी थाय छे तेमें ज्ञेईचे आ प्रकारनी भावना करे छे, तेभनामां अभिमाननी वृत्ति देखाती नन्थी.

इस प्रकार से यहाँ इस विवेक द्वारा ही कामनाओं की पूर्ति होती है अतः इसका रक्षणप्रकार कहा गया है। परंतु कामनाओं से विवेक की रक्षा करनी चाहिए अतः इसे अभिमानः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

अभिमान का अर्थ होता है- गर्व करना । अभिमान का यौगिक अर्थ है-आत्मशताधा अर्थात् स्वयं की प्रशंसा स्वयं ही करनी करनी-या दूसरों से अपनी स्तुति की कामना करनी, इस तरह दोनों ओर से अपना मान चाहना । ये सभी यहाँ अभिमान शब्द से कहे जा रहे हैं । ‘च’ शब्द से अभिमान उत्पन्न कर्त्ता में सहयोगी साधन भी निन तेने चाहिए । इन समस्त अभिमानों का त्याग कर देना चाहिए । यहाँ सन्त्याज्यः शब्द में ‘सम्’ उपर्याक का अर्थ है-ये समस्त अभिमान लौकिकप्रकारों द्वारा भवीभाति त्याग देने चाहिए । क्यों त्याग देने चाहिए ? तो इसका उत्तर आचार्यरथयोंने स्वाम्यधीनत्वभावनात् पद द्वारा दिया है । ‘भावनात्’ शब्द में ‘त्यप्’ प्रत्यय का लोप होकर पंचमीविभक्ति हुई है । इससे “हम हमारे स्वामी के अधीन हैं” इस प्रकार की भावना करके अभिमान त्याग देना चाहिए, यह अर्थ है । कामनाओं के कारण ही गर्व होता है अंथवा आत्मशताधा होती है । ‘मैं ऐसा हूँ’, ‘ऐसे कुल में उत्पन्न हुआ हूँ’, ‘ऐसे लोग मेरी प्रशंसा करते हैं’ इस प्रकार की विचारधारा रखनी ही ‘अभिमान’ है । क्योंकि कामनाएँ ऐसी ही होती हैं । ऐसे अभिमान की उत्पत्ति न होनी अंथवा उत्पन्न हुए अभिमान की निवृत्ति हमारे स्वामी के प्रति अधीनता की भावना द्वारा होती है क्योंकि जो इस प्रकार की भावना करते हैं, उनमें अभिमान की वृत्ति दिखाई नहीं देती ।

किंव, गर्वादिजनकस्य स्वोकर्त्तस्यापि तदधीनत्वमेव, तस्य सर्वकारणत्वाद्भावनीयम् । तथा सति यथेदं सम्पादितवान् तथाऽन्यदपि सम्पादयिष्यतीत्यपार्था कामना, तन्मूलो गर्वादिश्चेत्यादिभावनेन तत्त्वार्थं विवेको रक्षणीय इति भावः । एतेनेदमपि ज्ञापितम्, यद्गत्तानां दासत्वान्न स्वतोभिमानसम्भवः, किन्तु, दुःसङ्गादिवशात् । सोपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनात्याज्यः ।

कदाचित्प्रभुः कृपया तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेत्तथा वा सेवां कारयेत्तदापि, तज्ज्ञावनात्स न कार्यस्त्याज्यश्च । यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाहणं कुर्यात्तदा खेदोपि त्याज्य इति चकारोऽनुकूलसमुच्चायकः । अत्र हेतुवचनादेहभिमाननिवृतिस्तु न विवक्षितेति प्रतिभाति । अथ विवक्षिता तदा सेवनशरणागतप्रतिकूलदेहाद्यासानिवृतिग्राहीति न विवादलेशः ।

अने, गर्व वरोदे ने उत्पन्न करनार अभारो उत्कर्ष पशु भगवानेन अधीन छे, आ भावना करवी लेर्हिए. केमडे समस्त कार्योना करण्याभूता तत्त्व डेवण भगवानेन छे. तेथी ए समर्वावृत्त लेर्हिए ते, वे प्रकारे भगवाने आटलु आपी दीद्यु छे, तेम वधारे पशु आपशे तेथी भगवान पासे कोई पशु कामना करवी वर्थ छे, आपी भावना राखीने ते कामनाओनु भूत कराण गर्वने दूर करीने “विवेक” नी रक्षा करवी लेर्हिए, आ भाव छे. उपर्युक्त विशेषाशाली ए पशु समजाय छे ते, भक्त तो प्रभुना दास होय छे तेथी तेमने पोताना विषयमां अभिभान नथी थतुं परंतु हुःसंगठी थर्ह लय छे. आ अभिभान पशु दासधर्मनी भावना राखीने अने पोतानी भगवान प्रत्येनी अधीनतानी भावना राखीने छोडी देवृतु लेर्हिए. वे कदाय ऐवुं पशु थर्ह लय के भगवान आपमेणे भक्त प्रत्ये पोतानी अधीनता भतावे के पछी भक्त पासे पोतानी सेवा करावे, तो पशु प्रभुना प्रत्ये अधीनतानी भावना राखीने अभिभान तो नज करवृतु लेर्हिए अने सर्वथा छोडी देवृतु लेर्हिए. अने वे भगवान पोतानी स्वतंत्र ईच्छाशी दृढ आपे तो खेद पशु न करवो लेर्हिए, आ “य” शब्दनो अर्थ छे. अहीं “स्वाम्यधीनत्वभावनात्” शब्दथी देहाभिभान नी निवृत्ति नथी क्षेवाभां आपी रही ऐवुं लागे छे, केमडे वे आपशे प्रभुने अधीन होवानी भावना करी रह्या छीच्ये तो देह पर अभिभान करवानो त्पारे क्यां अवकाश रही लय छे ? अने वे “देहाभिभान” नो अर्थ लेवो ज होय तो, भगवत्सेवा अथवा भगवाननी शरणागतिभां भाधा उत्पन्न करवावाणा देह-अध्यासनी निवृत्ति थवानो अर्थ लर्ह शकाय छे, तेथी अहीं कोई पशु प्रकारनी अस्पष्टता अने कोई पशु विनाश भाटे जग्या नथी.

और, गर्व से उत्पन्न हुआ हमारा उत्कर्ष भी भगवान के ही अधीन है, यह भावना करनी चाहिए । क्योंकि समस्त कार्यों के कारणभूत तत्त्व केवल भगवान ही है । अतः यह समझना चाहिए कि, जिस प्रकार से भगवान ने इतना दे दिया है, वैसे और भी दे देंगे अतः भगवान से कोई कामना करनी वर्थ है, ऐसी भावना रखते हुए उन कामनाओं के मूल कारण गर्व को दूर करके विवेक की रक्षा करनी चाहिए, यह भाव है । उपर्युक्त विशेषण से यह भी ज्ञात होता है कि, भक्त तो प्रभु के दास होते हैं अतः उन्हें स्वतः अपने विषय में अभिभान नहीं होता परंतु दुःसंग से हो जाता है । यह अभिभान भी दासधर्म की भावना रखते हुए एवं अपने भगवान के प्रति अधीनता की भावना रखते हुए त्याग देना चाहिए । यदि कभी ऐसा भी हो जाय कि भगवान अपने आप में भक्त के प्रति अपनी अधीनता दिखाएँ या पिर भक्त से अपनी सेवा करवाएँ, तब भी, प्रभु के प्रति अधीनता की भावना रखते हुए अभिभान तो नहीं करना चाहिए और सर्वथा त्याग देना चाहिए । और यदि भगवान अपनी स्वतंत्र ईच्छा से दंड दें, तो खेद भी नहीं करना चाहिए, यह ‘च’ शब्द का अर्थ है । यहाँ स्वाम्यधीनत्वभावनात् शब्द से देहाभिभान की निवृत्ति नहीं कही जा रही है, ऐसा लाता है क्योंकि जब हम प्रभु के अधीन होने की भावना कर रहे हैं तो देह पर अभिभान करने का तब कहाँ अवकाश रह जाता है ? और यदि “देहाभिभान” का अर्थ लेना ही हो तो, भगवत्सेवा या भगवान की शरणागति में बाधा उत्पन्न करनेवाले देह-अध्यास की निवृत्ति होने का अर्थ लिया जा सकता है, अतः यहाँ किसी भी प्रकार की अस्पष्टता एवं किसी विवाद के लिए अवकाश नहीं है ।

एवमान्तरे रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं बाह्य बदिष्यन्त उक्तीत्याभिभानत्यागेन रक्षणे तत्सिद्ध्यभिद्वापकं भगवदाङ्गारूपमवान्तरफलमिव प्रदर्शयन्तस्तस्यां स्वाज्ञाविरुद्धायामुभयतः पाशारज्जुरिति शङ्कामपि बारयन्तः, प्रयोजकविभागेन स्वरूपविभागेन विषयविभागेन च व्यवस्थामाहुर्विशेषत इत्यादि ।

विशेषतशेदाङ्गा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् । ॥ ४ ॥

उक्तहेतुपञ्चम्या अत्राप्यन्वेति । अन्यथास्य ग्रन्थस्याक्षमिकता स्यात् । सेवादेहेतुत्पक्षेऽपि स्वाम्यधीनत्वभावनस्य तत्राप्यावश्यकत्वात्सहकारित्वमदण्डवारित्वमेव । तथा च तस्मात्तस्त्वकृतसेवादेविशेषतः श्रीमदाचार्याज्ञातो विशेषमाधिक्यं विषयीकृत्य वाऽऽग्रहोपधक्षकात्तो वा दैहिकादाधिक्यं वैलक्षण्यं विषयीकृत्य वा चेद्गवत आज्ञा स्यात्, तदा तत्प्रोजकं विचारणीयं, किमयमन्तःकरणगोचरो न वा ।

आ प्रकारे विवेक ना आंतरिक रक्षणानो प्रकार कही दीधो छे. हेते तेना पछी आचार्यभरणो भाष्य प्रकार कही रह्या छे. उपर कहेली रीति-अनुसार अभिभान छोडी दीधा पछी विवेकनुं रक्षण थवा पर भगवान स्वयं भक्तने सानुभाव भतावे छे

अने स्वयं आज्ञा देवानो आरंभ करे छे. आनाथी ऐ समन्बन्ध छे के हवे “विवेक” सिद्ध थर्थ चूक्हो छे. परंतु भगवदाज्ञा अने आचार्यचरणोनी आज्ञामां डोनी आज्ञानुं पालन करवुं ? आवी परिस्थितिमां आचार्यचरणो “ते भगवद्-आज्ञानुं प्रयोजन शुं छे ?”, “ते आज्ञानुं स्वरूप शुं छे ?” अने “ते आज्ञा क्या विषयमां छे ?” वगेरे वातोना विचारविनिभव द्वारा आवी “आगण कुपो तो पाइछा खाई” लेवी परिस्थितिथी काम लेवानी व्यवस्था “विशेषतः” वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे.

पूर्वना “लोकमां पोताना स्वापीनी अधीनतानुं करण भतायुं हेतु, ले हेतु ने ध्यानमां रापीने आपणे भगवद्सेवा करवानी छे. आज करणे त्यां “स्वाम्यधीनत्वभावनात्” पदमां हेतु-अर्थमां पंचभी विभक्ति थयेली. तेज हेतु अर्थात् पोताना स्वामी प्रत्ये पोतानी अधीनतानी भावनानो हेतु रापीने अही “विशेषतः” पदमां पण पंचभी-विभक्ति मानीने अर्थ करी लो. केमडे ज्ञे ते हेतु नहीं मानीये तो आ संपूर्ण ग्रंथक व्यर्थ थर्थ नजे. अने तेमज्ज, ले भगवहसेवानो हेतु मानीये तो त्यां पण पोताना स्वामी-भगवान प्रत्ये अधीनतानी भावना करवी आपणा भाटे आवश्यक छेज तेथी बने तरफथी एवो अर्थ करवामां कोई आपत्ति नथी. अने आ प्रकारे पोताना स्वामी भगवाननी अधीनतानी भावना करवानी सधे-साधे भगवद्सेवा करता, श्रीमदाचार्यचरणोनी आज्ञाथी कांडक अविक विशेष कोई भगवाननी आज्ञा थर्थ नजे, के पछी भगवान भक्तने कोई कार्य ना भाटे वारंवार आग्रह करे अथवा तो पर्यां ते आज्ञा आपणा शरीरना सुखथी अलग कोई भगवत्सुख भाटे हेथ, त्यारे ते आज्ञाना मूण करणानो विचार करी लेवो लेईचे के-आ आज्ञा “अन्तःकरणोचर” छे के नहीं ? अर्थात् ते आज्ञा वास्तवमां आपणा अन्तःकरणमां स्फुरित थर्थ छे के एमेनेम न आपणी उपरछद्वी बुद्धियी आपणे एवुं विचारीये छीये, आनो विचार करवो लेईचे.

इस प्रकार ‘विवेक’ के आंतरिक रक्षण का प्रकार कह दिया गया है। अब इसके पश्चात् आचार्यचरण बाद्य प्रकार कह रहे हैं। उपर कहीं गई रीति-अनुसार अभिमान त्याग देने के बाद विवेक का रक्षण होने पर भगवान स्वयं भक्त से सानुभाव जताते हैं एवं स्वयं आज्ञा देना आरंभ करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अब ‘विवेक’ सिद्ध हो चुका है। परंतु भगवद्-आज्ञा एवं आचार्यचरणों की आज्ञा में किसकी आज्ञा का पालन करना ? ऐसी परिस्थिति में आचार्यचरण “उस भगवद्-आज्ञा का प्रयोजन क्या है ?”, “उस आज्ञा का स्वरूप क्या है ?” एवं “वह आज्ञा किस विषय में है ?” इत्यादि बातों के विचारविमर्श द्वारा ऐसी “आगे कुंआ तो पीछे खाइ” जैसी परिस्थिति से निपटने की व्यवस्था विशेषतः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

पूर्व के लोकों में अपने स्वामी की अधीनता का हेतु बताया गया था, जिस हेतु को ध्यान में रखते हुए हमें भगवत्सेवा करनी है। इसी कारण वहाँ ‘स्वाम्यधीनत्वभावनात्’ पद में हेतु-अर्थ में पंचमी-विभक्ति हुई थी। वही हेतु अर्थात् अपने स्वामी के प्रति अपनी अधीनता की भावना का हेतु रखकर यहाँ ‘विशेषतः’ पद में भी पंचमी-विभक्ति मान कर अर्थ करे। क्वांपि यदि ये हेतु नहीं मानेंगे तो यह संपूर्ण ग्रंथ ही व्यर्थ हो जायेगा। और भी, यदि भगवत्सेवा का हेतु माने तो वहाँ भी अपने स्वामी-भगवान के प्रति अधीनता की भावना करनी तो हमारे लिए आवश्यक है ही अतः दोनों ही तरह से ऐसा अर्थ करने में कोई आपत्ति नहीं है। और इस प्रकार अपने स्वामी-भगवान की अधीनता की भावना करने के संग-संग भगवत्सेवा करते हुए श्रीमदाचार्यचरणों की आज्ञा से कुछ अधिक विशेष कोई भगवान की आज्ञा हो जाय, या फिर भगवान भक्त को किसी कार्य के लिए वारंवार आग्रह करें या तो फिर वह आज्ञा हमारे दैहिक-सुख से मिन किसी भगवत्सुख के लिए हो, तब उस आज्ञा का मूल कारण विचार कर लेना चाहिए कि-यह आज्ञा अन्तःकरणोंचर है कि नहीं ? अर्थात् वह आज्ञा वास्तव में हमारे अन्तःकरण में स्फुरित हुई है या यों ही हमारी उपरी बुद्धि से हम ऐसा सोच रहे हैं, इसका विचार करना चाहिए।

अजहल्लिङ्गमिदम् । अन्तःकरणमभिप्रायस्तस्य गोचरः विषयभूता अभिप्रायप्रयुक्ता न वेति । किञ्च, अन्तःकरणस्य गोचरः, अन्तःकरणे विषयत्वेन भाता, न तु स्वाप्नी, न वान्यद्व व्याप्तिकेत्स्वरूपमपि विचारणीयम् । न चैवं सकृदर्थ गमयतीति नियमभङ्ग इति शङ्ख्यम्, प्रायिकल्वात् । अन्यथा लिष्ट्योगोच्छेदप्रसङ्गात् । अतोर्थद्वयमप्यत्र सङ्ग्राह्यम् । तत्र यथनःकरणप्रयुक्तवेनान्तःकरणे भाता स्वाप्नीप्रभृतित उत्कृष्टत्वेन च भाता, तदातु दैहिकोद्देहसम्बन्धिनो भिन्नमाझसं विशेषगत्यादि भाव्यमुत्पादं कार्यमिति यावत् ।

“गोचरः” शब्द अजहल्ल-लिंगमां छे. (अजहल्ल-लिंगने समज्ज्वा भाटे आ ग्रंथभा श्रीगुरुलोत्सवलुनी टीकामां आज शब्दनी व्याप्त्या करेली छे, त्यां लेई लेवुं)। “अन्तःकरणोचर” नो अर्थ ए छे के, ते आज्ञामां भगवानना विषयनो कोई अभिप्राय जेडायो छे के नहीं ? अने आ पण ज्ञालीलो के, ते आज्ञा अन्तःकरणमां स्फुरित होली लेईचे, न के स्वप्न द्वारा अथवा न तो कोई अन्य द्वारा, भगवद्-आज्ञानु आ प्रकारस्तुं स्वरूप पण विचारीनेज तेना अनुरूप कार्य करवुं लेईचे. अहीं

अन्तःकरणगोचर आज्ञाना आटला संभावित प्रकारो कही तो हीधा छे परंतु तेनाथी ऐवी शंका न करवी ज्ञेयाचेके “जे शब्दने एकजू वार कह्यो छे, तेनो एकजू अर्थ होयो ज्ञेयचे”, आ नियमनो भंग थयो छे. केमडे प्रायः करीने एक शब्दना अनेक अर्थो करीने प्रासंगिक -अर्थेनज लेवापां आवे छे. जे ऐसुं नहीं करीने तो शिष्ट-प्रयोग करवानी पद्धतिनोज्ञ भंग थर्थ जशे.

तेथी अन्तःकरणगोचरः शब्दना अन्य अर्थोनुं पण ध्यान राखवु ज्ञेयचे. आवापां जे कोई भगवद्-आज्ञा अन्तःकरणमां सुकृति थर्थ होय अने दोई भगवद्-आज्ञा स्वप्नदृप्ती हुल वधारे उत्कृष्टप्रे सुकृति थर्थ होय, तो ये भंतेपां जे भगवद्-आज्ञा शरीर-संबंधित कार्योदी अवग आज्ञा होय, तेने विशेष आज्ञा मानीने तदनुसार कार्य कर्तुं ज्ञेयचे.

गोचरः शब्द अजहत्-लिंग में है। अजहत्-लिंग को समझने के लिए इसी ग्रंथ में श्रीगोकुलात्मजी की टीका में इसी शब्द की व्याख्या की गई है, वहाँ देखे लें। ‘अन्तःकरणगोचर’ का अर्थ यह है कि, उस आज्ञा में भगवान के विषय का कोई अभिप्राय जुडा हुआ है या नहीं ? और, यह भी जानिए कि, वह आज्ञा अन्तःकरण में सुकृति होनी चाहिए, न कि स्वप्न द्वारा अथवा न तो किसी अन्य के द्वारा । भगवद्-आज्ञा का इस प्रकार का स्वरूप भी विचारकर ही तदनुरूप कार्य करना चाहिए । यहाँ अन्तःकरणगोचर-आज्ञा के इतने संभावित प्रकार कहे तो गये हैं परंतु इससे ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि ‘जिस शब्द को एक ही बार कहा गया है, उसका एक ही अर्थ होना चाहिए’ इस नियम का भंग हुआ है । क्योंकि प्रायः करके एक शब्द के अनेक अर्थ करके प्रासंगिक-अर्थ को ही लिया जाता है । यदि ऐसा नहीं करने तो शिष्ट-प्रयोग करने की पद्धति ही भंग हो जायेगी । अतः अन्तःकरणगोचरः शब्द के अन्य अर्थ भी ध्यान रखने चाहिए । ऐसे में यदि कोई भगवद्-आज्ञा अन्तःकरण में सुकृति हुई हो और कोई भगवद्-आज्ञा स्वप्नरूप से और भी उत्कृष्टरूप से सुकृति हुई हो, तो इन दोनों में जो भगवद्-आज्ञा देह-संबंधित कार्यों से भिन्न आज्ञा हो उसे विशेष-आज्ञा मानकर तदनुसार कार्य करना चाहिए ।

तथा चायमर्थः । आज्ञाविषयविचारेण तत्प्रयोजकं निशेयम्, यदि देहिकविषया तदा नाभिप्रायपूर्विका, किन्तु, परीक्षार्थ, तदा ततोऽवगतं विशेषगतिसाधानादिकं न कार्यम् । यदि स्वसेवाविषया, यदि वा सेवाप्रतिवन्धकनिवत्कविषया तदा साभिप्रायपूर्विका, ततस्तदवगतो विशेषः साम्यादिविषयस्ताद्वारा गतिस्थिरदिशान्तरादिविषया, आदिपदेन ताद्वां तत्साधनञ्च कार्यम् । तेन बाह्यतो रक्षणमान्तरस्य स्वनुष्ठितत्वाभिज्ञानमाज्ञाद्वयं विशेषप्रहिराश्रेति सर्वं सामङ्गस्यमिति भावः । पुष्टिमार्गस्य नानाविधस्यापि कृपात एव प्रकटनात् । “सर्वधर्मान् परित्यज्ञः”, “तस्मात्त्वमुद्भवोत्सृज्यः”, “भज तमाविलम्बायापिमि” त्यादिवाक्यैः शरणगतौ सेवायां च भगवत्तात्पर्यात् । “अनन्याश्रित्यनन्तो मामि” तिवास्येन भगवत् एव जीवस्यालिलिर्वाहकत्वावगतेत्र नात्र कोपि शङ्कालेशः ।

आनो अर्थ ये छे के भगवद्-आज्ञा कथा विषयमां थर्थ छे अने ते आज्ञा कोना द्वारा पूर्ण थशे, आ भुद्धाच्योने सर्वप्रथम निश्चित् करी लेवां ज्ञेयचे. जे ते आज्ञा आपलां शरीर-संबंधी विषयो भाटे छे, त्यारे तो तेना अनुरूप कार्य न कर्तुं ज्ञेयचे केमडे तेवां भगवाननो अभिप्राय नथी होतो. पण ऐम भानो के भगवान परीक्षा करवा भाटे आवुं करी रहावे छे. जे ते आज्ञा भगवत्सेवाना विषयमां छे अथवा तो सेवापां प्रतिबंधकोने दूर करवाना विषयमां छे, त्यारे तेने विशेष भगवद्-आज्ञा माननी अने त्यारे तेने अनुरूप विशेष सामग्री, तीर्थयात्रा अने ते आज्ञा ने पूर्ण करवायां सहयोगी साधनो वगेरेन भेगां करी लेवा ज्ञेयचे. तेथी उपर्युक्त प्रकारोदी भावात्पर्यथी विवेकनी रक्षा अने अन्तःकरणमां सुकृति थवापाणी भगवद्-आज्ञा अने भगवान तेमज्ज आचार्यवरशेणो आज्ञामां उत्पन्न थवापाणा विशेषनो परिहार, आ सभस्त मुद्दाच्योनो विचार करी रहेवुं ज्ञेयचे, आ भाव छे. केमडे पुष्टिमार्गना अनेक उप होया छातां पण ते केवण भगवद्-इवा थीज प्रगट थाय छे. “सभस्त धर्मो नो त्याग करीने भात्र भारा शरणामां आव (भ. गी. १८/१६)”, “तेथी हे उद्घव ! सभस्त विषयोनो त्याग करीने भात्र भाड़ शरण ग्रहणा कर (श्री. भा. ११/१२/१४)”, “भजतभाषिल” इत्याहि वाक्यो द्वारा भगवाननु तात्पर्य शरणागति अने सेवामां जे छे. अने “अनन्य भावथी भाड़ वित्तन करतां ज्ञेयो भने भजे छे, तेमना योगक्षेमना भारनुं हुं वहन करे छुं (भ. गी. ६/२२)”, आ वाक्य द्वारा भगवानज्ञ ल्पना सभस्त कार्योना निर्वाहक छे तेथी अहीं कोई पण प्रकारनी लेश-भात्र पण शंका नथी.

इसका अर्थ यह है कि भगवद्-आज्ञा किस विषय में हुई है एवं वह आज्ञा किसके द्वारा पूर्ण होगी, इन मुद्दों को सर्वप्रथम निश्चित् कर लेना चाहिए । यदि वह आज्ञा हमारे देह-संबंधी विषयों के लिए है, तब तो उसके अनुरूप कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमें भगवान का अभिप्राय नहीं होता । किंतु यह मानिए कि भगवान परीक्षा करने के लिए ऐसा करे रहे हैं । यदि वह आज्ञा भगवत्सेवा के विषय में है अथवा तो सेवा में प्रतिबंधकों को दूर करने के विषय में है, तब उसे विशेष भगवद्-आज्ञा मानें और तब उसके अनुरूप विशेष सामग्री, तीर्थयात्रा एवं उस आज्ञा को पूर्ण करने में सहयोगी साधनों आदि का जुगाड़ करना चाहिए । अतः उपर्युक्त प्रकार से बाह्यरूप से विवेक

की रक्षा और अन्तःकरण में सुरुचित होने वाली भगवद्-आज्ञा और भगवान् एवं आचार्यचरणों की आज्ञा में उत्पन्न होनेवाले विरोध का परिहार, इन समस्त मुद्दों का विचार करके रहना चाहिए, यह भाव है। क्योंकि पुष्टिमार्ग के अनेक रूप होने हुए भी वह केवल भगवद्-कृपा से ही प्रकट होता है। “समस्त धर्मों का त्याग करके मात्र मेरी शरण में आ (भ. गी. १८/६६)”, “इसलिपि है उद्घव ! समस्त विषयों का त्याग करके मात्र मेरी शरण करो (श्री. भा. ११/१२/१४)”, “भजतमायिति” इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान् का तात्पर्य शरणागति एवं सेवा में ही है। और “अनन्य भाव से मेरा चित्तन करते हुए जो मुझे भजते हैं, उनके योगक्षेत्र का भार मैं बहन करता हूँ (भ. गी. ९/२२)” इस वाक्य द्वारा भगवान् ही जीव के समस्त कार्यों के निर्वाहक हैं अतः यहाँ किसी भी प्रकार की लेश-मात्र भी शंका नहीं है।

ननु दैहिकातिरिक्तविषयायां भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिदापदन्तरा समाप्ता, तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभावादाज्ञासाऽसिद्धिः, अकारणे तद्वाज्ञात् स्वामिद्वोह हस्युभयतः पाशारज्जुरित्यतस्तत्रोपायमहारपदित्यादि ।

आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्निर्दर्शनम् ॥ ५ ॥

विवेकोयं समाख्यातः

उक्तहेतुत्राप्यनुवर्तते, आपदो गतिः प्रसिरापद्ग्रुतिः, सा आदौ येषां, तादानि यानि कार्याणि, अशक्यार्था इति यावत् । तेषु “स्वाम्यधीनत्वभावनात्” हठस्त्याज्यश्चाग्रहस्त्याज्यः । चार्यर्थे । अयमाशयः, निर्वाहो ह्यभिप्रायस्य लिङ्गम् । प्रतिबन्धकापाते निर्वाहाभावत्साऽङ्गा नाभिप्रेता, परीक्षार्थैवति निश्चेयम् । नहि भगवतो भक्ताऽपदभिप्रेता, न वा कालादयस्तत्र प्रभवन्ति, “ये त्यक्तलोकधर्मार्थं मर्द्य तान्निभर्म्यहमि” ति वाक्यात् । अत आपत्तरामूलाया आज्ञायाः परीक्षार्थत्वेनानभिप्रेततान्नोक्तदोषः ।

परंतु अहीं एक प्रश्न ऐसे थाय छे के, कदाचित् दैहिक-विषयोथी अतिरिक्त भीलु कोई भगवद्-आज्ञा शर्त पाश जाय परंतु ते आज्ञानी साथे कोई विपत्ति पाणि आवी जाय नेनाथी भगवद्-आज्ञा नो भंग करवो पडतो होय, तो त्यारे शुं करवुं ? केम्के जे भगवद्-आज्ञानुं पालन करवा जैसी तो ते विपत्ति ने कारणे तेने पूर्णं नहीं करी शकी अने जे पालन न करी अने तो आपाणा स्वामी-भगवानी द्वेष करवानुं जनी जाय ? तेथी बनेबाजुथी कठिनाई छे. तो आचार्ययरणो आ समस्यानुं समाधान “आपद्” वगेरे शब्दोथी करी रह्या छे.

उपर कहेलु समाधान अहीं पाणि प्रथुक्त थाय छे के, आपाणे आपाणा स्वामीनी अधीनता नी भावना कर्वी ज्ञेयः । “आपदृति” शब्दनो अर्थ छे, आपति आवी जपी. एटेवे कार्यो लेभनामां आरंभथीलु कोई विपत्ति आवी रही होय, तो ते कार्यभां पोतानाः स्वामीने अधीन होवानी भावना करीने हठनो त्याग करी देवो लेई एटेवे ते कार्योने करवानो आग्रह न राखवो ज्ञेयः । अहीं “य” शब्द “अने” ना अर्थभां न थर्हने “पाणि” ना अर्थभां छे. ऐनो आशय ए छे के, जे कोई कार्य कोई पाणि इक्काल वगर पूर्णं थर्ह जाय तो भानवुं लेई एटेवे के तेनामां भगवाननी संभिति छे अने जे प्रतिबन्ध आवी जाय अने कार्य पूर्णं न थर्ह तो भानवुं लेई एटेवे के भगवान तेमां सभ्मत नथी, तेओ परीक्षा करवा भाटे आवुं करी रह्या छे, आ निश्चय करवो लेई एटेवे. केम्के स्वयं भगवानने भक्तो पर आपति आवी जाय, ते अभिप्रेत-शृङ्खलानीय पाणि नथी अने काणि वगेरे पाणि भगवद्भक्तो पर कोई प्रभाव नथी नाभी शकता। “लेच्यो भारा भाटे लोकधर्मोनो त्याग करी हे छे, तेमनुं भरणापोषाण हुं कड़े हुं, (श्री. भा. १०/४६/४)”, आ श्लोकमां आ जे कहुं छे. तेथी जे कोई भगवद्-आज्ञानुं पालन करवामां आपति आवी रही होय तो ते परीक्षा भाटे होय छे अने स्वयं भगवान न ते आज्ञा अभिप्रेत पाणि नथी. तेथी तेनो हठाश्रण न राखवामां कोई दोष नथी.

परंतु यहाँ एक ग्रन्थ यह होता है कि, कदाचित् दैहिक-विषयों से अतिरिक्त और कोई दूसरी भगवद्-आज्ञा हो भी जाय परंतु उसी आज्ञा के साथ कोई विषदा भी आ जाय जिसमे भगवद्-आज्ञा भंग कर देनी पडती हो, तो तब क्या करना ? क्योंकि यदि भगवद्-आज्ञा का पालन करने जाएँ तो उस विषदा के कारण उसे पूर्ण नहीं कर पायेंगे और यदि पालन न करें तो हमारे स्वामी-भगवान से द्रोह करना हो जायेगा ? अतः दोनों ही ओर से कठिनाई है । तो आचार्यचरण इस समस्या का समाधान आपद् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं ।

ऊपर कहा गया समाधान यहाँ भी प्रयुक्त होता है कि, हमें अपने स्वामी की अधीनता की भावना करनी चाहिए । आपद्रति शब्द का अर्थ है, आपदा आ जानी । अर्थात् ऐसे कार्य जिनमें आरंभ से ही कोई विषदा आ जा रही हो, तो उन कार्यों में अपने स्वामी के अधीन होने की भावना करते हुए हठ का त्याग कर देना चाहिए अर्थात् उन कार्यों को करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए । यहाँ ‘च’ शब्द ‘और’ के अर्थ में न होकर ‘भी’ के अर्थ में है । इसका आशय यह है कि, यदि कोई कार्य किसी भी रूपावट के बिना पूर्ण हो जाय तो मानना

चाहिए कि इसमें भगवान की संमति है और यदि प्रतिबंध आ जाएँ और कार्य पूर्ण न होता हो मानना चाहिए कि भगवान को वह संमत नहीं है, वे परीक्षा करने के लिए ऐसा कर रहे हैं, यह निश्चय करना चाहिए। क्योंकि स्वयं भगवान को भक्तों पर विपदा आ जाय, यह अभिप्रेत नहीं होता और न ही काल-आदि भी भगवद्-भक्तों पर कोई प्रभाव डाल सकते हैं। “जो मेरे लिए लोकधर्मों का त्याग कर देते हैं, उनका भरणपोषण में करता हूँ (श्री. भा. १०/४६/४)” इस श्लोक में यही कहा गया है। अतः यदि किसी भगवद्-आज्ञा का पालन करने में कोई आपदा आ जा रही हो तो वह परीक्षा के लिए होती है एवं स्वयं भगवान को वह आज्ञा अभिप्रेत भी नहीं है अतः उसका हठग्रह न रखने में कोई दोष नहीं है।

किञ्चि, हृठेनिष्ठसम्भवात्सेवाप्रतिबन्धः पर्वतस्यतीत्यतो हठो न कार्य इति ज्ञापनाय सर्वथेति । उक्तसमुच्चार्यार्थः । एतेनैवड्करणे हेत्वनुसन्धानाप्रावल्यादिभानाश्च विवेकपोषणम्, हठे तु तुताश्च इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन करणस्त्वपं गङ्गासाधनमुपादिष्टम् । अथ दैहिकादिविषये व्यवस्थामाहुरनायह इत्यादि । सर्वत्र दैहिके तत्सम्बन्धिसम्बन्धिन्यस्मिंश्च कार्ये अनाग्रहः, “कार्य” इति शेषः । चानुकृकार्यान्तरसमुच्चायकः । तथा च, स्वतःसिद्धावतिसुखसाध्ये च न विचारः । सायासमप्योदासीन्येन कार्य, तेन विवेकपोष इति भावः । अत्र हेत्वनुवृत्तिर्विषया ।

अनें तेमज्ज, अे लाजों के आ प्रकारे हठ करवायी अनिष्ट थृष्णे सेवामां प्रतिबंधं पशु थृष्णे शृंगे छे तेथीं हठ न करवी ज्ञेयाद्य-आ भतावया भटे आचार्यरथणोंमें “सर्वथा” पृष्ठ कह्यु छे। उपर्युक्त समस्त विशेषाशुश्री भनतो अर्थ “सर्वथा” शब्दथी भतावयामां आवीं रखो छे। आ प्रकारे आ समस्त विषयोमां “पोताना स्वामीना प्रत्यं अधीनतानी भावनानों हेतुज्ज मुख्य छे अने आज्ज भावनाने निरंतर भनावी राखवायी अभिभाननो नाश थाय छे अने विवेक सुदृढ थाय छे। हठ करवायी विवेक नष्ट थृष्ण लय छे। आ प्रकारे कायिक-हठना त्याग द्वारा विवेकनी रक्षा करवाना साधननो उपदेश करवायामां आव्यो। हवे ते पछी शारीरिक विषयो प्रत्येके द्वारा व्यवहार रख्यो ज्ञेयाद्य, आ आचार्यरथणो “अनाग्रहः” वगेरे शब्दोर्थी कही रह्या छे। “सर्वत्र” नो अर्थ छे - हैलिक कार्योमां; देह संबंधीज्ञनोमां अने संबंधियोर्थी संबंधित अन्य भद्रायां अनाग्रह राख्यो ज्ञेयाद्य। “च” शब्दथी न कहेला कार्यों ने पशु गङ्गी देवा ज्ञेयाद्य, तेमनामां पशु अनाग्रह राख्यो ज्ञेयाद्य अने तेमज्ज, ले कार्य पोतानी भेजेन सुभूर्वक सिद्ध थृष्ण लय तेनामां कोई विचार न करीने तेने सिद्ध थपा देवा ज्ञेयाद्य, तेमा पशु पोतानी तरक्षी ले प्रथत्न करे, तेनामां निष्ठा अथवा इष्टनीं कामना न राखीने उदासीन रहीनेज्ज करे, तेनाथी “विवेकः” सुदृढ थशे, ते भाव छे। अहीं स्वामी ना प्रति अधीनता नो ले हेतु भताव्यो छे, तेनो वारंवार विचार कर्यो ज्ञेयाद्य।

और भी, यह जानिए कि इस प्रकार हठ करने से अनिष्ट होकर सेवा में प्रतिबंध भी हो सकता है अतः हठ नहीं करना चाहिए-इसे बताने के लिए आचार्यरथणों ने सर्वथा पद कहा है। उपर्युक्त समस्त विशेषणों का मिलाजुला अर्थ ‘सर्वथा’ शब्द से बताया जा रहा है। इस प्रकार इन समस्त विषयों में “अपने स्वामी के प्रति अधीनता की भावना का हेतु ही मुख्य है और इसी भावना को निरंतर क्वाए हुए रखने से अभिभान का नाश होता है एवं विवेक सुदृढ होता है। हठ करने पर विवेक नष्ट हो जाता है। इस प्रकार कायिक-हठ के त्याग द्वारा विवेक की रक्षा करने का साधन उपादिष्ट कर दिया गया। अब इसके पश्चात् दैहिक विषयों के प्रति कैसा व्यवहार रखना चाहिए, यह आचार्यरथण अनाग्रहः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सर्वत्र का अर्थ है-दैहिक कार्यों में, देहसंबंधीज्ञनों में एवं संवंधियों से संबंधित अन्य सभी में अनाग्रह रखना चाहिए। ‘च’ शब्द से न कहे अन्य कार्यों को भी गिन लेना चाहिए, उनमें भी अनाग्रह रखना चाहिए। और भी, जो कार्य स्वतः ही सुखर्पूर्वक रिह हो जाय, उसमें कोई विचार न करते हुए उसे सिद्ध होने देना चाहिए। उसमें भी अपनी ओर से जो प्रयत्न करें, उसमें निष्ठा या फल की कामना न रखते हुए उदासीन रहते हुए ही करें, इससे ‘विवेक’ सुदृढ होगा, यह भाव है। यहाँ स्वामी के प्रति अधीनता का जो हेतु बताया गया है, उसका वारंवार विचार करना चाहिए।

नन्चस्त्वेवं लौकिके, परं वैथस्य तु सामान्याङ्गविषयत्वादग्रहः प्रसूज्येतैवेति चेत्तत्रोपायमाहुर्घमेत्यादि धर्माधर्मयोर्विहितनिष्ठयोरग्रं पर्वतसिं रणिमास्तस्य दर्शनं विचारसत्कार्यमिति शेषः । पौराणस्मान्त्रौतानामुत्तरोत्तरमुत्तर्संगतो बलिष्टत्वं, तथैव शारीरात्मभागवत्थर्मणाम्, तेषु स्वयं तादृशे भगवद्वर्में निष्ठितसत्तदविरोधिपरिणामकः कार्यः, इतरो न कार्यः। तथा अधर्मोपि म्लेञ्जसम्भाषणानुसरणादिरूपो बुद्धिमकलुपयन् स्वधर्मनिर्वाहाय चेद्युक्त्या कार्यः, इतरस्तु न कार्य इति । तत्रापि “स्वाम्यधीनत्व भावनाव्यथात्सिद्धिस्थाविवेकपरथणमनुसन्धेयमिति भावः । एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्योपसंहरन्ति । विवेकों समास्यात इति, अयं न त्वन्यो विवेकः । सम्यक् रक्षाप्रकारोपदेशार्पूर्कमाल्यातः प्रमाणयुक्तिगम्भीरभिस्तिभिः कथित इत्यर्थः ।

પરંતુ આવામાં એક પ્રક્રિયા એ થાય છે કે, ચાલો માની લઈએ કે લૌકિક કાર્યો ભા ઉદાસીન રહેતા યેનકેન પ્રકારેણ તેમને કિયાવત તો કરી લઈએ પરંતુ ભગવાનની જે સામાન્ય વૈદિક અજાઓ છે (ઝેમ સંધ્યાવંદન, કર્મકાંડ, યજ્ઞ-ત્યાગ વગેરે, શ્રૌત, સ્માર્ત કર્તવ્યો હોય છે), તેમને તો આગ્રહપૂર્વક જ કરવાં લેઈએ, તેમનામા ઉદાસીન રહેવાનું શું કારણ છે ? તો આ સમસ્યાનો ઉપાય આચાર્યચરણો “ધર્મ” વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે. આ પંડિતનો અર્થ એ છે કે ધર્મ-અધર્મ અર્થાત જે વિહિત છે અને જેનો નિષેધ કરેલો છે, આ બંનેને કરવાથી આગળ જે ઉચિત પરિણામ આવતું હોય, તેને લેઈ વિચારિને કાર્ય કરવું જોઈએ. પૌરાણિક-ધર્મ, સ્માર્ત ધર્મ, શ્રૌત ધર્મ, આ બધાં એક બીજાથી ઉત્તરોત્તર બળવાન છે. તેજ પ્રકારે શરીર-ધર્મ, આત્માના ધર્મો અને ભગવદ ધર્મ પણ એક બીજાથી ઉત્તરોત્તર બળવિષે છે. આ બધામાં, આપણે કેમકે ભગવદ-ધર્મ માં નિષ્ઠ છીએ તેથી જે કાર્ય કરવાથી ભગવદ્ધર્મની વિદ્ધ પરિણામ ન આવતું હોય, તેવું કામ કરવું લેઈએ, જેનાથી વિદ્ધ પરિણામ આવતું હોય, તે ન કરવું જોઈએ. આ પ્રકારે મ્ખેચ્છો જેલે સંભાષણ (અર્થાત તેમની જેલે વાતચીત નો વ્યવહાર), તેમનું અનુકરણ (અર્થાત તેવો જેમ કરે તેમ કરવું) વગેરે જે અધર્મો છે, તેમને સ્વર્ધર્મનો નિર્વાહ કરવા માટે તે પ્રકારે યુક્તિપૂર્વક કરવા લેઈએ, જે પ્રકારે પોતાની બૃદ્ધિઓં કલુચિતતા ન આપી જાય. પણ જે બૃદ્ધ મલિન થવાની આશંકા હોય તો તેમનાથી વ્યવહાર ન કરવો જોઈએ. ત્યાં પણ “પોતાના સ્વામી પ્રત્યે અધીનતાની ભાવના રાખીને, જે પ્રકારે કાર્ય સિદ્ધ થઈ જાય તેવા વિવેક ના રક્ષણનું અનુસંધાન કરતા રહેવું જોઈએ, આ ભાવ છે. આ પ્રકારે વિવેકનું અંગસહિત નિર્દ્ધારણ કરીને હવે આચાર્યચરણો “વિવેકોઽં સમાખ્યાતः” વગેરે શબ્દોથી ઉપસેહાર (સમાધિ) કરી રહ્યા છે. આનો અર્થ એ છે કે આચાર્યચરણોએ જે પ્રકારે વિવેકનું નિર્દ્ધારણ કર્યું છે, આ માગ્યાં વિવેકનું તેજ સ્વરૂપ છે, અન્ય નહીં. “સમાખ્યાતઃ શબ્દનો .અર્થ છે - (સમાખ્યાતઃ શબ્દનો અર્થ જેવા માટે શ્રીગોકુલોત્સવજીની ટીકામાં જુઓ), આચાર્યચરણોએ વિવકની રક્ષણો પ્રકાર પ્રમાણસહિત અને ગૂઢ ભાવો સહિત કલ્યો છે, આ અર્થ છે.

પરંતુ ઐસે મેં એક પ્રશ્ન યાદ ઉઠતો હૈ કે, ચલિએ માન લેં કે લૌકિક કાર્યો મેં ઉદાસીન રહેતે હુએ યેન કેન પ્રકારેણ ઉન્હેં કિયાવત તો કર લેં પરંતુ ભગવાન કી જો સામાન્ય વૈદિક આજ્ઞાએ હૈનું જેસે સંધ્યાવંદન, કર્મકાંડ, યજ્ઞ-ત્યાગ આવિ, શ્રૌત-સ્માર્ત કર્તવ્ય હોને હૈનું ઉન્હેં તો આગ્રહપૂર્વક હી કરના ચાહિએ, ઉનમે ઉદાસીન રહેને કા ક્યા કારણ હૈ ? તો ઇસ સમસ્યા કા ઉપાય આચાર્યચરણ ધર્મ ઇત્યાદિ શબ્દો સે કહ રહે હૈનું | ઇસ પાંક્તિ કા અર્થ યાદ હૈ કે ધર્મ-અધર્મ કા અર્થાત જો વિહિત હૈ એવં જિસકા નિષેધ કિયા ગયા હૈ, ઇન દોનોં કો કરને સે આંગે જો ઉચિત પરિણામ આતા હો, ઉસકો દેખકર વિચાર કર કાર્ય કરના ચાહિએ | પૌરાણિક-ધર્મ, સ્માર્ત-ધર્મ, શ્રૌત-ધર્મ યે સમીએક-દૂસરે સે ઉત્તરોત્તર બળિષ્ઠ હૈનું, ઊર્ધ્વી પ્રકાર શરીર-ધર્મ, આત્મા કે ધર્મ એવં ભગવદ-ધર્મ મી એક દૂસરે ઉત્તરોત્તર બળિષ્ઠ હૈનું | ઇન સર્વમે હમ ક્યાંકિ ભગવદ-ધર્મ મેં નિષ્ઠ હૈનું અનું: જિસ કાર્ય કો કરને સે ભગવદ-ધર્મ કે વિરુદ્ધ પરિણામ આતા ન આતા હો, ઐસા કાર્ય કરના ચાહિએ, જિસસે વિરુદ્ધ પરિણામ આતા હો, વહ નહીં કરના ચાહિએ | ઇસી પ્રકાર મ્ખેચ્છો સે સંભાષણ અર્થાત ઉનસે વાતચીત કા વ્યવહાર ઉનકા અનુકરણ અર્થાતું વી જેસે કરેં, વૈસે કરના ઇત્યાદિ જો અધર્મ હૈનું, ઉન્હેં સ્વર્ધમાં કા નિર્વાહ કરને કે તિએ ઉસ પ્રકાર સે યુક્તિપૂર્વક કરના ચાહિએ, જિસ પ્રકાર સે અપની બૃદ્ધિ મેં ઉનકી કલુષતા ન આ જાય પરંતુ યદિ બૃદ્ધ મલિન હોને કી આશંકા હો તો ઉનરે વ્યવહાર નહીં રહના ચાહિએ | વહાઁભી ‘અપને સ્વામી કે પ્રતિ અર્થાતના કી ભાવના કરતે હુએ, જિસ પ્રકાર સે કાર્ય સિદ્ધ હો જાય વૈસે વિવેક કે રક્ષણ કા અનુસંધાન કરતે રહના ચાહિએ, યહ ભાવ હૈ | ઇસ પ્રકાર સે વિવેક કા અંગસહિત નિરૂપણ કરકે અબ આચાર્યચરણ વિવેકોઽં સમાખ્યાતઃ ઇત્યાદિ શબ્દો સે ઉપરાંહાર (સમાધિ) કર રહે હૈનું | ઇસકા અર્થ યાદ હૈ કે, આચાર્યચરણોને જિસ પ્રકાર કે વિવેક કા નિરૂપણ કિયા હૈ, ઇસ માર્ગ મેં વિવેક કા સ્વરૂપ વહી હૈ, અન્ય નહીં | સમાખ્યાતઃ શબ્દ કા અર્થ હૈ- સમાખ્યાતઃ શબ્દ કા અર્થ દેખને કે તિએ શ્રીગોકુલોત્સવજી કી ટીકા મેં દેરેં આચાર્યચરણોને વિવેક કી રક્ષા કા પ્રકાર પ્રમાણસહિત એવં ગૂઢ ભાવોને સહિત કહા હૈ |

એવં વિવેકો નિરૂપયાતઃ: પરં પ્રાસાદસરં ધૈર્ય નિરૂપયન્તિ ધૈર્યન્તુ વિનિરૂપ્યતે ઇતિ ।

ધૈર્યન્તુ વિનિરૂપ્યતે ।

યૌરોકીર્તિયા વિવેકરક્ષણે જિબ્બોપસ્યજયાદિરૂપસ્ય ધૈર્યસ્ય પ્રસદ્ધત એવ સિદ્ધેસ્તનિરૂપણ ન પ્રાસાદસરમિતિ શર્દીનિરાસાય તુશબ્દ: | વિવેકસ્તરૂપે હૃદયારૂઢે ધૈર્ય સ્વતન એવ ભગેત, પરં યાથાત્યેન સ્વરૂપે અજ્ઞાતેરક્ષણે ચ કદાચિત્કિચ્વિપેયાદપિ, અત્સંદર્થ વિરોધણ નિરૂપ્યતે રક્ષણોપાયસહિતં કથ્યત ઇત્યર્થ: |

આ પ્રકાર વિવેક નું નિર્દ્ધારણ કરીને હવે “ધૈર્યન્તુ વિનિરૂપ્યતે” વગેરે શબ્દોથી ધૈર્યન્તું નિર્દ્ધારણ કરી રહ્યા છે.

અહીં એ સમને કે પહેલાં કહેલી રીતિ-અનુસાર વિવેકનું રક્ષણ કરવાથી જુણા-જનનેદ્રિય ને જુતી સેવાથી ધૈર્ય તો

पोतानी भेजेन आवी जय छे तेथी धैर्यनुं निझपण करवानी फ्रीथी डयां आवश्यकता-जडियात रही जय छे- आ शंकानुं निवारण करवा भाटे “तु” शब्दनो प्रयोग छे. विवेकनुं स्वपृष्ठ हृदयकृष्ण थवा पर भलेने धैर्य पण पोतानी भेले आवी जनुं होय छान पण वैर्धना वास्तविक स्वपृष्ठनुं शान न थवा पर धैर्य पूर्णपृष्ठी सिद्ध नथी थर्थ शक्तुं अने त्याए क्षाद्य क्रोईक अंशभान तेनो नाश पण थर्थ शके छे तेथी हवे आचार्यवरणो तेने विशेषज्ञपृष्ठी निझपित करी रहां छे अर्थात् तेना रक्षणा उपाय सहित करी रहां छे, आ अर्थ छे.

इस प्रकार विवेक का निरूपण करके अब धैर्यनुं विनिरूप्यते इत्यादि शब्दों से धैर्य का निरूपण कर रहे हैं ।

यहाँ यह समझिए कि पूर्व में कही रिति-अनुसार विवेक का रक्षण करने पर जिह्वा-जननेद्रियों को जीत लेने से धैर्य तो अपनेआप ही आ जाता है अतः धैर्य का निरूपण करने की पिर कहाँ आवश्यकता रह जाती है ? इस शंका का निराकरण करने के लिए ‘तु’ शब्द का प्रयोग है । विवेक का स्वरूप हृदयारुद्ध होने पर भले ही धैर्य भी अपनेआप आ जाता हो तथापि धैर्य के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने पर धैर्य पूर्णरूप से सिद्ध नहीं हो पाता और तब कदाचित् किसी अंश में वह नष्ट भी हो सकता है अतः अब आचार्यचरण उसे विशेषरूप से निरूपित कर रहे हैं अर्थात् उसके रक्षण के उपाय सहित कह रहे हैं, यह अर्थ है ।

विवक्षितं धैर्यस्वस्त्रमाहुस्तिदुःखेत्यादि ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते: सर्वतः सदा ।

तकबद्देहवद्धाव्यं जदवद्वोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

आमृते: सर्वतः, “मृति” शब्दो मरणकाललक्षणः । “मृति” जनकं मर्यादीकृत्य सर्वस्मात् सदा सर्वकाले त्रिदुःखसहनं त्रयाणामाधिदेविकादिभेदभिन्नानां कायिकादिभेदभिन्नानां कालकर्मस्वभावजानां “त्रैवर्गिकायासविधाते” ति वृत्रवाक्यात् त्रिवर्गसम्बन्धावलिनानाश्च सहनं मरणमुपेक्षणमप्रतीकारयुक्तोऽनुभवो धैर्यमित्यर्थः ।

अब धैर्यनुं स्वपृष्ठ “निदुःभ्य” वगेरे शब्दोद्धै । कठेवामां आवी रह्यु छे. “आमृते: सर्वतः” शब्दमां “मृति” शब्दमें मृत्युकाणनुं लक्षण छे अर्थात् मृत्युपूर्यत धैर्य राख्यां लोईच्ये, आ अर्थ छे. समस्त परिस्थितिओं भां सदा बधाज्ञ सभये नशेय प्रकारना दुःभोने सहन करावुं “धैर्य” छे. त्राण प्रकारनां दुःभो अर्थात् आधिदेविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक दुःभो अथवा कायिक-वाचिक-भानसिक दुःभो अथवा काल-कर्म-स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख, और “भगवान् जीव के धर्म-अर्थ-काम संबंधी प्रयत्नोने नष्ट करी दे छे (श्री. भा. ६/११/२३)” आ वृत्रासुर द्वारा कहेला वाक्यने अनुसार धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थोंनी असफलताथी थवावाणां दुःभोने सहन करवा के तेमनी उपेक्षा करी देवी अथवा ऐमनो प्रतिरोध न कर्वोज “धैर्य” छे, आ अर्थ छे.

उसी धैर्य का स्वरूप त्रिदुःख इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है । आमृते: सर्वतः शब्द मृत्युकाल का लक्षण है अर्थात् मृत्युपूर्यत धैर्य रखना चाहिए, यह अर्थ है । समस्त परिस्थितियों में सदा सभी समय तीन प्रकार के दुःखों को सहन करना धैर्य है । तीन प्रकार के दुःख अर्थात् आधिदेविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक दुःख अथवा कायिक-वाचिक-भानसिक दुःख अथवा काल-कर्म-स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख, और “भगवान् जीव के धर्म-अर्थ-काम संबंधी प्रयत्नों को नष्ट कर देते हैं (श्री. भा. ६/११/२३)” इस वृत्रासुर द्वारा कहे गये वाक्य के अनुसार धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों की असफलता से होनेवाले दुःख को सहना या उनकी उपेक्षा कर देनी या उनका प्रतिरोध न करना ही “धैर्य” है, यह अर्थ है ।

ननु भगवदीयानामाधिदेविकादिदुःखसम्भावनैव नास्ति, यतः कालादयोपि न, तदुःखहेतवो भवन्ति इति कर्थं तत्सहनोक्तिः, इति चेत्-भगवता धैर्यपरीक्षार्थं कालादयस्तथा प्रेर्यन्ते, अतः पूर्वं भगवद्यादेव न प्रवृत्तिस्तस्तदाङ्गाऽङ्गाभ्यात्प्रवृत्तिरपि सम्भवति, यतो भगवतैवोच्यते “मद्द्याद्वात् वातोयमि” त्यादि, श्रुतिश्च, “भीषणस्मादि” त्यादि । अयं न्यायः कालादयोपि तुल्यः, भगवन्नियम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वादिति ।

परंतु अहीं ऐक प्रश्न ऐ थाय छे के भगवदीयोने तो आधिदेविक वगेरे दुःभोनी संभावना ज्ञ क्यां होय छे ? केम्हे काण-वगेरे पण तेमने दुःभो नथी पहोचाई शकता तो पछी सहन करवानो प्रश्न क्यां रही अय छे ? जे ऐवी शंका थाय तो सभने

१ दुःखदाने समर्थाः, न चलाबलास्थेष्वेव तथा, नेतरेचिति वाच्यं, वाचकाभावात् । भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वात् । ततः कर्थं त्रिदुःखसहनोक्तिरिति चेत् । इत्यथिकं कुत्रिपि ।

के भक्तोना धैर्यनी परीक्षा करवा भाटे भगवानज काल-वगेरे द्वारा बाधाओ उत्पन्न करावे छे. आना पहेला तो भगवान ना भयथील काल ज्वेवा आधक भगवद्वीपोनी पासे पश नथी इरटी शक्ता परंतु भगवद्-आज्ञा लंग थवाना भयथी त्पारे काल पश बाधा उत्पन्न करे छे. केम्डे भगवानेज श्रीभद्रभागवतमां “मारा भयथी वायु चाले छे, भारा ज भयथी सूर्य तपे छे (श्री. भा. ३/२५/४२)”, आ कहुं छे. श्रुति पश “भ्रह्मना भयथी पवन चाले छे (तै. २/८)”, आ वक्ष्य कहे छे. आज वात काण वगेरे पर पश लागुं पडे छे केम्डे काण ज्वेवी बाधाओ पश भगवान द्वारा ज नियंत्रित थाय छे, तेथी काण पश तेमना समान छे.

परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि भगवदीयों को तो आश्रितैविक-आदि दुःखों की संभावना ही कहाँ होती है ? क्योंकि काल-आदि भी उन्हें दुःख नहीं पहुँचा सकते तो पिर सदन करने का प्रश्न कहाँ रह जाता है ? यदि ऐसी शंका हो तो समझिए कि भक्तों के धैर्य की परीक्षा करने के लिए भगवान शो काल-आदि के द्वाग वाधाएँ उत्पन्न करते हैं । इसके पहले तो भगवान के भय से ही काल जैसे आधक भगवदीयों के पास भी नहीं फटक सकते परंतु भगवद्-आज्ञा भेंग द्वाने के भय से तब काल भी वाधा उत्पन्न करता है । क्योंकि भगवान ने ही श्रीमद्-भगवत में “मेरे भय से वायु चलती है, मेरे ही भय से सूर्य तपता है (श्री. भा. ३/२५/४२)” यह कहा है । श्रुति भी “ब्रह्म के भय से ही पवन चलता है । (तै. २/८) यह वाक्य कहनी है । यही वात काल-आदि पर भी लागू होती है क्योंकि काल जैसी वाधाएँ भी भगवान द्वारा ही नियंत्रित होती हैं अतः काल भी इनके समान है ।

ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति तत्कथं परीक्षार्थं तथा करणम्, किञ्च, परीक्षार्थं भक्तेषु दुःखं ददतीत्यपि नोचितमिति चेद्, अत्रापि वदामः । भगवति सर्वज्ञत्वादिधर्मास्तु ज्ञानादिमार्गे साधारणेज्ञायां प्रकटाः । पुष्टिमार्गे विशेषरमणेज्ञायां तद्रीत्यैव सर्वं करोतीति नानुपपत्तिः ।

परंतु अहीं एक प्रश्न ऐ थाय छे के भगवान तो सर्वज्ञ छे, बधुं ज ज्ञाने छे, तो पछी तेओ केम परीक्षा करे छे ? तेमने परीक्षा करवा भाटे आ प्रकारे काण-वगेरेथी बाधाओ उत्पन्न करवानी शुं ज्ञर ? तेमज्, भगवान आ प्रकारे भक्तोनी परीक्षा करवा भाटे तेमने दुःख दे, ऐ पश उचित तो नथीने ? जे आवी रंका होय तो तेनुं सभाधान कही रह्या छे. ज्ञानुं लेर्हिए के, भगवान ज्यारे ज्ञान-कर्म-उपासना वगेरे भागीर्भां तेमनी साधारण इच्छा द्वारा प्रगट थाय छे, त्पारे आं सर्वज्ञता-वगेरे धर्मो तेमनाभां प्रगट थाय छे. परंतु पुष्टिमार्गां तेओ विशेष रभषा करवानी ईच्छार्थी प्रगट थर्थां छे तेथी तेओ ते रीत पठे भक्तोनी ज्ञेते रभषा करे छे.

परंतु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि भगवान तो सर्वज्ञ हैं, सभी कुछ जानते हैं, तो पिर वे क्यों परीक्षा करते हैं ? उन्हें परीक्षा करने के लिए इस प्रकार काल-आदि से वाधाएँ उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता ? और भी, भगवान इस प्रकार भक्तों की परीक्षा करने के लिए उहें दुःख दें, यह भी तो उचित नहीं है ? यदि ऐसी शंका हो तो उसका समाधान कह रहे हैं । जानना चाहिए कि, भगवान जब ज्ञान-कर्म-उपासना आदि मार्गों में उनकी साधारण इच्छा के द्वाग प्रकट होते हैं, तब ये सर्वज्ञता-आदि धर्म उनमें प्रकट होते हैं । परंतु पुष्टिमार्ग में वे विशेष रमण करने की इच्छा से प्रकट हुए हैं अतः वे उसी रीत से भक्तों के संग रमण करते हैं ।

यतः ‘स्वागतमि’त्यादिना अन्तरङ्गभक्तेष्वपि परीक्षेव कृता । द्वारकालीलायामपि “अन्वक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुण्महादिषु, कविचिरन्तं योगेशं तत्त्वज्ञवुभुत्स्ये” ति लोकरीत्यापि तथाकरणमुक्तम् । अपरच, “मदन्यते न जानन्ति नाह तेभ्यो मनागपी” ति भगवता भक्तिमार्गीत्या भक्तातिरिक्ताज्ञानं स्वस्योक्तम्, तेन ज्ञायते भक्तिमार्गे लौकिकरीतिमेव भूयः प्रदर्शयतीत्यतोपि नानुपपत्तिः काचित् । किञ्च, दुःखदानस्यायुक्ततायामप्युच्यते । साक्षात्स्वरूपात्मकाश्रयदानार्थमेव पैर्यपरीक्षा क्रियते इति बालाध्यापनार्थतानवत्, पर्यवसानतः सुखरूपत्वमेवेतिनोक्तशङ्कालेशः ।

आज कारणे, “हे गोपीओ तभां स्वागत छे, परंतु रात्रिनो सभय छे तेथी शीघ्र धरे पाइ। ज्ञाने (श्री. भा. १०/२८/१८....२७)”, वगेरे वाक्सो द्वारा भगवाने पोताना अंतरंग भक्त गोपिकाओनी पश परीक्षा लीयेली. अने द्वारिकालीलायामां पश, “भगवान क्यांक प्रज्ञामां, तो क्यांक अन्तःपुरना भेलेलोमां देख बहली विचरण करी रह्या छे (श्री. भा. १०/१८/३६)”, आ वाक्यानुसार भगवाननो लोक रीतिधी व्यवहार करवो भताइयो छे. अने, “मारा भक्त मारा सिवाय कहुंज नथी जाणता अने हुं तेमना सिवाय कांઈ पश नथी ज्ञानतो (श्री. भा. ६/४/६८)”, आ वाक्यानुसार भक्तिमार्गां रीतिधी ऐ कहयुं छे के, तेओ भक्तोना सिवाय भीजुं कांઈ पश नथी ज्ञानता. आ समस्त वातोथी सभनय छे के तेओ भक्तिमार्गां वारंवार लौकिकरीत थी ज व्यवहार करे छे, तेथी अहीं कांઈ पश अनुचित नथी. अने, हवे जे तेमनुं दुःख आपत्तु अयोग्य छे; ऐ रंका

करी हती, तेनुं समाधान कही रह्या छे. जाणवुं लेईचे के भगवान् पोताना साक्षात् स्वङ्गपातमक आश्रमनुं दान करवा माटेज धैर्यनी परीक्षा करे छे, ठीक तेज प्रकारे लेभ कोई बाणकने भाषापव्वा भाटे हंड आपवामां आवे छे. परंतु आ बधानुं परिणाम सुभङ्गप ज थरे ऐ न भूलो, तेथी अली शंका भाटे लेशमात्र पण स्थान नथी.

इसी कारण “हे गोपियों ! तुम्हारा स्वागत है परंतु गवि का समय है अतः शीघ्र घर लौट जाओ (श्री. भा. १०/२९/१८,.....२७)” इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान् ने अपने अंतर्गत भक्त गोपियाओं की भी परीक्षा ली थी । और द्वारकासिंहा में भी “भगवान् कहीं ग्रजा में तो कहीं अन्तःपुर के महातों में वेष बदल कर विचरण करे रहे हैं (श्री. भा. १०/६९/३६)” इस वाक्यानुसार भगवान् का तोक-रीति से व्यवहार करना कहा गया है । और, “मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता (श्री. भा. ९/४/६८)” इस वाक्यानुसार भक्तिमार्ग की रीति से यह कहा है कि, वे भक्तों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते । इन समस्त बातों से ज्ञात होता है कि, वे भक्तिमार्ग में लैकिकरीति से ही वारंवार व्यवहार करते हैं अतः यहाँ कुछ भी अनुचित नहीं है । और, अब जो उनका दुःख देना अवृत्त है, यह शंका की थी, उसका समाधान कह रहे हैं । जानना चाहिए कि भगवान् अपने साक्षात् स्वरूपात्मक आश्रय का दान करने के लिए ही धैर्य की परीक्षा करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी बालक को पढ़ाने के लिए ढंड डिया जाता है । परंतु इन सब का परिणाम सुखरूप ही होगा यह न भूले अतः यहाँ इस शंका के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है ।

प्रकृतमनुसरामः । धैर्यस्वरूपमुत्त्वा दृष्टान्तपुरः सरं तदक्षणप्रकारमाहुस्तक्रवदित्यादि । भ्राव्यमित्यस्य त्रिष्वप्यन्वयः । तक्रवतो राजकलत्रस्य देहस्तक्रवदेहस्तेन तुल्यं स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः । इयञ्चाख्यायिका --

“हत्वा नृपं पतिमवेष्य भुजङ्गदद्वं
देशान्तरे विधिवशाद्गणिकास्मि जाता
पुत्रं पति समविगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमय तक्रिमिति”

ओके प्रसिद्धा । तथा च, तथा यथा स्वदेहादिपोषणसाधनीभूते तके गते स्वदेहावस्थामनुसन्धाय शोकाभावपुरःसरमप्रतीकारेण दुःखमेव सोढं, तथा स्वस्याधि-भौतिकलैकिकसाधनीभूतधनपुत्रायपगमेपि शोकमकृत्वा अप्रतीकरेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम् । वैष्णवत्वलाभानन्तरं तेवां हेयत्व यतः । अत एव निबन्धेषि श्रीमद्भाग्वतः “प्रतिकूले गृहं त्यजेदि”त्यादिना त्याग एव तेषामुकः ।

हे भ्रस्तुत विषयनी धैर्या करीचे. हे आचार्यवरणो धैर्यनुं स्वङ्गप कहीने तेना २क्षणों प्रकार “तक्रवत्” वगेरे दृष्टांतो द्वारा कही रह्या छे. अली “भाव्यं” शब्दने तक्रवत् जउत, गोपभार्यवत् आ त्रण दृष्टांतोथी भेणवीने अर्थ करवो लेईचे. (अर्थात् टीकाकार कही रह्या छे “भाव्यं” शब्द आ त्रेय दृष्टांतो नी साथे लेडाशे. तदनुभाव अर्थ अभ थरे के तकनी लेभ, ८/१५ लेभ अने गोपभार्यनी लेभ भावना करवी लेईचे. अटेदे छाश वेचवालाणी ते राजपत्नीचे लेप्रकारे पोताना शरीरमां धैर्य धारण कर्मु, तेवी वृ शीत आपणे आपणां देह-ईंद्रियोमां पण धैर्य धारण करवुं लेईचे, आ अर्थ छे.) आना संदर्भमां एक कथा नीरेना श्लोकमां प्रसिद्ध छे. हत्या....तक्रवत् (आ कथाना विस्तार श्रीगोकुलोत्सवलग्नी टीकामां कर्मो छे, तेथी त्यांना लंटी दंतं)।

तेथी आ प्रकारे ते ज्वालिनीचे पोताना शरीरानुं भरणपोषण करवानुं साधन ते छाश ना पडी ज्वा पर पण शोक न करीने ते हुःअनो प्रतिरेष न करता हुःअनेज सहन कर्मु, तेवी वृ रीते आपणे पण आधिभौतिक लौकिक साधनउप धन, पुत्र वगेरेनी हानि थावा पर पण शोक न करीने, प्रतीकार न करता हुःभो ने सहन करवा भाटे ते ज्वालिनी नी लेभ भावना करवी लेईचे. केम्हे वैष्णवता प्राप्त थर्थ गथा पछी तो आ धन, परिवारजन वगेरे हेय-अनुत्तम वृ छे. आज कराणे आचार्यवरणो निर्बन्धमां पण “जे पत्नी-पुत्र वगेरे भगवत्सेवामां प्रतिकूल हीय, तो गृहनो त्याग करी देवो लेईचे (स. नि. /२३३)” आ वाक्यथी तेमनो त्याग करवानुं वृ छु छे.

अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें । अब आचार्यवरण धैर्य का स्वरूप कहकर उसके रक्षण का प्रकार तक्रवत् इत्यादि दृष्टांतों द्वारा कह रहे हैं । यहाँ “भाव्यं” शब्द को तक्रवत्, जडवत्, गोपभार्यवत् इन तीनों दृष्टांतों से मिलाकर अर्थ करना चाहिए । अर्थात् टीकाकार कह रहे हैं “भाव्यं” शब्द इन तीनों दृष्टांतों के संग जुडेगा । तदनुसार अर्थ यह वरेगा कि तक्र की तरह, जड वी तरह एवं गोपभार्य की तरह भावना करनी चाहिए । अर्थात् छाल-विक्रय करनेवाली उस राजपत्नी ने जिय प्रकार अपनी देह में धैर्य धारण किया, उसी के समान हमें अपनी

देह-इंद्रियों में भी धैर्य धारण करना चाहिए, यह अर्थ है। इसके संर्दभ में-एक कथा निम्नलिखित श्लोक में प्रसिद्ध है। हन्ता... ...तक्रम् । इस कथा का विस्तार श्रीगोकुलोत्पवजी की टीका में किया गया है, अतः वहाँ देखें।

अतः जिस प्रकार उस व्यालिन ने अपनी देह का भरणपाणी करने के साथन उस तक्र के गिर जाने पर भी शोक न करते हुए उस दुःख का प्रतिरोध न करते हुए दुःख को सहन ही किया, वैसे ही हमें भी अपने आधिभौतिक लौकिक साधनरूप धन, पुत्र आदि की हानि होने पर भी शोक न करके, प्रतिरोध न करते हुए दुःख सहन करने के लिए उस व्यालिन के जैसी भावना करनी चाहिए। क्योंकि वैष्णवता प्राप्त हो जाने के पश्चात् तो ये धन, परिवारजन इत्यादि हेय ही हैं। इसी कारण आचार्यचरणों ने निबंध में भी “यदि पर्ना-पुत्र आदि भगवन्तेवा में प्रतिकूल हों, तो गृह का त्याग कर देना चाहिए (स. नि. /२३३)।” इस वाक्य से इक्का त्याग करना ही कठा है।

अथवा दृष्टान्तद्वयमिदम् । तत्र पूर्वो व्याख्यातः । द्रितीयस्तु, “देहः क्षम्भन्दातुर्वा निषेकुर्मातुरेव वा ? मातुः पितुर्वा वलिनः क्रतुर्ग्रे: शुनोपि वे” ति देहः साधारणो नात्मीयस्तथा सर्वेषि तत्तदृष्टसम्पादितत्वात्साधारणा इत्येवं तदर्थमनुसन्धेयमित्यर्थः । भौतिककायिकर्मजार्थिकदुःखसहने दृष्टान्त उक्तः । आध्यात्मिकसहने दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति । यथा जडभरते मुक्तिसाधनसत्वेषि तेन पूर्वं मृगशरीरासिजन्यं ततो भ्रान्तुरायादिकृतं भ्रद्रकालिलिदानसमयर्पणन्तं, ततो रहूणशिविकावाहनसामयिकं सोऽन्तं, तथा आध्यात्मिककालजादिदुर्खं सोऽनुं, तद्वद्वान्यम् ।

अथवा तो “तक्रवत्” अने “देहवत्” आ भनेना ऐ दृष्टांतो भानीने अर्थ करी लईचे. तेमां पहेला “तक्रवत्” ना विषयमां तो पूर्वमां व्याख्या करी हींदी छे अने बीज दृष्टांत “देहवत्” ना विषयमां ऐ समझवुं लेर्हचे के—“भतालो के आ देह कोनो छे ? अन्नदाता नो के पितानो ? भातानो के भाताने पाण वज उत्पन्न करवावाणा दाढानो ? के पछी ते बणवान व्यक्तिनो वजे आ देहथी भणपूर्वक कार्य करावे छे के पैसा आपी भरीदवा वाणानो ? भर्या पछी अग्नि अथवा कुतां-रियाण वजे ऐने भावानी आशा लगावी बेहां छे, ऐभ्नो ? (श्री. भा. १०/१०/११)”, आ वाक्यानुसार देह तो साधारण वजे आत्मीयता राख्या योग्य नदी। तेज रीते शरीरस्थी भेंवंधित आ सभस्त परिवारजन वगेरे पाण भाग्यवस्था प्राप्त थथा हीवाने कारणे साधारण वज छे तेथी ते ज्ञे प्राप्त न होय तो पाण वैष्णपूर्वक वज रहेवुं लेर्हचे, आ अर्थ छे। आ दृष्टांत भौतिक के कायिक कर्मों थी उत्पन्न थवावाणा आर्थिक दुःखोने सहन करवामां आप्युं छे। हवे आध्यात्मिक दुःखने सहन करवामां “जडवत्” शब्दही दृष्टांत आपी रहां छे। ले प्रकारे जडभरतलाले भुक्तिनुं साधन उपलब्ध थवा पर पाण सर्वप्रथम भृगशरीरनी प्राभिष्प दुःखने सहन कर्मु, ते पछी बंधु-आधिवोनां दुःखो सहनवाथी लटीने भद्रकालीमां तेमनी भवि चही जवा सुधीना दुःखोने सहन अर्मु, आना पछी राज रहूणशनी पालभी उच्ची वगेरे आध्यात्मिक अने काणथी उत्पन्न थतां दुःखोने सहन अर्मा, तेम तेमनी लेभ भावना करीने आपां दुःखोने सहन करवामां लेर्हचे।

अथवा तो, ‘तक्रवत्’ एवं ‘देहवत्’ इन दोनों को दो दृष्टांत मान कर अर्थ कर लें। इनमें पहले ‘तक्रवत्’ के विषय में तो पूर्व में व्याख्या की जा चुकी है अतः दूसरे दृष्टांत ‘देहवत्’ के विषय में यह समझना चाहिए कि— “भताओ कि यह देह किसकी है ? अन्नदाता की या पिता की ? माता की या माता को भी पैदा करने वाले नाना की ? या फिर उस बलवान व्यक्ति की जो इस देह से बलपूर्वक कार्य करवाता है या दाम देकर खरीदने वाले की ? मरने के पश्चात् अग्नि की या जो कुते-सियार इसे खाने की आशा लगाए वैठे हैं, उनकी ? (श्री. भा. १०/१०/११)।” इस वाक्यानुसार देह तो साधारण ही है, आत्मीयता रखने योग्य नहीं है। उसी प्रकार देह से संवंधित ये समस्त परिवारजन आदि भी भाव्यवस्था प्राप्त हुए होने के कारण साधारण ही हैं अतः ये यदि प्राप्त न हों तब भी धैर्यपूर्वक ही रहना चाहिए, यह अर्थ है। यह दृष्टांत भौतिक या कायिक कर्मों से उत्पन्न होने वाले आर्थिक-दुःख को सहन करने में दिया गया है। अब आध्यात्मिक दुःख को सहन करने में जडवत् शब्द से दृष्टांत दे रहे हैं। जिस प्रकार जडभरतजी ने मुक्ति के साधन उपलब्ध होने पर भी सर्वप्रथम मृगशरीर की प्राप्तिरूप दुःख को सहन किया, तत्पश्चात् वंधु-वौधांवों का दुःख सहने से लेकर भ्रद्रकाली में उनकी बलि चढ़ाई जाने तक के दुःख को सहन किया, इसके पश्चात् राजा रहूण की पालकी ढोई इत्यादि आध्यात्मिक एवं काल से उत्पन्न होने वाले दुःखों को सहन किया, वैसे उनकी तरह भावना करते हुए हमें दुःख को सहन करना चाहिए।

किञ्चैतदेहानन्तरं ★ साक्षात्सेवोपयोगिदेहे विष्णोगादिदुःखेषि तत्सोदुं जडवदधुना भावनीयमित्यर्थः । किञ्च, भाव्यमित्यनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि चोत्पत्ते । तेनाप्रतीकार्यत्वात्निवारणार्थं यत्नो न कर्तव्य इत्यपि सूच्यते । आधिदैविकस्वाभाविकादिसहने

दृष्टन्तमाहुर्गोपभार्यवदिति । भार्यांणां समूहो भार्यम्, गोपानां भार्य गोपभार्य, तेन तुल्यं भाव्यम्, यथान्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरेणातिदुःखं सोद्वा ततो व्यानप्राप्तभगवत्प्राचिन्यसुखमनुभूयापुण्योपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तस्तथाहपि प्रारब्धादिसम्भवमुभयं सोद्वा प्राप्त्यामीति दुःखसहनार्थमनुसन्धेयम् । एवं प्राप्ते प्रायिकत्वनिरासाय समहृष्टान्तं इति सर्वं सुस्थम् ॥ ६ ॥

अने तेमज्जु, ऐ समज्जे के आ लौकिक देह पछी साक्षात् भगवत्प्रसेवामां उपयोगी जे देह प्राप्त थथे, त्यारे ते समये विप्रयोग जेवा दुःखो ने सहन कर्तव्या भट्टे वर्तमानामां जडभरतलुनी भावना करीने दुःखोने सहन कर्तव्या ज्ञेयामे, जेथी पाइल विप्रयोग जेवा दुःखो ने आपणे सहन करी शक्तीमे, आ अर्थ छे. अने “भार्यां” शब्दथी अवश्यंभावी दुःखोने भताव्यां छे, आ समज्जवुं ज्ञेयामे. (अवश्यंभावी शब्दनो अर्थ छे - जे भविष्यमां थवान्तु ज्ञ होय, जेने थवावी रेकी न शक्तातुं होय). आनाथी ए समज्जय छे के, केमके आ बधा दुःखो टाणी शक्ताता नथी तेथी तेमनुं निवारण करवानो प्रयत्न न कर्यो ज्ञेयामे, एम पण सूचित कर्मु छे. हवे आविद्वैष्टिक दुःखोने सहन कर्तव्यामां आचार्यवराङो “गोपभार्यवत्” शब्दथी दृष्टांत आपी रह्यां छे. (“भार्या”) शब्दनो अर्थ थाय छे “पत्नी”) भार्या ना समूहने “भार्य” कहे छे. गोपोनी जे भार्य छे, ते “गोपभार्य” छे; तेमना जेवी भावना करवी ज्ञेयामे. जे प्रकारे जे अन्तर्गृहगता (जे गोपिकाओ ने भगवानाथी भगवा देवामां न आवी अने धरभान्ज रेकी लेवामां आवी) ते “अन्तर्गृहगता” गोपिकाओ छे.) गोपोनी पत्नियोसे भगवद्विरहना अति दुःखने सहन करीने, एकवित्त थर्थ भगवाननुं ध्यान धरीने ते द्वारा भगवद्-सान्निध्य ना सुभनो अनुभव कर्यो अने तेमना पाप-पुण्य समाप्त थर्थ गया अने तेमणे निर्गुण देहथी भगवानने प्राप्त कर्मा, ते प्रकारे हुं पण प्रारब्ध थी उत्पन्न थयेलां पाप-पुण्य भनेने सहन करीने भगवानने प्राप्त करी लीर्णा-आ प्रकारे आ दुःखोने सहन कर्तव्यामां ए अनुसंधान कर्वुं ज्ञेयामे. प्राप्तः एवं नथी होतुं के लुकना पाप-पुण्योनी लेण्डेण भाकी होय, अने तेना पूर्ण थया वगरज्ज भगवत्प्राप्ति थर्थ ज्ञय, परंतु आवी शंका पुष्टिमाणमां नथी, तेथी अही आचार्यवराङो ए “गोपभार्य” दृष्टांत द्वारा कह्युं छे, तेथी आ बधुंज उचित छे ॥ ६ ॥

औं भी, यह समझो कि इस लौकिक देह के पश्चात् साक्षात् भगवत्प्रसेवा में उपयोगी जा देह प्राप्त शोर्णा, तब उस समय विप्रयोग जैसे दुःखों को सहन करने के लिए वर्तमान में जडभरतर्जी की भावना करने हुए दुःख को भगवन करना चाहिए, ताथि. वाद में विप्रयोग जैसे दुःखों को हम सहन कर सकें, यह अर्थ है । और, माव्यं शब्द से अवश्यंभावी दुःखों को बताया गया है, यह समझाना चाहिए । अवश्यंभावी शब्द का अर्थ है, जो भविष्य में होने वाला हो, जिसकी होने से नहीं रोका जा सकता है इससे यह ज्ञात होता है कि, चाँकि ये भर्मा दुःख टाले नहीं जा सकते हैं अतः इनका निवारण करने का बन्न नहीं करना चाहिए, यह भी सूचित किया गया है । अब आविद्वैष्टिक दुःख को महन करने में गोपभार्यवत् शब्द से दृष्टांत दे रहे हैं । ‘भार्या’ का अर्थ होता है ‘पत्नी’ । भार्या के समूह को ‘भार्य’ कहते हैं । गोपों की जो भार्य हैं, वे ‘गोपभार्य’ हैं; उनके जैसी भावना करनी चाहिए । जिस प्रकार जिन अन्तर्गृहगता जिन गोपिकाओं की भावावन से मिलने नहीं दिया गया और गृह में ही रोक लिया गया, वे ‘अन्तर्गृहगता’ गोपिकाएँ हैं गोपों की परिणयों ने भगवद्-विरह के अति दुःख को सहन करके, एकचित्त होकर भगवान का ध्यान करने के द्वारा भगवद्-सान्निध्य के सुख का अनुभव किया और उनके पाप-पुण्य समाप्त हो गये और उन्होंने निर्गुण-देह से भगवान को प्राप्त किया उसी प्रकार मैं भी ग्रान्त्य से उत्पन्न हुए पाप-पुण्य डोनों को सहन करके भगवान को प्राप्त कर लूँगा-इस प्रकार से इन दुःखों को सहन करने के लिए यह अनुसंधान करना चाहिए । प्राप्तः कल्पे गेसा नहीं होता कि जीव के पाप-पुण्यों का तेखाजोखा शेष हो, और उसके पूर्ण होने के बिना ही भगवत्प्राप्ति हो जाय, परंतु मंसी शंका पुष्टिमार्ग में नहीं है, अतः यहाँ आचार्यचरणों ने ‘गोपभार्य’ दृष्टांत द्वारा कहा है, अतः यह सभी कुछ उचित है ॥ ६ ॥

अतः परं यद्यच्छातः प्रतीकारोपस्थितौ यदि सहनाग्रहस्तदा विवेकहानिराज्ञाभज्ञश्च, यदि तृणीकत्वं तदा दुःखनिवृत्त्यासहनाभावेन धैर्यहानिराज्ञाभज्ञश्चेत्पुभयतः पापायां रज्जौ समाधानार्थमाहुः प्रतीकार इत्यादि ।

प्रतीकारो यद्यच्छातः सिद्धश्चाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामासतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यद्यच्छातो भगवदिच्छातः स्वकृतोपायं विनेति यावत् । आयहीति निन्दायामिति । “भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने, संसर्गेस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुवाद्य” इत्यभियुक्तोक्ते: । तथा च, भगवदिच्छाया सिद्धे प्रतीकारे निन्दिताऽग्रहवान भवेत् । एवश्वानाग्रहेऽभिसन्ध्यानात्भावाद्वैर्यस्य सिद्धिर्भगवदिच्छानुसन्ध्यानाद्विवेकस्य आज्ञातः करणादायोपर्यभङ्ग इति सर्वं सामज्ञस्यामिति भावः ।

आ विश्वेषणो पछी है ऐ वातनो विचार कर्तव्यामां आये छे के, जे भगवदिच्छायी ज्ञ आप भेले कोई दुःख दूर थर्थ रह्युं होय अने त्यारे पण दुःखोने सहन करवानो आग्रह राखे, तो विवेक नष्ट थर्थ ज्ञय छे अने भगवद्-आज्ञा नो पण भंग

થાય છે, કેમકે ત્યાં દુઃખ પણ ભગવાનની ઈર્ચછાથી તો દૂર થઈ રહ્યું છે અને તમે દુઃખ સહન કરવાનો આગ્રહ લઈ બેદા છો. અને આ પ્રકારે ને હાથ પર હાથ ધરીને મૌન બેસી જરૂરી એ અને દુઃખને સહેતા જ રહીએ તો દુઃખ નિવૃત્ત થવા સુધી સહનશરીલતાનો બંધ જ તૂટી જાય છે અને વૈર્ય ટકી શક્તિની નથી. એમાં પણ ભગવદ્-આજ્ઞા નો બંગ થાય છે તેથી બંને બાજુથી મુશ્કેલી છે. તો આ સમસ્યાનું સમાધાન “પ્રતીકારાં” વગેરે શાબ્દોથી આચાર્યચરણો કરી રહ્યા છે.

“યદ્યચ્છાતાં” શબ્દનો અર્થ છે— ભગવદ્-ઈર્ચછાથી; એટલે આપણા દ્વારા કરેલા ઉપાયો વગરન્ન દુઃખો દૂર થઈ જતા હોય તો. અહીં ‘આગ્રહ’ શબ્દ ‘ભૂમિ, નિંદા, પ્રશંસા, નિત્યયોગ, અતિશાયન, સંસર્-આટલા અર્થમાં ‘મતુભુ’ પ્રત્યય થાય છે.’, આ વાક્યાનુસાર નિંદાના અર્થમાં છે. (ટીકાકારનું કહેવું એ છે કે, અહીં ‘આગ્રહ’ શબ્દ નિંદાના અર્થમાં પ્રયુક્ત થયો છે. એને એક ઉદાહરણ દ્વારા સમજો. જેમ કહેવાય કે – સર્વદા સત્ય બોલવાનો આગ્રહ રાખવો જારી વાત છે પરંતુ જે એમ કહેવાય કે જે પુષ્ટિભક્તિમાર્ગના સિદ્ધાંતો પર ચાલવાની તૈયારી ન હોય તો વ્યર્થ માં બ્રહ્મસંબંધ લેવાનો આગ્રહ ન રાખવો જરૂરી એ. તો આ વાક્યમાં ‘આગ્રહ’ શબ્દ પ્રશંસાના અર્થમાં પ્રયુક્ત થયો છે કેમકે મનમાં પુષ્ટિમાર્ગ પ્રત્યે સન્નમાન ન હોય અને બ્રહ્મસંબંધ લેવાનો આગ્રહ કરવાનાં આવે, તો તે ઉચિત નથી. અનેજ ધ્યાનમાં રાખીને હવે અહીં ‘આગ્રહ’ શબ્દ પર ધ્યાન આપો. મૂળજ્ઞાલોકનો અર્થ એ છે કે (પ્રતીકારાં...ભવેત) જે ભગવદ્-ઈર્ચછાથી આપમેળે જ દુઃખ દૂર થઈ રહ્યું હોય તો, ત્યારે ભગવદિચ્છાની પણ અભગ્યાણના કરીને દુઃખ સહન કરવાનો આગ્રહ ઉચિત નથી. તેથી ટીકાકાર કહે છે કે અહીં ‘આગ્રહ’ શબ્દ નિંદાના અર્થમાં પ્રયુક્ત થયો છે. અથવા તો એવો અર્થ કરી લઈએ કે આવી લુદ રાખવી ધોગ નથી) તેથી આ પ્રકારે એ સિદ્ધ થયું કે ભગવદ્-ઈર્ચછાથીજ આપમેળે દુઃખ દૂર થઈ રહ્યું હોય તો, ત્યારે પણ દુઃખને સહન કરવાબાળાના નિંદિત આગ્રહવાન ન થયું જોઈએ. અને, આ પ્રકારે આગ્રહિની થવાથી વૈર્ય સિદ્ધ થશે અને ભગવાનની ઈર્ચછાનું અનુસંધાન કરવાથી વિવેક સિદ્ધ થશે. તેથી વિવેક અને વૈર્ય બંને પણ ભગવાનની આજ્ઞા દ્વારા કરવાથી ભગવાનની કોઈ પણ આજ્ઞાનો બંગ નહીં થાય, આ પ્રકારે બધાનો ઉચિત ડ્રથી સમન્વય થઈ જશે, આ ભાવ છે.

ઇન વિશેષજ્ઞોને કે પશ્વાત્, અબ ઇસ બાત કા વિચાર કિયા જાતા હૈ કે, યદિ ભગવદિચ્છા સે હી અપનેાપ કરોઈ દુઃખ દૂર હો જા રહા હો ઔર તબ ભી દુઃખ કો હી સહન કરને કા આગ્રહ રહ્યે, તો ‘વિવેક’ નષ્ટ હો જાતા હૈ એવં ભગવદ્-આજ્ઞા ભી ભંગ હોતી હૈ ક્યારોકિ વહ દુઃખ ભી ભગવાન કી ઇચ્છા હી સે તો દૂર હો રહા હૈ હૈ ઔર આપ દુઃખ સહન કરને કા આગ્રહ કરે જોઈ હૈ | ઔર, ઇસ પ્રકાર યદિ હાથ પર હાથ ધર કર મૌન બૈઠ જાએં ઔર દુઃખ કો સહતે હી રહેં તો દુઃખ નિવૃત્ત હોને તક સહનશરીલતા કા વાંદ્ધ હી ટૂટ જાતા હૈ હૈ ઔર ધૈર્ય ટિક નહીં પાતા | ઇસમે ભી ભગવદ્-આજ્ઞા ભંગ હોતી હૈ અત: દોનોં હી ઓર સે કથિનાઈ હૈ | તો ઇસ સમયા કા સમાધાન પ્રતીકાર: ઇત્યાદિ શબ્દો સે કહા જા રહા હૈ |

યદૂચ્છાતાઃ શબ્દ કા અર્થ હૈ—ભગવદ્-ઇચ્છા સે; અર્થાત્ હમારે દ્વારા કિર ગયે ઉપાયોને કે બિના હી દુઃખ દૂર હો જાતા હો તો | યહું ‘આગ્રહ’ શબ્દ ‘શુપિ, નિંદા, પ્રશંસા, નિત્યયોગ, અતિશાયન, સંસર્-હિતે અર્થો મેં ‘મતુભુ’ પ્રત્યય હોતો હૈ’ ઇસ વાક્યાનુસાર નિંદા કે અર્થ મેં હૈ | ટીકાકાર કા કહના યહ હૈ કે, યહું ‘આગ્રહ’ શબ્દ નિંદાને કે અર્થ મેં પ્રયુક્ત હુઅ હૈ | ઇસે એક ઉદા. કે દ્વારા સમજોં | જૈસે કહા જાય કી—સર્વદા સત્ય બોલને કા આગ્રહ રહણના ચાહિએ | તો ઇસ વાક્યુ મેં ‘આગ્રહ’ શબ્દ પ્રશંસાને કે અર્થ મેં પ્રયુક્ત હુઅ હૈ ક્યોરોકિ સત્ય બોલને કા આગ્રહ રહણના અચ્છી બાત હૈ પરંતુ યદિ યો કહા જાય કી—યદિ પુષ્ટિમાર્ગ કે સિદ્ધાંતોને પર ચલને કી તૈયારી ન હો તો વ્યર્થ મેં બ્રહ્મસંબંધ લેને કા આગ્રહ નહીં રહણના ચાહિએ | તો ઇસ વાક્યુ મેં ‘આગ્રહ’ શબ્દ નિંદા કે અર્થ મેં પ્રયુક્ત હુઅ હૈ હૈ ક્યોરોકિ મન મેં પુષ્ટિમાર્ગ કે પ્રતિ સમ્માન ન હો ઔર બ્રહ્મસંબંધ લેને કા આગ્રહ કિયા જાય, તો વહ ઉચિત નહીં હૈ | ઇસી કો ધ્યાન મેં રહેતે હુએ અબ યહું ‘આગ્રહ’ શબ્દ પર ધ્યાન દેં | મૂલશલોક કા અર્થ યહ હૈ કે (પ્રતીકારાં.....ભવેત) યદિ ભગવદ્-ઇચ્છા સે અપનેાપ હી દુઃખ દૂર હો જા રહા હો તો, તબ ભગવદ્-ઇચ્છા કી ભી અવહેલાન કરકે દુઃખ હી સહન કરને કા આગ્રહ ઉચિત નહીં હૈ | અત: ટીકાકાર કહતે હૈ કે યહું ‘આગ્રહ’ શબ્દ નિંદા કે અર્થ મેં પ્રયુક્ત હુઅ હૈ | યા ફિર યો અર્થ કર લે કે એસી જિદ રહણી ઉચિત નહીં હૈ | અત: ઇસ પ્રકાર યા સિદ્ધ હુઅ કિ ભગવદ્-ઇચ્છા સે હી અપનેાપ દુઃખ દૂર હો જા રહા હો તો, તબ ભગવદ્-ઇચ્છા કી ઇચ્છા કા અનુસંધાન કરને સે વિવેક સિદ્ધ હોગા | અત: વિવેક એવં ધૈર્ય દોનોં હી ભગવાન કી આજ્ઞા દ્વારા કિએ જાને સે ભગવાન કી કિસી મી આજ્ઞા કા ભંગ નહીં હોગા, ઇસ પ્રકાર સે સમી કા ઉચિત રૂપ સે સમન્વય બૈઠ જાયેગા, યહ ભાવ હૈ |

पद्मैवं योन्यम् । जडबद्रोप-भार्यबत् प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेनाग्रही भवेदिति । तथा च, यथा जडो भगवदिच्छाया रहूणेन संबद्ध शिविकावाहनार्थं नाग्रहवान् जातः । यथा च रासमण्डलमण्डनायितं गोपभार्यं विप्रयोगतापे भगवदिच्छाया गुणगानसमरणरूपदर्शनादिश्चप्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत्तः, तथा स्वयमपि स्वाधिकारानुसारेणानाग्रही भवेदित्यर्थः । तत्तमूहस्याऽनाग्रहोपि श्रीमदाचार्यैँ “र्गत्या ललितोदारे” “त्यस्याभासे “यदा पुनरि” त्याभ्य “स्वयमावृत्भूत्” इत्यन्तेन “त्वयि धृतास्व” इत्यत्र “त्वदर्थमेव” त्यारय “तदैव त्यक्षन्ती” त्यन्तेन, “दुस्त्यजस्तत्कथार्थ” इत्यत्र च स्फुटीकृतः । चेदित्यनेन ताकृतापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रभुरेव प्रतीकारं सम्पादयति । न सम्पादयति चेदिति स्वयं तदर्थं न यतेत । तथा सति प्रभोरनभिप्रेतत्वेन कोपाद्वैपरीत्यापत्तिरित्यपि स्वत्येति ।

अथवा तो मूल पंक्तिने अेवी रीते ज्ञेता लंईचे के - वेभ जडभरतल्लाचे अने गोपिकाओऽपे भगवदिच्छायी आप भेणे हूर थवालाणां दुःभोने सहन करवानो आग्रह न राख्यो, तेम आपणे पाण न राख्यो लेईचे. वेभ जडभरतल्लाचे पहेलां तो राज रहूणाशी खालपी उच्चकी परंतु न्यारे भगवदिच्छायी रहूणाशी जडभरतल्लाना वास्तविक स्वकृपनो बोध थयो त्यारे तेमधे जडभरतल्लाने भ्रष्टवानाना भाटे विनंती करी. त्यारे जडभरतल्लाचे पाण तेनी खालपी उच्चकवानो आग्रह न राख्यो. (अही ए पाण समजे के न्यारे डाळचो जडभरतल्लानी भलि यदावाला गया त्यारे भद्रकालीचे स्वयं प्रकट थर्दी ते डाळचोनोज वध करी जडभरतल्लाने भवाव्या. त्यारे जडभरतल्लाचे पाण तेनो विशेष इच्छा न राखी.) अने ले प्रकारे रासमंडलनी आभूषणक्षया गोपिकाओने ज्यारे भगवानानो विप्रयोग थयो त्यारे ते दुःभेणे सहन करवा भाटे तेमने भगवद-इच्छायी भगवान ना गुणगान, इपदर्शन वगेरे भगवद-शक्ति प्राप्त थर्दी अने त्यारे तेमधे भगवाननी इच्छानुसारज व्यवहार क्षें, तेज रीते आपणे पाण आपणा अधिकारानुसार दुःभ सहन करवामां आग्रह न राख्यो. आयार्यचरणोऽपे, “हे उद्घवल ! श्री कृष्णानी आवी याल, तेमनु हास्य, तेमनी भधुर वाणी, आह ! अमे तेमने भूलीचे तो केवी रीते भूलीचे ? (श्री. भा. १०/४७/५१)”, आ लोकना विवरणामां “यदा पुनः” थी आरंभी अने पछी “हे कृष्ण ! तमारी गोपीओ वन-वनमां भट्टीने तमने शोधी रही छे (श्री. भा. १०/३१/१)”, आ लोकना विवरणामां “त्वदर्थमेव” थी आरंभी “तदैव त्यक्षन्ति” शब्दो सुधी ना वाक्यमां अने “अमे इच्छाचे तो पाण कृष्णानी चर्चा करवानु नथी छोडी शकतां (श्री. भा. १०/४७/१७)”, आ लोकना विवरणामां स्पष्ट कर्मु छे. यूगलोकामां आवेत “चेत्” शब्दाथी ए समजत छे के, ज्ञे आयो तीव्र भगवद-विरह ताप होय तो भगवान पोतानो आश्रय आपवा भाटे पोतेज ते दुःभेणे हूर करी हे छे. तेथी ज्ञे तेओ पोतेज ते दुःभेणे हूर न करे तो ल्यो पोते कोई प्रयत्न न करेचे लेईचे. ज्ञे ल्युव स्वयं प्रथत्न कररो तो भगवानने स्वीकार्य नथी तेथी भगवान ना शोधथी तेने कोई विपरीत आपत्तिनो पाण सामनो करवो पडी शके छे, आ सूचित करवामां आवी रह्यु छे.

अथवा तो मूल पंक्ति की ऐसे जोड लें कि - जैसे जडभरतजी ने भगवद-इच्छा से अपने आप दूर होने वाले दुःख को सहन करने का आग्रह नहीं रखा, वैसे हमें भी आग्रह नहीं रखना चाहिए । जैसे जडभरतजी ने आरंभ में तो राजा रहूणां की पालकी ढोई परंतु जब भगवद-इच्छा से रहूणां को जडभरतजी के वास्तविक स्वरूप का बोध हुआ तब उसने जडभरतजी से ब्रह्मज्ञान के लिए विनति की । तब जडभरतजी ने भी उसकी पालकी ढोने का आग्रह नहीं रखा । यहां यह भी समझें कि जब डाकुओं ने जडभरतजी की बलि चढानी चाही, तब भद्रकाली ने स्वयं प्रकट होकर उन डाकुओं का ही वध करके भरतजी को बचा लिया । तब जडभरतजी ने भी उसका विशेष करके बलि ही चढ जाने की इच्छा नहीं रखी । और, जिस प्रकार रासमंडल की आभूषणरूपा-गोपिकाओं को जब भगवान का विप्रयोग हुआ तब उस दुःख को सहन करने के लिए उन्हें भगवद-इच्छा से भगवान के गुणगान रूपदर्शन आदि भगवद-शक्ति प्राप्त हुई और तब उन्होने भगवान की इच्छानुसार ही व्यवहार किया, उत्ती प्रकार हमें भी अपने अधिकारानुसार दुःख सहन करने में आग्रही नहीं होना चाहिए, यह अर्थ है । उन गोपिकावृदं का इस प्रकार से दुःख को सहने में आग्रह न रखना आचार्यचरणों ने “हे उद्घवजी ! श्रीकृष्ण की ऐसी चाल, उनका हास्य, उनकी मधुमयी वाणी, आह ! हम उन्हे भूलें तो कैसे भूलें ? (श्री. भा. १०/४७/५१)” इस श्लोक के विवरण में ‘यदा पुनः’ से आरंभ करके और फिर “हे कृष्ण ! तुम्हारी गोपियां वन-वन में भटककर तुम्हें ढूळ रही हैं (श्री. भा. १०/३१/१)” इस श्लोक के विवरण में ‘त्वदर्थमेव’ से आरंभ करके “तदैव त्यक्षन्ति” शब्दों तक के बावज में और “हम चाहने पर भी कृष्ण की चर्चा करना नहीं छोड सकतीं (श्री. भा. १०/४७/१७)” इस श्लोक के विवरण में स्पष्ट किया है । मूलश्लोक में आए “चेत्” शब्द से यह ज्ञात होता है कि, यदि ऐसा तीव्र भगवद-विरहताप हो तो भगवान अपना आश्रय देने के लिए स्वयं ही उस दुःख को दूर कर देते हैं । और यदि वे स्वयं ही उस दुःख

को दूर न करें तो जीव को खुद कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि जीव स्वयं प्रयत्न करेगा तो वह भगवान् को स्वीकार्य नहीं है अतः भगवान् के क्रोध से उसे कोई विपरीत आपत्ति का भी सामना करना पड़ सकता है, यह सूचित किया जा रहा है।

अतः परं कायिकं रक्षासाधनमुपदिशन्ति भार्यादीनामित्यादि । भार्यादीनामिति तदुण्संविज्ञानो बहुतीहिः । तेन येत्यन्तस्तननियमास्तेषाम् । अन्येषां विभक्ताविभक्तबान्धवादीनामुदासीनानाथं, असतो दुर्जनस्य, “दुःस्मर्गिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रममिति” ति बाक्याद् दुःसहत्वात्पृथग्निर्देशः । एतेषामाक्रमं तिरस्कारं सहेत् । आक्रमादस्य योगेन पादप्रहरापर्यन्तेता बोध्यते । सहेदिति अनुदातेत्वलक्षणस्यात्मनेपदस्या-नित्यत्वात्परस्मैपदम् । ब्रह्मचारिभृतीनामन्येषामेकाकिनानाथं भार्याद्यभावाद्वन्द्वभावाच्च त्रितयनिर्देशः । तेषां सेवाप्रतिकूलत्वे त्यागरूपमेव सहनम् । स्वविवेकमात्राप्रतिकूलये च तदप्रतीकरणं तिरस्कारमर्यग्नेव सहनं तदाच्चेरित्यर्थः । अत्रोपायो निवन्धु उपदिष्टः । “सर्वं सहेत् परुषं सर्वेषां कृष्णभावनादि” ति । “एतदन्तः स्थितः कृष्ण एवास्मानुपदिशती” ति च व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

आटां विश्लेषणे पछी हुवे आचार्यराष्ट्रो आपाणे कायिक धैर्यनी रक्षा करवानां साधनो “भार्यादीनां” वगेरे शब्दोर्थी उपदिष्ट करी रह्यां छे. “भार्यादीनां” पदमां तदुण्संविज्ञान-बहुतीहि सभास छे. आनो अर्थ ए छे के पत्नी, पुत्र वगेरे जेवा परिवारजन, जेमनां उपर आपाणु पूँज नियंत्रण छे, तेमनो तिरस्कार पशु सहन करवो जेईचे. ऐना सिवाय जे गृह-संपत्तिनी वहेचाणी पछी अलग थई गया छे अथवा जेओ नथी थया अथवा तो जे परिवारना सञ्चो आपाणा भगवद् धर्मो प्रत्ये उदासीन छे, ते बधानो तिरस्कार सहन करवो जेईचे, आ अर्थ छे. आज प्रकारे “असतः” ऐटले दुष्टज्ञनो, ऐवानो पशु तिरस्कार सहन करवो जेईचे. श्रीभद्रागतना, “हे, भगवन् ! हुं दुर्जनो ना द्वारा करेता तिरस्कारने अत्यंत असह्य समजुं छुं (११/२२/५८)”, आ वाक्य द्वारा दुष्टज्ञनो द्वारा करेलुं आक्षमाण असहनीय होय छे, तेथी तेने विशेषज्ञपती असत पद आपी बताव्यु छे. आ बधाना “आक्रमं” ऐटले तिरस्कारने सहन करवो जेईचे. अहीं ‘आक्रमं’ पद द्वारा पगधी प्रहार करवा भुविना तिरस्कारने सहन करवानुं कहुं छे. “सहेत्” शब्दनो अर्थ छे- “तमे सहन करो” तेथी आ वाक्य कोई बीलु व्यक्ति भाटे कहेवामां आवी रह्यु छे, तेनिक्षित थाय छे अने तेथी ते आत्मनेपद न होई परस्मैपद छे. केहे आत्मनेपदनुं लक्षणातो पोतानामाङ्ग लागे छे. अहीं ए पशु जाणवुं जेईचे के ब्रह्मचारी व्यक्तियो जेवा बीज ऐकाकी लूपन व्यतित करवावाणीओनां पत्नी-पुत्र वगेरे तो होता नथी अने न के तेमना कोई बंधु-बांधव होय छे तेथी अवा व्यक्तियोने भाटे आचार्यराष्ट्रोर्थे “अन्येषां” शब्दही कहुं छे. अर्थात् पत्नी-पुत्र वगेरे परिवारजनो सिवाय बीज व्यक्तियोनो तिरस्कार सहन करवो जेईचे, आ अर्थ छे. जे तेचो सेवामां प्रतिबंधक थतां होय तो तेमनो त्याग ज करी हेवो जेईचे. आ त्याग करवोज सहन करवुं छे, अने जे तेचो डेवण आपाणा भाटेज प्रतिकूण थतां होय तो तेमनो विसेध न करीने तेमना तिरस्कारने सहन करी लेवो जेईचे, आ अर्थ छे. आनो उपाय आचार्यराष्ट्रोर्थे निबंधमां आप्तो छे. “कृष्णसेवानो निर्वाह करवा भाटे बधाना कठोर व्ययोने सहन करी लेवां जेईचे (स. नि. /२३५)”, आ श्लोकीनी व्याख्यामां आचार्यराष्ट्रोर्थे- “श्रीकृष्णज्ञ भने आ प्रकारे अक्षा करी रह्या छे के, भहिर्भु धर्थने न रहेवुं जेईचे- आ प्रकारे भनमां समझ लेवुं जेईचे (स. नि. प्र. /२३५)”— आ प्रकारथी व्याख्या करेली छे ॥ ७ ॥

इतने विश्लेषणों के पश्चात् अब आचार्यचरण हमें कायिक-धैर्य की रक्षा करने का साधन भार्यादीनां इत्यादि शब्दों से उपदिष्ट कर रहे हैं । **‘भार्यादीनां’ पद मैं तदुण्संविज्ञान-बहुतीहि समाप्त है ।** इसका अर्थ यह है कि, पत्नी-पुत्र आदि जैसे परिवारजन, जिन पर हमारा पूरा-पूरा नियंत्रण है, उनका तिरस्कार भी सहन करना चाहिए । इनके अतिरिक्त जो गृह-संपत्ति के बैंगरे के पश्चात् अलग हो गये हैं या जो नहीं हुए हैं अथवा तो जो परिवार के सदस्य हमारे भगवद्-धर्मों के प्रति उदासीन हैं, उन सभी का तिरस्कार सहन करना चाहिए, यह अर्थ है । इसी प्रकार असतः अर्थात् दुष्टज्ञ; ऐसों का भी तिरस्कार सहन करना चाहिए । श्रीमद्-भगवत् के ‘हे भगवन् । मैं दुर्जनों के द्वारा किए गये तिरस्कार को अत्यंत असह्य समझता हूं (११/२२/५९)’ इस वाक्य के द्वारा दुष्टज्ञों द्वारा किया गया आक्रमण असहनीय होता है, अतः इसे विशेषरूप से अलग पद देकर निर्दिष्ट किया गया है । इन सभी के आक्रमं अर्थात् तिरस्कार को सहन करना चाहिए । यहाँ ‘आक्रमं’ पद के द्वारा पैरों से किए गये प्रहार तक के तिरस्कार को सहन करना बताया जा रहा है । ‘सहेत्’ शब्द का अर्थ होता है, ‘तुम कहन करो’ अतः यह वाक्य किसी दूसरे व्यक्ति के लिए कहा जा रहा है, यह निश्चित होता है और इसी कारण यह आत्मनेपद न होकर परस्मैपद है । क्योंकि आत्मनेपद का लक्षण तो स्वयं में ही घटता है । यहाँ यह भी जानना चाहिए कि ब्रह्मचारी व्यक्तियों जैसे दूसरे एकाकी जीव व्यतीत करने वालों के पत्नी-पुत्र आदि तो होते नहीं और न ही उनके कोई बंधु-बांधव होते हैं अतः ऐसे व्यक्तियों के लिए

आचार्यचरणों ने अन्येषां शब्द से कहा है। अर्थात् पत्नी-पुत्र आदि परिवारजनों के अतिरिक्त अन्य दूसरे भी व्यक्तियों का तिरस्कार सहन करना चाहिए, यह अर्थ है। यदि ये सेवा में प्रतिवंधक होते हों तो इनका त्याग ही कर देना चाहिए, यही त्याग करना ही सहन करना है। और यदि वे केवल हमारे लिए प्रतिकूल होते हों, तो उनका विरोध न करते हुए उनके तिरस्कार को सहन कर सेना चाहिए, यह अर्थ है। इसका उपाय आचार्यचरणों ने निवंध में दिया है। “कृष्णसेवा का निर्वाह करने के लिए सभी के कठोर वचनों को सहन कर लेना चाहिए (स. नि. /२३५)।” इस श्लोक की व्याख्या में आचार्यचरणों ने “श्रीकृष्ण ही मुझे इस प्रकार से आज्ञा कर रहे हैं कि, बहिर्मुख होकर नहीं रहना चाहिए- इस प्रकार से मन में समझ लेना चाहिए (स. नि. प्र. /२३५)।” इस प्रकार से व्याख्यायित किया है ॥ ७ ॥

एवमाक्रमसहनोपदेशे गृहस्थितिरागता । तथा सतीन्द्रियकार्यकरणमर्थाक्षिस्तं, तत्राऽसक्तौ च धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाश इति तत्त्वित्यर्थं साधनान्तरं रक्षणस्योपदिशन्ति स्वयमित्यादि ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अश्रूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

स्वयमित्युद्यम्य आग्रहेणोति यावत् । इन्द्रियकार्याणि ज्ञानक्रियाप्रथानान् भोगान् कायवाङ्मनसां कायवाग्भ्यां सहितं मनस्तेन सर्वात्मना त्यजेत् । क्रीडायामपि नाददीत, तेषामत्यन्तवाधकत्वादित्यर्थः । वाधकत्वञ्च, “विषयान्त्यायतः पुंस” इत्यादिना गीतायां स्फुटमेव । कायेन त्यागो भोग्यानुपादानम् । वाचा त्यागः शुभा शुभत्वाकीर्तनम् । मनसा त्यागस्तविःसृहत्वम् ।

आप्नी रीते तेमना तिरस्कारने सहन करवाना उपदेश द्वारा ऐ सिद्ध थाय छे के भक्त धरमां रही रह्यो छे. उपेक्षे ज्ञानक्रियाप्रथानान् भोगान् कायवाङ्मनसां कायवाग्भ्यां सहितं मनस्तेन सर्वात्मना त्यजेत् । क्रीडायामपि नाददीत, तेषामत्यन्तवाधकत्वादित्यर्थः । वाधकत्वञ्च, “विषयान्त्यायतः पुंस” इत्यादिना गीतायां स्फुटमेव । कायेन त्यागो भोग्यानुपादानम् । वाचा त्यागः शुभा शुभत्वाकीर्तनम् । मनसा त्यागस्तविःसृहत्वम् ।

“स्वयं” ईत्यादि शब्दोनो अर्थ छे-स्वयं प्रयत्न करीने अथवा आग्रहपूर्वक ईंद्रियोभ्यां रहेली आसक्ति त्याग करवो ज्ञानेन्द्रियो द्वारा करवामां आवता भोगोने तेमज्ज कर्मन्द्रियो द्वारा करवामां आवता भोगोने काया-वाणीनी लेड मन द्वारा बधी रीते छोडी देवा ज्ञानेन्द्रियो भोगोभां भन न ज लगाइवु ज्ञेत्यर्थे परंतु हास्य-विनोदभां पल्स ईंद्रियलोगनी तरफः प्रवृत्त न थवु ज्ञेत्यर्थे केम्भे ते भगवत्प्राप्तिभां अत्यंत वाधक छे, आ अर्थ छे । ऐ केटला बाधक छे, ऐनु स्पष्टीकरण भगवद्-गीताना “ईंद्रियविषयोनुं चिंतन करवाथी मनुष्यनी तेमनामां आसक्ति थर्ट ज्ञय छे. आसक्ति थी काम अने पछी कामथी छोथ उत्पन्न थाय छे (भ. गी. २/६२)”, आ वाक्य द्वारा थयुं छे. शरीर द्वारा ईंद्रिय विषयोनो त्याग करवानो अर्थ छे-शरीरने भोग्यपदार्थ न आपवो. वाणी द्वारा ईंद्रियविषयोनो त्याग एटेसे-शुभ के अशुभ परिस्थितिओभां भौन रहेवुं. अने मन द्वारा ईंद्रियलोगोनो त्याग करवानो अर्थ छे-साङ्गे के नरसुं, कुरांयनी ईच्छा न राख्यावी ।

इस प्रकार इनके तिरस्कार को सहन करने के उपदेश द्वारा यह सिद्ध होता है कि भक्त गृह में रह रहा है क्योंकि यदि वह गृह ही में न रहता हो तो पत्नी-पुत्र आदि परिवार जनों के तिरस्कार को सहन करने का प्रश्न ही नहीं उठता । और यदि वह गृह में रह रहा है तो ईंद्रियों भी उस पर अवश्य हावी होंगी ही । और यदि ऐसा होता है तो वह इनमें आसक्त होगा और उसके धैर्य का स्वरूप या धैर्य की सामर्थ्य नष्ट होगी । अतः इस समस्या के निवारण के लिए अब आचार्यचरण स्वयं इत्यादि शब्दों द्वारा धैर्य के रक्षण का दूसरा साधन उपदिष्ट कर रहे हैं ।

स्वयं शब्द का अर्थ है-स्वयं प्रयत्न करके या आग्रहपूर्वक ईंद्रियों में रही आसक्ति का त्याग करना चाहिए। इन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् का अर्थ यह है कि, ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा किए जाते भोगों को एवं कर्मन्द्रियों के द्वारा किए जाते भोगों को कायावाणी के सहित मन के द्वारा सभी प्रकार से त्याग देने चाहिए । जानवृश कर तो ईंद्रियों में मन नहीं ही लगाना चाहिए परंतु हँसी-मजाक में भी ईंद्रियभोग की तरफ प्रवृत्त नहीं होना चाहिए क्योंकि ये भगवत्प्राप्ति में अत्यंत वाधक हैं, यह अर्थ है । ये कितने बाधक हैं, इसका स्पष्टीकरण भगवद्-गीता के “ईंद्रियविषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्त हो जाती है । आसक्ति से काम और पिर काम

१ सर्वोपि द्वन्द्वो विभाषैकवत् ।

से क्रोध उत्पन्न होता है (भ. गी. २/६२)।” इस वाक्य द्वारा स्पष्ट ही है। शरीर के द्वारा इंद्रियविषयों को त्यागने का अर्थ है—शरीर को भोग्यपदार्थ न देना। वाणी के द्वारा इंद्रियविषयों को त्यागने का अर्थ है—शुभ या अशुभ परिस्थितियों में मैन रहना। और मन के द्वारा इंद्रियभोगों का त्याग करने का अर्थ है—अच्छे या बुरे किसी की भी इच्छा न रखना।

न चैवमुहम्यं त्यागे आग्रहापातेन विवेकहानिः प्रसन्नेते शङ्कीयम् । आग्रहस्योपभोग्यत्वाद्यंश एवोपक्षयेण विवेकभद्राऽसमर्थत्वात् । ननु “स्वयं त्यजे” दित्यनेन याच्छिकस्यात्मागः प्राप्तः, उचितं चैतत् । अन्यथा शरीरयात्रानिर्वहामावेन साधनस्याप्यनुष्ठानशक्तिप्रसङ्गात् । अत्यक्ते च याच्छिके तस्यापि विषयत्वेन बन्धनस्वभावत्वादिन्द्रि-याण्याकर्षणीयानि, तथा सती”न्द्रियैवंविषयाऽऽकौटैर्”ति प्रनाड्या सर्वनाशप्रसङ्गः । न च ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं शक्यः । आरम्भदासायां तात्क सामर्थ्यभावात् । “स्वभावविजयः शौर्यं”भित्ति वाक्येन तस्य शूरकार्यत्वात् । अतः कर्थं धैर्यरक्षेत्यत्सतत्रोपायमा-हुरशूरेणापीत्यादि । स्वभावमिन्द्रियाणि च जेतुमसमर्थेनापि स्वस्यासामर्थ्यं भाववित्ता इन्द्रियकार्यत्वजनं कर्त्तव्यम् । किं करोमि, मन्दभाग्योहमसमर्थं एतावत्प्रयाप्ना मया पालयितुं न शक्यते, इत्यादि भावनीयम् । एवं प्रयत्नमानस्य ग्लानाविनिद्रियाणां कौड़चे, विषयैषपि तथा अनाकर्षात् क्रमेण तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अहीं ए शंका करवी भरोबहु नन्थी के, जे आ प्रकारे प्रयत्न करीने काया-वाणी-मन द्वारा आग्रहपूर्वक त्याग करवानो उपदेश करवामां आवे छे तो तेनाथी विवेकनो नाश थरो, केम्हे पहेला ऐ उपदेश आप्यो हतो के छुवे स्वयं कोई प्रकारनो प्रयत्न करवानो आग्रह न करीने बधुंज भगवद्विद्यापर छोडी देवुं ज्ञेईये, आज विवेक छे अने अहीं तमे प्रयत्न करवानो आग्रह राख्यानुं कहो छो ? जे ऐवा शंका होय तो, समझुं ज्ञेईये के सांसारिक विषयभोगेनो त्याग करवानो जे आग्रह राख्यामां आवे तो ऐवा प्रयत्नस्थि विवेक नष्ट नन्थी थतो. मूल पंक्तिस्थि ऐ अर्थं पशु समन्बन्ध छे के भगवद्विद्याथी जे भुज्याम थर्थ रह्युं छे, तेनो त्याग न कर्वो ज्ञेईये अने ते उनित पशु छे केम्हे जे ते सुभनो पशु त्याग करी दृष्टिशुं तो शरीरनो निर्वाहज डेवी रीते थरो अने आपाणे विवेक-धैर्य वगेरे साधनो करवामां पशु अशक्त थर्थ जैर्दृश्यं तेथी ते ढीक छे परंतु ज्यारे भगवद्विद्याथी आप भेनेज प्राप्त थयेत सुभनो आपाणे त्याग नन्थी करता त्यापे केम्हे ते सुभ पशु विषयभोगेनुं छे तेथी बंधनकारी तो थाय ज छे अने ईंद्रियोने पोतानी तरक्क आकर्षित करे ज छे. आवुं थथा पर “जे लोको विषयवित्तनमां लाभ्या रहे छे, तेभनी ईंद्रियो विषयभोगो तरक्क भेचाई ज्य छे अने पशु खेची ले छे (श्री. भा. ४/२२/३०)”, आ वाक्यानुसार सर्वनाश थर्थ ज्य छे. अने तेनाथी पोतानी रक्षा करवा भाटे ऐवा सांसारिक विषयभोगां आकृष्ट स्वभावने छुतपो-पशु संख्य नन्थी केम्हे आरंभदासामां आवुं सामर्थ्य तो होतुं नन्थी. “पोताना स्वभावपर विजय प्राप्त करी लेवो ज वीरता छे. (श्री. भा. ११/१८/३७)”, वाक्यानुसार पोताना स्वभावने लृती लेवो तो शूरता छे. आ परिस्थितियोभां धैर्य डेवी रीते सिद्ध थाय ? आनो उपाय आचार्यराजु “अशूरेषापि” वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. आ पंक्तिनो अर्थ अे छे के व्यक्ति पोताना स्वभावने के ईंद्रियोने लृतवामां असमर्थ छे, तेषो पशु भगवाननी सामे पोतानी असमर्थतानी भावना करीने ईंद्रियोना विषयभोग संबंधी कार्यो त्यागवा ज्ञेईये. “हुं शुं कङ् ?”, “हुं भंदभागी धुं, असमर्थ धुं, आपात्ती आक्षानुं पशु धुं पालन करी शक्तो नन्थी” आ प्रकारथी भावना करवी ज्ञेईये. आ प्रकारे जे प्रयत्न करे छे, तेनी तेवी ज्वानिथी ईंद्रियो दुक्षित थर्थ ज्य छे अने त्यापे ते सांसारिक विषयो द्वारा पशु खेचातो नन्थी, तेथी कमशः धैर्य सिद्ध थर्थ ज्य छे, आ अर्थ छे ॥ ८ ॥

यहाँ यह शंका करी उचित नहीं है कि, यदि इस प्रकार प्रयत्न करके काया-वाणी-मन द्वारा आग्रहपूर्वक त्याग करने का उपदेश किया जा रहा है तो इससे ‘विवेक’ नष्ट होगा, क्योंकि पहले यह उपदेश दिया गया था कि जीव को स्वयं किसी प्रकार का प्रयत्न करने का आग्रह न करके सभी कुछ भगवदिच्छा पर छोड़ देना चाहिए, यही विवेक है और यहाँ तो आप प्रयत्न करने का आग्रह रखना कह रहे हैं ? यदि ऐसी शंका हो, तो समझना चाहिए कि सांसारिक विषय-भोगों का त्याग करने का यदि आग्रह रखना जाय तो ऐसे प्रयत्न से विवेक नष्ट नहीं होता । मूल पंक्ति से यह अर्थ भी ज्ञात होता है कि भगवदिच्छा से जो सुख प्राप्त हो रहा है, उसका त्याग नहीं करना चाहिए और यह उचित भी है क्योंकि यदि उस सुख का भी त्याग कर देंगे तो शरीर का निर्वाह ही कैसे होगा और हम विवेक-धैर्य इत्यादि साधन करने में भी अशक्त हो जायेंगे अतः वह ठीक है परंतु जब भगवदिच्छा से स्वतः ही प्राप्त हुए सुख का हम त्याग नहीं करते तब चौंके वह सुख भी विषयभोगों का है अतः बंधनकारी तो होता ही है और ईंद्रियों को अपनी ओर आकर्षित करता ही है । ऐसा होने पर “जो लोग विषयवित्तन में लगे रहते हैं, उनकी ईंद्रियाँ विषयभोगों की ओर आकृष्ट हो जाती हैं और फिर मन को भी खींच लेती हैं (श्री. भा. ४/२२/३०)” इस वाक्यानुसार सर्वनाश हो जाता है । और इनसे अपनी रक्षा करने के लिए ऐसे सांसारिक विषयों में आकृष्ट स्वभाव को जीतना

भी संभव नहीं है क्योंकि अरंभदशा मैं ऐसी सामर्थ्य तो होती नहीं। “अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेनी ही ‘शूरता’ है (श्री. भा. ११/१९/३७)” वाक्यानुसारं अपने स्वभाव को जीत लेना तो शूरता है। इन परिस्थितियों में धैर्य कैसे सिद्ध हो ? इसका उपाय आचार्यचरण अश्रौणापि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि जो व्यक्ति अपने स्वभाव को या इंद्रियों को जीतने में असमर्थ है, उसे भी भगवान के समक्ष अपनी असमर्थता की भावना करके इंद्रियों के विषयभेद संबंधी कार्य त्यागने चाहिए। ‘मैं क्या करूँ ?’ ‘मैं मंदबाणी हूँ, असमर्थ हूँ इतनी सी आज्ञा का भी पालन नहीं कर सकता’ इस प्रकार से भावना करनी चाहिए। इस प्रकार जो प्रयत्न करता है, ऐसी ग्लानि से उसकी इंद्रियाँ कुठित हो जाती हैं एवं तब वह सांसारिक विषयों द्वारा भी आकर्षित नहीं होता अतः क्रमशः धैर्य सिद्ध हो जाता है, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

अत्राप्यशक्तौ पुनरन्यमुपायमाहुरशक्य इत्यादि ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

एवमप्यशक्ये हरिरेवास्ति शरणमिति शेषः नन्देवं शरणोपदेशेन कथं तस्मिद्विरत्यकाहायामाहः सर्वमाश्रयतो भवेदिति, “सर्वपर्मान्यरत्यज्ञे” ति शरणोपदेशवाक्ये स्वस्यैव पापमोचकत्वकथनेन शोकनिवारणेन च आश्रयादेव सिद्धिवोधनात्तथेत्यर्थः। एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्योपसंहरन्तोऽग्रिमनिरूपणस्य गतार्थत्वमपि वारयन्ति एतदित्यादि । अत्र शरणमार्गे एतदुक्तसाधनकथनान्तं धैर्यमुक्तम् । तथा च “अशक्य” इत्यादिना यदाश्रयणमुक्तं तदपि पैर्वरक्षणेशत्वाद् धैर्यान्तःपात्न्येव, नत्वाश्रयस्तुपमित्यर्थः ।

जो आटलुं करवुं पशु संभव न होय तो शब्दीयी आचार्यचरणो बीजे उपाय “अशक्य” वगेरे शब्दोदीयी कही रह्यां छे.

आ पंक्तिनो अर्थ ए छे के, जो आटलुं करवुं पशु संभव न होय तो पछी “हरि ज भङ्ग शरणा छे”, आ प्रकारे भावना करवी जेईये. अहीं प्रश्न थाय छे के, आ प्रकारे केवल भगवाननी शरणाशति करवार्थीज केवी रीते धैर्य सिद्ध थई जशे ? तो आचार्यचरणो आनो उत्तर “सर्वभाश्रयतो भवेत्” वगेरे शब्दोदीयी आपी रह्यां छे. “सभस्त धर्मोनो त्याग करी भात्र भारी शरणमां आव, हु तने समस्त पापोदी भुक्त करी दर्शन, शोक न कर (भ. गी. १८/६६)”, भगवान्हीताना आ शरणो उपदेश करवावाणा वाक्यथी भगवाने पोतानेज पापमोचक अने शोकनिवारक कह्यां छे. तेथी तेभनो आश्रय करवार्थीज धैर्य सिद्ध थाय छे, आ बोध थाय छे. आ प्रकारथी धैर्यनुं अंगसहित निःपृष्ठ करीने उपसंहर (समाप्ति) करता हवे आचार्यचरणो पहेला निःपृष्ठ करेलां विवेक अने धैर्य नो गतार्थं (अनेक विचार विभर्ण रूपों पछी जे सार के निःर्जन्म नीकभ्यो होय ते ‘गतार्थं’ छे) ने पशु छोडीने ‘आश्रय’ ने “ओतद्” वगेरे शब्दोदीयी कही रह्यां छे. आ पंक्तिनो अर्थ ए छे के, अहीं शरणमार्गमां उपर्युक्त साधनो पछी धैर्य कह्युं छे अने “अशक्ये” वगेरे शब्दोदीयी जे आश्रय कह्यो छे, ते पशु धैर्य नी अंतर्गत होवाधी धैर्यनुज एक स्वङ्गप छे, न के आश्रयनुं, आ अर्थ छे. केम्के ‘आश्रय’ ना स्वङ्गपने तो हवे आण कही रह्यां छे.

यदि इतना करना भी संभव न हो तो पुनः आचार्यचरण दूसरा उपाय अशक्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, यदि इतना करना भी संभव न हो पिर ‘हरि ही मेरी शरण’ हैं इस प्रकार से भावना करनी चाहिए। यहाँ प्रश्न होता है कि, इस प्रकार केवल भगवान की शरणागति करने से ही कैसे धैर्य सिद्ध हो जायेगा ? तो आचार्यचरण इसका उत्तर सर्वमाश्रयतो भवेत् इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। “समस्त धर्मों का त्याग करके मात्र मेरी शरण में आ । मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर (भ. गी. १८/६६)” भगवद्-गीता के इस शरण का उपदेश करनेवाले वाक्य से भगवान ने स्वयं को ही पापमोचक एवं शोक का निवारक कहा है। अतः उनका आश्रय करने से ही धैर्य सिद्ध होता है, यह बोध होता है। इस प्रकार से धैर्य का अंगसहित निरूपण करके उपसंहर (समाप्ति) करते हुए अब आचार्यचरण पहले निरूपण किए गये विवेक एवं धैर्य का गतार्थ अनेक विचारविमर्श के पश्चात् जो सार या निष्कर्ष निकला हो, उसे ‘गतार्थ’ कहते हैं। भी छोडकर ‘आश्रय’ के लिए एतद् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, यहाँ शरणमार्ग में उपर्युक्त साधनों के पश्चात् धैर्य कहा है और ‘अशक्ये’ इत्यादि शब्दों से जो आश्रय करना कहा गया है, वह भी धैर्य के अंतर्गत कहा होने से धैर्य का ही एक स्वरूप है, न कि आश्रय का, यह अर्थ है। क्योंकि ‘आश्रय’ के स्वरूप को तो अब आगे बता रहे हैं ।

अतः पं ऋग्मासं प्रधानमाश्रयं निरूपयन्ति आश्रयोतो निरूप्यत इति । अतः तावता चारितार्थाऽभावादावश्यकत्वाच्च आश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः। आश्रयशब्द आश्रये योगरूपः। सेवने योगिकः, आसमन्तात् श्रयणं सेवनमाश्रय इति ।

तेथी हवे “‘आश्रयोतो निष्पत्ते’” वगेरे शब्दोमां भुव्य ‘आश्रय’ नु निष्पत्त करी रह्यां छे. आ शब्दोनुं तात्पर्य ए छे के अटलां विश्लेषणों पछी पाण छलुं सुधीं पूर्णिमे आश्रयनुं स्वप्न चरितार्थ नथी थयुं तेथी हवे भुव्यपत्ती “‘आश्रय’” नु निष्पत्त कर्वुं आवश्यक थर्थ ज्य छे. “‘आश्रय’” शब्द आधाराना अर्थभां योगङड छे. (ऐटेस टीकाकार ए छे कही रह्यां छे के लेने प्रधानपृथी आधार मानीने समस्त कार्यों करवाभां आवे, तेने “‘आश्रय’” कहे छे.) “‘आश्रय’” (आ+श्रय) शब्दमां “‘आ’” उपसर्गनो अर्थ छे “‘भद्री इने’” अने “‘श्रय’” नो अर्थ छे “‘सेवा इरवी’”, आ प्रकारे यौगिक अर्थभां “‘आश्रय’” नो अर्थ सुचाकृ रीते सेवा करवी तेवो छे.

अतः अब आश्रयोतो निरूप्यते इत्यादि शब्दों से मुख्य ‘आश्रय’ का निरूपण कर रहे हैं। इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि इतने विश्लेषणों के पश्चात् भी अभी तक पूर्णरूप से आश्रय का स्वरूप चरितार्थ नहीं हो पाया है अतः अब मुख्यरूप से ‘आश्रय’ का निरूपण करना आवश्यक हो जाता है। ‘आश्रय’ शब्द आधार अर्थ में योगरूप है। अर्थात् टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि जिसको प्रधानरूप से आधार मान कर समस्त कार्य किए जाएँ, उसे ‘आश्रय’ कहते हैं। ‘आश्रय’ (आ+श्रय) शब्द में ‘आ’ उपसर्ग का अर्थ है ‘सभी प्रकार से’ एवं ‘श्रय’ का अर्थ है ‘सेवा करनी’; इस प्रकार यौगिक-अर्थ में ‘आश्रय’ का अर्थ भलीभाँतिपूर्वक सेवा करना होता है।

तत्र प्रकृते कि विविक्षितमित्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपमाहुरैहिक इत्यादि ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःस्खान्ती तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

“हराम्यर्घं हि स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुप्रवहम्, वर्णश्च मे हरिच्चेष्टस्तमाद्वरिरर्हं स्मृतं” इति भारते भगवद्भाक्यात्स्मर्तृणां पापतत्कल्पोहर्त्ता सर्वदेवात्मा तनियामकः “श्यामाञ्छबलमि” ति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो हरिः, ऐहिके एतज्जन्मसाम्बन्धिकार्ये फलभोगे स्वमनोऽभिलिप्तिसेवादिसाधने तत्सम्पादने च, परलोके एतज्जन्मान्तरभाविनि जन्मनि, चकारात्तत्र सुखदुःखफलभोगे भगवंदिज्जानुरूपसर्वादिसाधने सत्सम्पादने सर्वथा “शरणं रक्षणे गेहे वध रक्षणपोरपी” ति कोशात्। ततस्ततः प्रमादादिभ्यो रक्षणात्मा, तत्र तत्र गेहात्मा, तत्त्वतिबन्धनिवृत्यात्मा, तत्र तत्र ततस्ततो रक्षकश्च, स्वयमेवास्तीत्यनुसन्धानमाश्रय इत्यर्थः ।

आ अर्थेभां आशार्थयरणो अहीं “‘आश्रय’” नु झुं स्वप्नप बतावपा ईर्च्छी रह्यां छे, आ तेओ “‘ओहिक’” वगेरे शब्दोथी कही रह्यां छे.

महाभारतमां भगवान भाटे “‘भाङ्गं स्भरणु करवावाणाच्यो ना पापो अने यज्ञोभां अपाती आहुति नुं हुं हरणा करी लक्षि छुं (लर्ह लक्षि छुं), तेथी माङ्गं नाम हरि छे” – आभ कहुं छे. आ वाक्यानुसार स्भरणु करवावाणाच्योना पाप अने ते पापना इने हरणा करवावाणा, समस्त देवो ना आत्मा, तेमना नियामक अने “‘हुं श्याम (ध्रुवन)थी शब्दत-ध्रुवलोक ने ग्राम थर्ड अने शब्दत ध्रुवलोकथी श्याम ने ग्राम थर्ड. (छा. ८/१३/१)”。 आ श्रुतिद्वारा स्वतः श्यामवर्णं पुरुषोत्तम ज हरि छे. “‘ओहिके’” ऐटेस आ बन्मधी संबंधित कार्याना इनो ने भोगवत्यामां अने स्वमनोभिलिप्तिं (आपाणा भनीनी लेवी ईरच्छा होय तेवा) सेवाना साधनोने उपतप्त उत्तरवाचामां; आज्जरीते “‘परत्तोडे’” ऐटेस आगत्ता जन्मभां अने य शब्द द्वारा सुभद्रः भना इनो भोगवत्यामां अने भगवहिच्छाने अनुउप समस्त साधनोने आपाणा भाटे उपतप्त उत्तरवाचा वगेरे समस्त कार्यों भां सर्वथा हुरिज्ज आपाणुं शरणे छे. शब्दकोशामां पाण “‘रक्षण करवाना अर्थभां, गूढना अर्थभां, वध करवाना अर्थभां अने रक्षकना अर्थभां “‘शरण’” शब्द प्रयुक्त कर्मो छे. आ अर्थ द्वारा काम-क्षेत्र-लोक-भोह थर्थ ज्य ज्या पर तेओज्ज आपाणुं रक्षण करशे, आपाणुं धर पाण हरि ज छे, ते धरमां भगवत्सेवामां थवावाणा प्रतिबंधोनी निवृति पाण तेओज्ज करशे अने तेमनाथी (ते प्रतिबंधोथी) आपाणी रक्षा करवावाणा पाण तेओज्ज छे–आ भद्रानुं निरंतर अनुसंधान करता रहेवुं ज ‘आश्रय’ छे.

इन अर्थों में आचार्यचरण यहाँ ‘आश्रय’ का कौन सा स्वरूप बताना चाह रहे हैं, यह वे ऐहिक इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

महाभारत में भगवान के लिए ‘मेरा स्मरण करनेवालों के पाप एवं ज्यों में दी जाने वाली आहुति का मैं हरण कर लेता (ले लेता) हूं अतः मेरा नाम हरि है’ यह कहा है। इस वाक्यानुसार स्मरण करने वालों के पाप एवं उस पाप के फल को हरण करने वाले, समस्त देवों के आत्मा, उनके नियामक और ‘मैं श्याम (ब्रह्म) से शब्द-त्र्यवलोक को प्राप्त होऊँ एवं शब्द ब्रह्मलोक से श्याम को प्राप्त होऊँ (छा. ८/१३/१)’ इस श्रुति के द्वारा स्वतः श्यामवर्णं पुरुषोत्तम हरि है। ऐहिके अर्थात् इस जन्म से संवंधित कार्यों के फल को भोगने में एवं स्वमनोभिलिप्तिं हमारे मन में जैसी इच्छा हो वैसा सेवा के साधनों को उपलब्ध कराने में; इसी प्रकार परलोके अर्थात् अगले जन्म में और ‘च’ शब्द के द्वारा सुखदुःख का फल भोगने में और भगवदिच्छा के अनुरूप समस्त साधनों को हमारे लिए उपलब्ध कराने आदि समस्त

कार्यों में सर्वथा हारि ही हमारे शरण हैं । शब्दकोश में भी 'रक्षण करने के अर्थ में, गृह के अर्थ में, बध करने के अर्थ में एवं रक्षक के अर्थ में 'शरण' शब्द प्रयुक्त किया गया है । इस अर्थ के द्वारा काम-क्रोध-लोभ-मोह हो जाने पर वही हमारा रक्षण करेंगे, हमारा गृह भी हारि ही हैं, उस गृह में भगवत्सेवा में होने वाले प्रतिवर्धों की निवृति भी वे ही करेंगे एवं उन प्रतिवर्धों से हमारी रक्षा करने वाले भी वही हैं - इन सभी का निरंतर अनुसंधान करते रहना ही 'आश्रय' है ।

तेऽनात्र चित्तवैष्टं भगवत्प्रवणत्वस्तप्तेषाविशेषात्मा स्वीकृतः । अन्यैरपि "मामाश्रित्य यतन्ति ये," मां हि पार्य व्यपाश्रित्ये" त्यत्र चित्तसमाधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वकशरणागतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः । शरणागतिश्च रामानुजाचार्यैस्तमेव शरणं गच्छे" त्यत्रानुवर्त्तत्वेन व्याख्यानात् । शङ्करभाष्ये तु "ममेकं शरणं ब्रजे" त्यत्र भगवदनतिरिक्तानुसन्धानत्वेन व्याख्यातः । मधुसूदनीये तु "अस्यैवाहं" "ममैवाहं" "स एवाहमि" ति त्रिधा, भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः । इति भक्तिपूर्वकमेवमनुसन्धानत्वेन ।

आनाथी समझौते छे के चित्तनी आ प्रकारे भगवानमां प्रवशता राखीने भगवत्सेवा करवावाणो लुव पुष्टिभक्तिमार्गमां स्वीकारवामां आयो छे. भीज्ञ अन्य विद्वानोमे पशु, "बेचो भारा आकृति थृष्ण यत्न के छे (भ. गी. ७/२८)", "हे अर्जुन ! अनन्यभावशी भारा शरणागत थृष्ण बधा परभगतिने प्राप्त के छे (भ. गी. ६/३२)", आ श्लोकोनी व्याख्यामां भट्टेला चित्तना समाधानना इप्मां अन्य देवोना आश्रयने छोड़ीने केवल भगवान श्रीकृष्णनी शरणागतिने आश्रयना इपे कही छे. अने रामानुजाचार्यलुच्छे शरणागति नु, "हे अर्जुन ! तेज परभात्मानां शरणमां ज (भ. गी. १८/५२)", आ श्लोकमां विवरण झुक्के. शङ्करभाष्यमां "डेवण भारा शरणामां आव (भ. गी. १८/६६)" आ श्लोक नी अंतर्गत केवल भगवान श्रीकृष्णनुज्ज अनुसंधान करवुं-तेम व्याख्या भां कहुं छे. भधुसुदृष्टलुच्छे तो- "हुं आ भगवाननो ज हुं", "आ भगवान भारो ज छे", तेज (भगवान ज) हुं हुं", आ त्रिः प्रकारोथी भगवाननी शरणागति सिद्ध थाय छे, ज्यारे साधन परिपक्व थृष्ण ज्य- -आ वाक्य द्वारा भक्तिपूर्वक ज भगवाननु अनुसंधान करवाथी शरणागति सिद्ध थाय छे, आ भताप्यु छे.

इसपे ज्ञात होता है कि चित्त की इस प्रकार से भगवान में प्रवणता रख कर भगवत्सेवा करने वाला जीव इस पुष्टिभक्तिमार्ग में स्वीकार किया गया है । अन्य दूसरे विद्वानों ने भी 'जो मेरे आप्तित होकर यत्न करते हैं (भ. गी. ७/२९)', "हे अर्जुन ! अनन्यभाव से मेरे शरणागत होकर सभी परमात्मा को प्राप्त होते हैं (भ. गी. ९/३२)" इन श्लोकों की व्याख्या में भट्टक हुए चित्त के समाधान के रूप में अन्य देवों के आश्रय को छोड़कर केवल भगवान श्रीकृष्ण की शरणागति को आश्रय के रूप में व्याख्यायित किया है । और रामानुजाचार्यजी ने शरणागति का "हे अर्जुन ! उसी परमात्मा की शरण में जा (भ. गी. १८/६२)" इस श्लोक में विवरण किया है । शङ्करभाष्य में" केवल मेरी शरण में आ (भ. गी. १८/६६)" इस श्लोक के अंतर्गत केवल भगवान श्रीकृष्ण का ही अनुसंधान करना व्याख्यायित किया गया है । मधुसूदनजी ने तो- "मैं इस भगवान का ही हूं, 'यह भगवान मेरा ही है', 'वही भगवान ही मैं हूं' इन तीन प्रकारों से भगवान की शरणागति सिद्ध होती है, जब साधन परिपक्व हो जाय" - इस वाक्य द्वारा भक्तिपूर्वक ही भगवान का अनुसंधान करने से शरणागति सिद्ध होती है, यह बताया है ।

अत्राप्येतदेव स्वीकृतम्, परन्तु, मायावादनिरासाद् ब्रह्मबादेनाऽविहितभक्तेराधिक्येन चेति विशेषः । एवं प्रकारेण सदा येषां भावो भवेत्तदा तेषां भगवाना आश्रयो दत्त इति ज्ञातव्यम् । कदाचित्कदाचिद्विच्छेदे तु साधनावस्था, कदाचिद्विवेत्यारम्भदशा, रक्षकत्वमात्रभाने त्वाश्रयस्य भावित्वमित्याद्युक्तम् । अयमेवाश्रयो भक्त्याधिकारिणां भक्तिं पोषयन्तुमः । तां जनयन् भक्तिमार्गीयः जनविष्यन् भक्तिमार्गानुकल्पस्यः । एवमेव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः । कर्मफलस्य वैराग्यस्य पोषणादिकं कुर्वन्स्तन्मार्गीय इति ज्ञातव्यम् ।

आज वात आपणे त्यां पशु स्वीकारवामां आवी छे परंतु भायावाहनु घंडन करीने, प्रह्लवाद ना स्थापन द्वारा अने प्रेमलक्षणा भक्ति सहित, ऐटलुं अधिक स्वीकार्यु छे-ते विशेष छे. तेथी उपर्युक्त विश्वेषणो ने अनुसार लेमनो सदा एवो भाव भनी रहे छे-तेमने भगवान पोतानो आश्रय आपे छे, आ ज्ञाणी लेवु लोईचे. ले क्यारेक-क्यारेक एवो भाव भट्टित थृष्ण जतो होय तो समझे के, आ साधन-अवस्था छे. ज्यारे एवो भाव अनुभूत थावा लागे तो ते आरंभदशा छे अने ज्यारे "भात्र भगवानज भारा रक्षक छे" एवो भाव थृष्ण ज्य, त्यारे आश्रय सिद्ध थयेल सभन्भो लोईचे. आज आश्रय भक्तिना अविकारी लुवोने पोषण आपे छे अने आज आश्रय उत्तम छे. अहीं आश्रय सर्वप्रथम भक्ति उत्पन्न करे छे अने पछी ऐक भक्तिमार्गियने; तेथी आ भक्तिमार्ग नो अनुकल्पदृष्ट छे. आज आश्रय जे ज्ञानभार्गीय करी ले तो तेमने ज्ञाननु पोषण आपीने

शानभागीय भनी ज्यु छे. आज आश्रय जे कर्मभागीय करे तो तेमने वैराघ्यनुं पोषण वगेरे कर्मकल आपतो कर्मभागीय भनी ज्यु छे, आ लाई लेवु ज्ञेयचे.

यही बात हमरे यहां भी स्वीकार की गई है परंतु मायावाद का खंडन करके, ब्रह्मवाद के स्थापन द्वारा एवं प्रेमलक्षणा भक्तिरहित -इतना अधिक स्वीकारा गया है, यह विशेष है। अतः उपर्युक्त विशेषणों के अनुसार जिनका सदा ऐसा भाव बना रहता है, उनको भगवान अपना आश्रय देते हैं, यह जान लेना चाहिए। यदि कभी-कभी ऐसा भाव खड़ित हो जाता हो तो समझिए कि यह साधन-अवस्था है। जब ऐसा भाव अनुभूत होने लगे तो वह आसंभदशा है और जब “मात्र भगवान ही मेरे रक्षक हैं” ऐसा भाव हो जाय, तब आश्रय सिद्ध हुआ समझना चाहिए। यही आश्रय भक्ति के अधिकारी जीवों को पोषण देता है और यही आश्रय उत्तम है। यही आश्रय सर्वप्रथम भक्ति उत्पन्न करता है और फिर एक भक्तिमार्गीय को; अतः यह भक्तिमार्ग का अनुकूलरूप है। यही आश्रय यदि ज्ञानमार्गीय कर लें तो उन्हें ज्ञान का पोषण करते हुए ज्ञानमार्गीय बन जाता है। यही आश्रय यदि कर्ममार्गीय कर लें तो उन्हें वैराग्य का पोषण-आदि कर्मफल देते हुए कर्ममार्गीय बन जाता है, यह जान लेना चाहिए।

एवं स्वरूपं निरूप्याश्रयरक्षणप्रकारमादुः दुःखेत्यादि । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यादिना अग्रिमेणान्वयः । तथा च दुःखहान्यादौ इरिः सर्वथा शरणं भाव्य इत्यर्थादार्थिकं कर्मयोगे सिद्धे दुःखहानावित्यादौ कचित् कचित्तिमितात् कर्मयोग इत्यनेन सप्तमी । तेन दुःखहान्यं शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानजनितं जीवबुद्ध्या दुःखं, तद्वान्यर्थं तथेत्यर्थः । एवमग्रेपि । साम्प्रदायिकाभिप्रेते विषयसप्तमीपक्षे तु दुःखहानिविषये तथेत्यर्थः । एवमग्रेपि । दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरणाऽभावार्थमुपदेशा इति श्रीरघुनाथचरणाः । भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य दुःखप्रतीकाकरणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्वेगादिसम्बन्धात् तदभावार्थं शरणभावनमेव कर्तव्यमित्येतदर्थमिति चाचागोपीशाः । गोकुलोत्सवास्तु नात्र किमपि व्याचरत्युः । एवं सर्वत्र तत्तद्व्यादिशोषोद्वेशः ।

आ प्रकारे आचार्यचरणो “आश्रय” ना स्वकृपनुं निरुपण करीने तेना रक्षणं नो प्रकार “दुःखः” वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. आ लोकिनो अर्थ आगण आवधा वाणा “अेवं.....भाव्यं” आ लोकीनी ज्ञेये करवो ज्ञेयचे. (ऐतें टीकाकार एवं कहेवां भागे छे के आचार्यचरणो “दुःखः” वगेरे शब्दोथी आश्रयना रक्षणानो प्रकार भतावी रह्यां छे. तो तेओं कहे छे के “दुःखः” वगेरे शब्दोथी लर्द “अेवं.....भाव्यं” भुवीनी पंक्तिओभां ले जे वातो भतावी छे, ते भधा उपदेशोनी मनमां भावना करता. रहीने हरिनी शरणागति करवी ज्ञेयचे.) अने “दुःखहानी” पहां “दुःख आवी ज्वा पर हरिनी शरणभावना करवी ज्ञेयचे”, आ अर्थ द्वारा अंट-अंट “निमित्तात् कर्मयोगे” सूत्र द्वारा सप्तमी-विभक्ति भानी गई छे. आनाथी ऐ सिद्ध थाय छे के, जे भक्त पोताना दुःखो दूर करवा माटे भगवान्ने शरणागति थाय छे, तेने शरणहान प्राप्त थवा पर पशु लृप्यमुद्दिने कराणे शरणाना वास्तविक स्वकृपनुं शान नथी थतुं अने ते दुःखी रहे छे. ते दुःख ने दूर करवा माटे भगवान्ने शरणहान प्राप्त तेणे कोईनो सर्वथा हरिनी शरणभावना करता रहेवु ज्ञेयचे, आ अर्थ छे. आ प्रकारे जे तेनाथी कोई पाप थर्द ज्यु अथवा तेने कोईनो भय सतावतो होय अथवा तेनी कामनाओनी पूर्ति न थती होय, वगेरे समस्त परिस्थितिओ भां तेहो हरिनी शरणभावना जे करवी ज्ञेयचे. बीज संप्रादायिक-विद्वानोने अनुसार “दुःखहानि” शब्दनो अर्थ दुःखी थवा वाणी हानि थवी छे. ऐतें कोई लोकिक डे अलौकिक दुःख थी थवावाणी जे हानि होय छे, तेने दूर करवा माटे हरिनी शरणभावना करवी ज्ञेयचे-एवो तेमने अनुसार अर्थ थाय छे. आज प्रकारे आगणना लोकोनो पशु अर्थ करी लेवो ज्ञेयचे. श्रीरघुनाथचरणो “दुःखहानि” शब्दनो ऐ अर्थ करी रह्या छे के, जे दुःख निवृत थर्द ज्यु अने सुख प्राप्त थर्द ज्यु, त्यारे पशु भगवद्-आश्रयने न भूलयो ज्ञेयचे. याचागोपीशल्लये अर्थ ड्यों छे के-जे भक्तिमार्गीय लृप भगवत्सेवा भां प्रवृत्त थयो छे तेणे आचार्यचरणोना वयन अनुसार दुःखोनो विरोध न करता धैर्यपूर्वक सहन करीने रहेवानुं छे. तेथी दुःख दूर थवानी प्रतीक्षाभां धैर्य राखी रहेता तेने चित्तोद्वेग पशु थर्द शडे छे. आवो उद्देग तेने न थाय, ते माटे शरणभावना जे करता रहेवु ज्ञेयचे, आ अर्थ छे. गोकुलोत्सप्तशुल्लये तो आनी कोई पशु व्याख्या नथी करी. आ प्रकारे ते-ते ग्रंथोभांथी विशेष-अर्थों ज्ञेय लेवा ज्ञेयचे.

इस प्रकार से आचार्यचरण ‘आश्रय’ के स्वरूप करने का निरूपण करके उसके रक्षण का प्रकार दुःख इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ आगे आने वाले ‘एवं.....भाव्यं’ इस लोक के संग करना चाहिए। अर्थात् टीकाकार यह कहना चाहे रहे हैं कि आचार्यचरण ‘दुःख’ इत्यादि शब्दों से आश्रय के रक्षण का प्रकार बता रहे हैं। तो वे कहते हैं कि ‘दुःख’ इत्यादि शब्द से लेकर ‘एवं.....भाव्यं’ नक की पंक्तियों में जो-जो वातें बताई गई हैं, उन सब उपदेशों की मन में भावना करते हुए हरि की शरणागति करनी, चाहिए। और ‘दुःखहानौ’ पद में ‘दुःख आ पड़े पर हरि की ही शरणभावना करनी चाहिए’ इस अर्थ के द्वारा कहीं-कहीं ‘निमित्तात् कर्मयोगे’

सूत्र के द्वारा सत्तमी-विभक्ति मानी गई है । इससे यह सिद्ध होता है कि, जो भक्त अपने दुःख दूर करने के लिए भगवान के शरणागत होता है, उसे शरणदान प्राप्त होने पर भी जीवबुद्धि के कारण शरण के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और वह दुःखी रहता है । उस दुःख को दूर करने के लिए उसे सर्वथा हरि की शरणभावना करते रहनी चाहिए, यह अर्थ है । इसी प्रकार यदि उससे कोई पाप हो जाय, या उसे किसी का भय सताता हो या उसकी कामनाओं की पूर्ति न होती हो इत्यादि समस्त परिस्थितियों में उसे हरि की शरण भावना ही करनी चाहिए । अय दूसरे सांप्रदायिक विद्वानों के अनुसार ‘दुःखहानि’ शब्द का अर्थ दुःख से होने वाली हानि होना है । अर्थात् किसी लौकिक या अलौकिक दुःख से होने वाली जो हानि होती है, उसे दूर करने के लिए हरि की शरणभावना करनी चाहिए-ऐसा उनके अनुसार अर्थ होता है । इसी प्रकार आगे के श्लोकों का भी अर्थ कर लेना चाहिए । श्रीरघुनाथचरण ‘दुःखहानि’ शब्द का यह अर्थ कर रहे हैं कि, यदि दुःख निवृत हो जाय और सुख प्राप्त हो जाय, तब भी भगवद्-आश्रय को नहीं भूल जाना चाहिए । चाचांगोपीशजी ने यह अर्थ किया है कि-जो भक्तिमार्गीय जीव भगवत्सेवा में प्रवृत्त हुआ है उसे आचार्यचरणों के अनुसार दुःखों का विरोध न करते हुए धैर्यपूर्वक सहन करते हुए रहना है । अतः दुःख दूर होने की प्रतीक्षा में धैर्य खटते-खटते उसे चित्तोद्गेव भी हो सकता है । ऐसा उद्गेव उसे न हो, इसके लिए शरणभावना ही करते रहनी चाहिए, यह अर्थ है । गोकुलोत्सवजी ने तो इसकी कोई भी व्याख्या नहीं की है । इस प्रकार इन-इन के ग्रंथों से विशेष-अर्थ देख लेने चाहिए ।

तत्रापि भक्ति पोषयन् सपरिकर आश्रयो गोपीजौर्विवृतः । भक्तिङ्नयन् जनयिष्यश्चेत्युभयविधः प्रकारभेदेन श्रीरघुनाथचरणगौकुलोत्सवैश्च । विवृतः । अत्र त्वापुनिकानां श्रीमदाचार्यमार्गप्रविष्टानामपि स्वभावभेदेन तत्तद्विचिदर्जनात्तरदधिकारानुसारेण तत्कलसिद्ध्यर्थं सर्वप्रकारको दिग्भात्रं प्रदर्शयत इति न कोपी क्षणि विरोधः । तथा पाप इति । सेवादिग्रितिबन्धकपापे दैवाज्ञाते वा भगवदपराधे बेत्यर्थः । भये, स्वस्य जीवस्य तुच्छत्वात्कथं ब्रह्मादिरापचरणरेणोः प्राप्तिरिति भये, भयान्तरे च । कामाद्यपूरणे, काम आद्यो वेषां, तदुणसंविज्ञानः, अलौकिकाममुख्यामुख्यगुणज्ञानात्मकमोक्षाणां पूरणे पूर्त्यर्थं कामादरपूरणे वा ॥ १० ॥

तेम छातां गोपीश्चरणाऽप्ये भक्तिनुं पोषणं करता अंगसहितना आश्रयनुं निःपणं कर्तुं छे । श्रीरघुनाथचरणाऽप्ये अने श्रीगोकुलोत्सवलाले आश्रये “आश्रय भक्तिने उत्पन्नं करे छे” अने “आश्रय भक्तिने उत्पन्नं कर्शे” आ प्रकारे भे रीते विषरणं कर्तुं छे । श्रीभद्राचार्यचरणाना आ भार्गवं प्रवेश करवावाणा आधुनिक लुप्तो तो अलग-अलग स्वभावना होई शके छे तेथी तेमनी इच्छी पाणि अलग-अलग प्रकारनी हेखाय छे तेथी तेमना अविकार अनुसार आश्रयनी इत्यसिद्धि माटे ए पूर्व टीकाकारो भद्री रीते दिशा भाग भतावी रह्या छे, तेथी कोईनाथी पाणि कोईनो कोई पाणि विरोध नथी । लेवे “तथा पापे” वगेरे शब्दोनी व्याख्या करी रह्या छे । आपो अर्थ ए छे के भगवत्सेवामां प्रतिबन्धक-इपी पाप थवा पर, दैवयोग थी कोई पाप थर्ठ ज्य अथवा आपाणाथी भगवद् अपराध लेवुं कोई पाप थर्ठ ज्य, त्यारे पाणि भगवाननी ज शरणभावना कर्वी लेइच्छे । “भये” नो अर्थ ए छे के लुप्तने अयो भय थर्ठ ज्य के, हुं तो तुच्छ छुं अने भगवानना चरणकम्भलोनी रेणु ले भ्रष्टा लेवा देवताओने पाणि दुर्लभ छे, ते भने कुपी रीते भगवे ? अथवा आवा प्रकारथी भीने कोई भय थवा पर, पाणि भगवाननी ज शरणभावना कर्वी लेइच्छे । “कामाद्यपूरणे” नो अर्थ छे - कामनी पूर्ति न थवा पर एटेले मुख्य अलौडिक कामनाओं अने गुणज्ञानात्मक भोक्तृणी गौणा कामनाओंनी पूर्ति करवा माटे के पछी ते कामनाओंनां पूर्ण न थवा पर, आ बंने परिस्थितिओंमां भगवाननी ज शरणभावना आपश्यक छे ॥ १० ॥

तब भी गोपीश्चरणों ने भक्ति का पोषण करते हुए अंगसहित आश्रय का निल्पण किया है । श्रीरघुनाथचरणों ने एवं श्रीगोकुलोत्सवजी ने आश्रय को “आश्रय भक्ति को उत्पन्न करता है” एवं “आश्रय भक्ति को उत्पन्न करेगा” इस तरह दो प्रकार से विद्यत किया है । श्रीमदाचार्यचरणों के इस मार्ग में प्रविष्ट होने वाले आधुनिक जीव तो भिन्न-भिन्न स्वभाव के हो सकते हैं और उनकी सुचि भी भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती है अतः उनके अधिकार के अनुसार आश्रय की फलसिद्धि के लिए ये पूर्व टीकाकार सभी प्रकार से दिशा मात्र दिखा रहे हैं अतः किसी से भी किसी का कोई भी विरोध नहीं है । अब तथा पापे इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इसका अर्थ यह है कि भगवत्सेवा में प्रतिबन्धकरूपी पाप हो जाने पर, दैवयोग से कोई पाप हो जाय अथवा हमसे भगवद्-अपराध जैसा कोई पाप हो जाय, तब भी भगवान की ही शरण भावना करनी चाहिए । भये का अर्थ यह है कि, जीव को ऐसा भय हो जाय कि- मैं तो तुच्छ हूं और भगवान के चरणकमतों की रेणु जो ब्रह्मा जैसे देवताओं को भी दुर्भ है, वह मुझे कैसे प्राप्त होगी ? या इसी प्रकार से दूसरा कोई भय होने पर भी भगवान की ही शरण भावना करनी चाहिए । कामाद्यपूरणे का अर्थ है- काम की पूर्ति न होने पर अर्थात् मुख्य अलौकिक कामनाएँ एवं

गुणज्ञानात्मक मोक्षरूपी गौण कामनाओं की पूर्ति करने के लिए या फिर इन कामनाओं के पूर्ण न होने पर, इन दोनों परिस्थितियों में भगवान् की ही शरणभावना आवश्यक है ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

स्वस्य कामादिपूर्तीं तस्या अन्यत्रादर्थाने मदाद् अवज्ञायां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे, भक्तद्रोहापाराधो मर्यादायाप्पि न दूरीकर्तु शक्यते, यथा दुर्वासासोम्बरीपयोः विषये, किं पुनः पुष्टिमार्गे । अनस्तनिवृत्यर्थमयमुपदेशः । स्वस्य, स्वीयानां चोत्कटानुत्कटभक्त्यनुत्पत्तौ दुःसङ्गादिना तनाशो च । भक्तेश्चातिक्रमे कृते तत्सहनार्थमयमुपदेशः । ते विना निमित्तं सर्वथा कमपि नातिक्रामन्ति । अथातिक्रामन्ति तदा स्वस्मिन्कोपि दोषोपाति । तत्स्तनिवृत्यर्थमयमिति चाचागोपीशाः ।

अली ए सभन्ते के छवनी ज्यारे कामनाओंनी पूर्ति थर्थ ज्य अने तेने पोताना जेवी सङ्गता भीने ड्यांय हेखाती न होय तो ते भद्रमां आंधागो थर्थ कोई भक्तनी अवज्ञा करी नांगे छे, अथवा पछी भीज्ज कोई प्रकारथी तेना द्वारा कोई भक्तनो द्रोह थर्थ ज्य तो भक्तनो द्रोह करवानो अपराध तो भर्यादामार्गांमां पशु दूर नहीं थर्थ शक्तो, जेभ दुर्वासालृच्छे राज्ञ अंभरीषनो द्रोह कर्म्मो हतो अने तेनो अपराध भगवान् पशु क्षमा न करी शक्या (दुर्वासालृच्छे अने राज्ञ अंभरीषनी कथा ज्ञायवा भाटे जुओ श्री. भा. ६/४/३५.....७१). तो पछी आ दुर्पाना भार्ग पुष्टिमार्गनी तो वात थुं करवी, ज्यां भगवान् भक्तो पर अनुग्रह करवा भेटेज्ज प्रगट थथा छे. परंतु आचार्यरचनां आज्ञा करे छे के ते अपराध पशु दूर थर्थ ज्शे अने तेना भाटेज्ज आ उपदेश छे. आचार्यरचनां अही आज्ञा करी रह्या छे के पोतानामां के पोताना ज्ञनोमां भगवान् प्रत्ये उत्तिष्ठ भक्ति होय के नहीं अथवा तो हुःसंग-वगेहै द्वारा भक्तिनो नाश पशु थर्थ गयो होय, तो पशु भगवान्नी शरणागतिज्ज ऐकमान उपाय छे. अने भक्तो द्वारा जे क्यारेक आपाणो तिरस्कार थर्थ ज्य अथवा अपमान करवामां आये, तो तेने पशु सहन करवा भाटे आ उपदेश आपवामां आवी रह्यो छे. भक्तो अकरण ज्ज कोईनो तिरस्कार नहीं करता अने जे करे तो सभन्ते के आपाणामांज्ज कोईने कोई दोष अथवश्य छे. तेथी ते दोषनी निवृत्तिने भाटे भगवान्नी शरणागति आवश्यक छे-आ चाचागोपीशालृ कही रह्या छे.

यहाँ यह समझें कि जीव की जब कामनाओं की पूर्ति हो जाय और उसे अपने जीर्णी सफलता कर्ही और दिखाई न दे तो वह मद में अंद्रा होकर किसी भक्त की अवज्ञा कर बैठता है, या फिर किसी अन्य प्रकार से उसके द्वारा किसी भक्त का द्रोह हो जाय, तो भक्त से द्रोह करने का अपराध तो मर्यादामार्ग में भी दूर नहीं किया जा सकता, जैसे दुर्वासाजी ने राजा अंबरीष का द्रोह का दिया था और उनका अपराध भगवान् भी क्षमा न कर सके दुर्वासाजी एवं राजा अंबरीष की कथा जानने के लिए देखे श्री. भा. ९/४/३५.....७१ । तो फिर इस कृपा के मार्ग पुष्टिमार्ग की बात क्या कहनी ? जहाँ भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही प्रकट हुए हैं । परंतु आचार्यरचना आज्ञा करते हैं कि वह अपराध भी दूर हो जायेगा और इसी के लिए यह उपदेश है । आचार्यरचना यहाँ आज्ञा कर रहे हैं कि स्वयं में या अपने स्वीयजनों में भगवान् के प्रति उत्कट भक्ति हो या न हो अथवा तो हुःसंग-आदि के द्वारा भक्ति का नाश भी हो नया हो, तब भी भगवान् की ही शरणागति एकमात्र उपाय है । और भक्तों द्वारा यदि कभी हमरा तिरस्कार हो जाय या अपमान कर दिया जाय, तो उसे भी सहन करने के लिए यह उपदेश दिया जा रहा है । भक्त अकारण ही किसी का तिरस्कार नहीं करते और यदि करें तब समझें कि हम में ही कोई न कोई दोष अवश्य है । अतः उस दोष की निवृत्ति के लिए भगवान् की शरणागति आवश्यक है - यह चाचागोपीशाजी कह रहे हैं ।

अशक्ये वा सुशक्ये, वा शब्दोपर्याः । स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च सर्वथा व्याख्यातप्रकारेण कायाब्दमनेभिर्वा सर्वदुःखहर्तैव शरणम् । सुशक्ये शरणोपदेशहक्काराभावार्थ इति चाचाः । एवं विशेषणायं सर्वोच्युपदेशो विवकामावेपि आश्रयस्यासहायशूल्वार्थ इति मम प्रतिभाति ।

“अशक्ये वा सुशक्ये” भद्रमां “वा” शब्द “अथवा” ना अर्थमा न होई “पशु” ना अर्थमां छे. (जे “वा” शब्दने “अथवा”ना अर्थमां प्रयुक्त करीअे तो अर्थ बनाये- अशक्य परिस्थिति होय अथवा सुशक्य परिस्थिति होय, भगवान्नी शरणागति आवश्यक छे परंतु “पशु” शब्द प्रयुक्त करवाथी स्पष्टता वधारे थाय छे. आनाथी ए अर्थ थरो के-अशक्य परिस्थितिमां पशु अने सुशक्य परिस्थितिमां पशु-ब्यने परिस्थितिमां भगवान्नी शरणागति जड़ी छे.) अर्थात् कोई कर्तने करवामां आपाणे सभर्थ होईअे के असमर्थ होईअे, उपर कहेली व्याख्याने अनुसार काया-वाणी-भन्नी सर्वदुःखहर्ता उत्तिनु शरण लेवुं लैर्हाये. सुशक्य परिस्थितिमां पशु शरणागति करवानो उपदेश ए भाटे आपवामां आवी रह्यो छे के जेथी आपाणे आपाणा करवा पर अहंकार न थर्थ ज्य-आ चाचा गोपीशालृ कही रह्या छे. भने ऐभ मतीत थाय छे

३, उपर्युक्त समस्ता उपदेशो एवं भतावी रह्या छे के ज्ञे लुबमां विवेक न पशु होय, तो पशु भगवाननो आश्रय ज्ञ वगर कोई सहस्राथी सर्व कार्डि सिद्ध करवामां समर्थ छे।

अशक्ये वा सुशक्ये पद में 'वा' शब्द 'अथवा' के अर्थ में न होकर 'भी' के अर्थ में है। यदि 'वा' शब्द को 'अथवा' के अर्थ में प्रयुक्त करें तो अर्थ बनेगा - अशक्य परिस्थिति हो अथवा सुशक्य परिस्थिति हो, भगवान की शरणागति आवश्यक है परंतु 'भी' शब्द प्रयुक्त करने से स्पष्टता अधिक होती है। इससे यह अर्थ बनेगा कि-अशक्य परिस्थिति में भी और सुशक्य परिस्थिति में भी-दोनों परिस्थितियों में भगवान की शरणागति आवश्यक है। अर्थात् किसी कार्य को करने में हम समर्थ हों या असमर्थ हों, उपर की गई व्याख्या के अनुसार काया-वाणी-मन से सर्वदुःखहर्ता हरी की ही शरण लेनी चाहिए। सुशक्य परिस्थिति में भी शरणागति करने का उपदेश इसलिए दिया जा रहा है ताकि हमें अपने किए पर अंहकार न हो जाय- यह चाचा गोपीशाजी कह रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, उपर्युक्त समस्त उपदेश यह बता रहे हैं कि यदि जीव में विवेक न भी हो, तब भी भगवान का आश्रय ही बिना किसी की सहायता के सभी कुछ सिद्ध करने में समर्थ है।

धीर्याभावेषि तथात्वार्थमादुरहङ्करेत्वादि ।

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अहङ्कारकृते अभिमानेन कृते, तदोपनिवृत्त्यर्थमभिमाननिवृत्त्यर्थञ्चायमुपदेशः । चक्रार्थं सर्वत्रानुक्तसजातीयसमुच्चयार्थः । एवकार उपायान्तरानुष्ठानव्युदासार्थः । पोष्यपोषणरक्षणे सम्भावनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात्तत्क्रमे स्वस्य सेवादिविधातादरक्षणे भगवत्पोष्यानां छेशादुभयसामात्स्यार्थमिदम् । पोषणक्रियासहितरक्षणक्रियायां वा पोष्यातिक्रमणे । पोष्यैः सह निवेदितैः कृते, स्वयं वा तेषां कृतेऽतिक्रमणे आसुरं भावं बिना तदभावात्तत्त्विष्टत्विष्टरूप्यर्थं स्वप्रयत्नत्वायागार्थं चेदम् । तथान्तेवास्यतिक्रमे, अत्रापि तथा, । तस्मिन्स्वकृतोपकाराधनुसन्धानेन गर्वाद्यनिष्टसम्भवात्तन्निवृत्त्यर्थं पृथगुपदेशः ॥ १२ ॥

लुबमां ज्ञे धैर्यं पशु न होय, तो पशु "आश्रय" थीज्ज व्यंजन थर्ई ज्ञ, आ वात आगण "अहंकार" वगेरे शब्दोथी कडेवाई रही छे। "अहंकारकृते" नो अर्थ छे-अभिमान करवा पर एटेले ते अभिमानथी उत्पन्न थयेन दोषनी निवृत्ति भाटे अने स्वयं अभिमाननी निवृत्ति भाटे आ उपदेश आपवामां आवी रहो छे। "अ" शब्दथी अहंकार वेवा अन्य न कहेता दोषो पशु गाई देवा ज्ञेर्ये, ते दोषोनी निवृत्ति भाटे पशु आ उपदेश छे। भगवद्-आश्रय सिवाय आ दोषोनी निवृत्तिनो अन्य कोई पशु उपाय नथी-आ "पोष्य" शब्दथी समज्य छे। हुए "पोष्यपोषणरक्षणैः" शब्दनी व्याख्या करी रह्या छे। "पोष्य" तेमने कहे छे ज्ञेमनुं पालनपोषण आपशा द्वारा करवामां आवे छे, एटेले आपशा परिवारजन ज्यारे आपशे आपशा परिवारजनोनुं पालनपोषण करीये छीये के एमनी रक्षा करीये छीये त्यारे केवी रीते/शुं भावना कर्त्ती ज्ञेर्ये, आ टीकाकार आंगण कही रह्या छे। आपशा परिवारजनोनुं पालनपोषण अथवा तेमनुं रक्षा करवाथी आपशामां लौकिक बुद्धि आवी ज्य छे के, आ व्यंजन आपशे करीये छीये तेथी आ अहंकारथी भगवत्सेवामां विधन थाय छे। अने ज्ञे आपशे एमनुं पालनपोषण न करीये तो आपशे भगवद्भक्तोने पीडा आपी रह्या छीये केम्भे तेओ पशु तो आपशी ज्ञेर्ये ज्ञ निवेदित थयां छे तेथी तेओ पशु भगवद्-भक्ततो छे ज्ञ। आ बंने सभस्याओनुं निवारण करवा माटे अही भगवाननी शरणागतिनो उपदेश आपवामां आवी रहो छे। तेथी भले परिवारजनो नुं पालनपोषण करी रह्या होइये के रक्षण, भले तेओ आपशो तिरस्कार पशु करता होय, तो पशु भगवाननी शरणागतिज्ञ कर्त्ती ज्ञेर्ये। ते परिवारजन पशु आपशी ज्ञेज्ञ निवेदित थयां छे तेथी तेओ आपशो तिरस्कार करता होय के आपशे एमनो; आसुरभाव वगर आ नथी थर्ई शक्तुं तेथी ते आसुरभावनी निवृत्ति भाटे अने आपशा द्वारा करेता प्रयत्नोनी निवृत्ति भाटे (एटेले कोईना भाटे पशु आपशे प्रयत्नो न करीये अने ग्रन्थ पर भरोसो राखी एमनो आश्रय भाव करीये) शरणागतिनो उपदेश देवाई रह्यो छे। "तथान्तेवास्यतिक्रमे" शब्दनो अर्थ छे- आ प्रकारे ज्ञे अन्तेवासी पशु आपशो तिरस्कार करी है, त्यारे पशु शरणभावनाज्ञ करतां रहेवुं ज्ञेर्ये। (अन्तेवासीनो अर्थ छे-शिष्यः प्रायीन सभयमां शिष्यो अध्ययन भाटे गुङ्गा आश्रभमां ज्ञ रहेता हता तेथी तेमने अन्तेवासी

१ पोषितुमावश्यकानां पोषणं येन तत् पोष्यपोषणम्, आवश्यकलौकिकोपयोगिद्व्यादि तस्य रक्षणे, इत्यधिकम् ये ।

કહेवाता हुता.) आपछा शिष्योने भषावी तेमना पर उपकार करवाने कारणे स्वयंभां गर्व थर्ट शके छे, ज्ञे अनिष्टनुं कारण छे. ते गर्व-निवृत्ति भाटे अही “अन्तेवासी” शब्दस्थी अलग रीते उपदेश देवाई रहो छे। ॥ १२ ॥

जीव मैं यदि धैर्य भी न हो, तब भी ‘आश्रय’ से ही सभी कुछ सिद्ध हो जायेगा, यह बात आगे अहंकार इत्यादि शब्दों से कही जा रही है।

अहंकारकृते का अर्थ है—अभिमान करने पर; अर्थात् उस अभिमान से उत्पन्न हुए दोष की निवृत्ति के लिए एवं स्वयं अभिमान की निवृत्ति के लिए यह उपदेश दिया जा रहा है। ‘च’ शब्द से अहंकार जैसे अन्य न कहे दोष भी गिन लेने चाहिए, उन दोषों की निवृत्ति के लिए भी यह उपदेश है। भगवद्-आश्रय के अतिरिक्त इन दोषों की निवृत्ति का अन्य कोई भी उपाय नहीं है—यह ‘ए’ शब्द से ज्ञात होता है। अब पोष्यपोषणरक्षणे शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। ‘पोष्य’ उहें कहते हैं, जिनका पालनपोषण हमारे द्वारा किया जाता है अर्थात् हमारे परिवारजन। जब हम अपने परिवारजनों का पालनपोषण करते हैं या उनकी रक्षा करते हैं तब कैसे/क्या भावना करती चाहिए, यह टीकाकार आगे बता रहे हैं। अपने परिवारजनों का पालनपोषण या उनका रक्षण करने से हम मैं लौकिकबुद्धि आ जाती है कि, ये सभी कुछ हम कर रहे हैं अतः इस अहंकार से भगवत्सेवा में विद्ध होता है। और यदि हम उनका पालनपोषण न करें तो हम भगवद्-भक्तों को पीड़ा दे रहे हैं क्योंकि वे भी तो हमारे संग ही निवेदित हुए हैं अतः वे भी भगवद्-भक्त तो हैं ही ही। इन दोनों समस्याओं का निवारण करने के लिए यहाँ भगवान की शरणागति का उपदेश दिया जा रहा है। अतः यहाँ परिवारजनों का पालनपोषण कर हो हों या रक्षण, चाहे वे हमारा तिरस्कार भी करते हों, तब भी भगवान की शरणागति ही करनी चाहिए। वे परिवारजन भी हमारे संग ही निवेदित हुए हैं अतः वे हमारा तिरस्कार करते हों या हम उनका; आसुरभाव के बिना ये नहीं हो सकता अतः उस आसुरभाव की निवृत्ति के लिए एवं अपने द्वारा किए गये प्रयत्नों की निवृत्ति के लिए भी हम प्रयत्न न करें और प्रभु पर भरोसा रख कर उनका आश्रय मान करें शरणागति का उपदेश दिया जा रहा है। तथान्तेवास्यतिक्रमे शब्द का अर्थ है—इसी प्रकार यदि अन्तेवासी भी हमारा तिरस्कार कर दें, तब भी शरणभावना ही करते रहीं चाहिए। अन्तेवासी का अर्थ होता है ‘रिष्य’। प्राचीन समय में शिष्य अध्ययन के लिए गुह के आश्रम में ही रहा करते थे अतः उन्हें अन्तेवासी कहा जाता था। अपने शिष्यों को पढ़ा कर उन पर उपकार करने के कारण स्वयं में गर्व हो सकता है, जो अनिष्ट का कारण है। उस गर्व-निवृत्ति के लिए यहाँ ‘अन्तेवासी’ शब्द से पृथकरूप से उपदेश किया जा रहा है ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं बाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनः सिद्धौ, निमित्तात्समी । “मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धश्चाशुद्धमेव च । अशुद्धं कामसङ्गल्पं शुद्धं कामविवर्जितमि” ति श्रुतेः। कामसङ्गल्परहितमनःसिद्ध्यर्थं सेवाश्रयाद्यनुकूलमनःसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । सर्वार्थं पुष्ट्यादिमार्थीयसकलपुरुषार्थाद्यर्थम्, अतिदीनभावसिद्ध्यर्थोयमुपदेशः। शरणं हरिः व्यास्त्यात्मेतत् । एवं विषयमुपादिव्य रक्षणप्रकारमाहुरेवमित्यादि । चित्ते भावनेन भगवानाश्रयं ददाति । क्षणमात्रमप्यासुरावेशाभावार्थं सदेति । बाचा परितः कीर्तनेन मार्गः प्रचलति । तेनेभ्योपदेशः ॥ १३ ॥

“**अतौडिकमनः सिद्धौ**” शब्दानां निमित्त-समझी छे। (आने सभूत्या भाटे आज शब्दनुं विवरण श्रीरघुनाथजीं नी दीकामां जुओ) “मन ऐ प्रकारनुं होय छे एक शुद्ध अने भीजुं अशुद्ध. अशुद्ध मन कामवासनाओंनी तरक लर्ट ज्य छे अने शुद्ध मन कामरहित होय छे”, आ श्रुतिने अनुसार कामवासनाओंथी रहित मननी सिद्धि भाटे अर्थात् सेवा-भगवदाश्रयने अनुकूल मननी सिद्धि भाटे सर्वथा हरिनी ज शरणभावना करवी नोर्जचे, आ अर्थ छे. पुष्टिभागीर्थी सभस्त पुञ्चार्थनी सिद्धि अने अति दीनभाव सिद्ध करवा भाटे आ उपदेश देवाई रहो छे। “शरणं हरिः” पदनी तो अभे उपर व्याख्या की दीधी छे तेथी आ प्रकारे “आश्रय” नो उपदेश कर्त्या पछी हये तेना रक्षणनो प्रकार आश्रयचरणे “चेष्टम्” लगेरे शब्दोंथी कही रह्या छे। आ पंजिनो अर्थ ए छे के -उपर्युक्त सभस्त उपदेशोनी (अटले भार लोकी सुधी कहेला उपदेशोनी) यित्तमां भावना करवाथी भगवान् “आश्रय” सिद्ध करवी दे छे। आ प्रकारे एक वार आश्रय सिद्ध थर्ट गया पछी एक क्षण भाटे पाण असुरवेशा न थर्ट ज्य, ते भाटे अही “सदा” पद प्रयुक्त कर्त्या छे। वाणी द्वारा सुचाङ रपे दीर्तन करवाथी पुष्टिभाग उचित प्रकारे निभे छे तेथी मन अने वाणी बने ने भगवानामां जेडवानो उपदेश आपवायां आप्यो छे ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ शब्द मैं निमित्त-समझी है । इसे समझने के लिए इसी शब्द का विवरण श्रीरघुनाथजी की टीका मैं देख लैं । “मन दो प्रकार का होता है एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध । अशुद्ध-मन कामवासनाओं की ओर ले जाता है और शुद्ध-मन कामरहित होता है”—इस श्रुति के अनुसार कामवासनाओं से रहित मन की सिद्धि के लिए अर्थात् सेवा-भगवदाश्रय के अनुकूल मन की सिद्धि के लिए सर्वथा

हरि की ही शरणभावना करनी चाहिए, यह अर्थ है। पुष्टिमार्गीय समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि एवं अति दीनभाव सिद्ध करने के लिए यह उपदेश दिया जा रहा है। शरणं हरिः पद की तो हमने उपर इत्यादि शब्दों से कह रखे हैं। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि - उपर्युक्त समस्त उपदेशों की अर्थात् वाह इलोकों तक मैं कहे उपदेशों की चित्त में भावना करने से भगवान् 'आश्रय' सिद्ध करा देते हैं। इस प्रकार एक बार आश्रय सिद्ध ही जाने के पश्चात् एक क्षण के लिए भी आसुरप्रवेश न हो जाय, इसलिए यहाँ 'सदा' पद प्रयुक्त किया गया है। वाणी द्वारा भलीभांति कीर्तन करने से पुष्टिमार्ग उचित प्रकार से निभंता है अतः मन एवं वाणी दोनों को भगवान् मैं जोड़ने का उपदेश दिया गया है॥ १३॥

कार्यिकमाहुरन्यस्येत्यादि ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य भजनं वर्जयेत्। अन्य देवत्येन कामपूरकत्वादिदुराशया वा न सेवेत। तत्र स्वतो गमनमेव च, तत्कारणभूतं तत्र तत्समीपे स्वत उद्यम्य गमनञ्च वर्जयेदेव। “यावदन्याश्रयस्तावद्धगवानपि तं जनम्, विलोकयेन दयया ह्यन्यजनवत्सल” इति वाक्यादन्याश्रये भगवानाश्रयमपि न दद्यादिति ज्ञापनायैवकारः। कौतुकार्थमप्यम्बिकालयगमने नन्दग्रासस्योक्त्वाच्। मध्येमार्गं सामीपे जाते त्वबद्धां न कुर्याद्, भगवत्सेवकत्वावयवत्यादिकं भावयेदित्यपि सूचितम्। **प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत् ।** तेन कार्यव्याप्तोऽहे भगवति प्रार्थनां कदाचित् सकृत्कुर्यादपीति सूच्यते ।

हवे कायाने भगवानमां कृष्ण प्रकारे ज्ञेही, ए आचार्यरथरणो “अन्यस्य” वगेरे शब्दोदीथी भतावी रहा छे.

“अन्यस्य” वगेरे शब्दोनो अर्थ छे- भगवान सिवाय अन्य भीज देवोनुं भजन न कर्वुं ज्ञेहीये अथवा ऐम समन्वे के पोतानी कामनाओनी पूर्ति करवाना दुराशयथी अन्य देवोनी सेवा न करवी ज्ञेहीये. अने, “स्वतो गमनमेव च” शब्दोनो अर्थ एे छे के, आवा दुराशयथी ते देवताओनी पासे प्रयत्न करीने न कर्वुं ज्ञेहीये. “ज्यां सुधी ज्याने अन्याश्रय छे, त्यां सुधी भगवान पशु तेना पर द्यादृष्टि नथी करता केम्डे तेओ तो अन्यजनवत्सल छे”, आ वाक्यानुसार अन्याश्रय करवा पर भगवान पशु आश्रय नथी आपता आ अर्थ ने भताववा माटे आचार्यरथरणो ए “अेव” शब्दनो प्रयोग कर्यो छे. नंदरात्यल तो केवण उत्सुकता-वश देवी अंबिका ने त्यां गया हता अने काजनो ग्रास भनी गया हता, आ श्रीभद्र-भागवतमां वर्णित छे. (जुओ श्रीभद्र-भागवत १०/३४/१.....१९). वर्षे २८तामां बो कोई देवोनुं मंदिर आवी ज्य तो तेमनी अवशा न करवी ज्ञेहीये परंतु “आ देवता पशु भगत्सेवक होवाने कारणो भगवानां अंग ज छे”, अेवी भावना करवी ज्ञेहीये, आ सूचित थाय छे. **प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत् ।** वगेरे शब्दोनो अर्थ ए छे के अन्य देवताओने तो कोई ऐक कर्ष माटे पशु प्रार्थना न करवी ज्ञेहीये; पोतानुं कर्ष पूर्णं करवाना लोभभानां आपाणा पुष्टिप्रभुने चालो ऐकाद वार प्रार्थना करी पशु लीधी तो कोई वांधो नहीं परंतु बीज देवताओने तो ऐक वार पशु नहीं, आ सूचित थाय छे.

अब काया को भगवान मैं किस प्रकार से जोड़ना, यह आचार्यवर्णण अन्यस्य इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं ।

अन्यस्य इत्यादि शब्दों का अर्थ है- भगवान के अतिरिक्त अन्य दूसरे देवों का भजन नहीं करना चाहिए। अथवा यों समझें कि अपने कामनाओं की पूर्ति करने के दुराशय से अन्य देवताओं की सेवा नहीं करनी चाहिए। और, स्वतो गमनमेव च शब्दों का अर्थ यह है कि, ऐसे दुराशय से उन देवताओं के पास प्रयत्न करके नहीं जाना चाहिए। “जब तक जीव को अन्याश्रय है, तब तक भगवान भी उस पर दयादृष्टि नहीं करते क्योंकि वे तो अन्यजनवत्सल हैं” इस वाक्यानुसार अन्याश्रय करने पर भगवान भी आश्रय नहीं देते हैं, इस अर्थ को बताने के लिए आचार्यचरणों ने ‘एव’ शब्द का प्रयोग किया गया है। नंदरात्यजी तो केवल उत्सुकता-वश देवी अंबिका के यहाँ गये थे और काल का ग्रास बन गये थे, यह श्रीभद्र-भागवत मैं वर्णित है। देखे श्रीभद्र-भागवत १०/३४/१.....१९। बीच रात्ते मैं यदि कोई देवता का मंदिर आ जाय तो उनकी अवशा नहीं करनी चाहिए परंतु “ये देवता भी भगवत्सेवक होने के कारण भगवान के अंग ही हैं”, ऐसी भावना करनी चाहिए, यह सूचित होता है। **प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत् इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि अन्य देवताओं से तो किसी एक कार्य के लिए भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिए; अपना कार्य पूर्ण करने के लोभ मैं अपने पुष्टिप्रभु से चलो एकाध-बार प्रार्थना कर भी ली तो कोई हानि नहीं परंतु दूसरे देवताओं से तो एक बार भी नहीं, यह सूचित होता है ।**

श्रीरघुनाथचरणैस्तु प्रार्थनापदं प्रथमान्तं कार्यैत्यथाहृत्य व्याख्यातम् । “अपृष्ठा यस्तु यां काञ्चित्क्रियां नारभते हरिम् । असम्मिन्नार्थमर्यादस्तस्य तुष्ट्यति केशव” इति विष्णुर्घर्मीयशङ्करीतावाक्येनोपष्टव्यञ्च । तथा च प्रार्थनापदं विज्ञापनमात्रपरमिति

तेपामाशयः । एवत्र न पूर्वग्रन्थविरोधोपीति युक्ततमेव तैर्विष्मृष्टम् ।

श्रीरघुनाथरथोभे तो “‘प्रार्थना’” शब्दने द्वितीया-भडुवचन न मानी ने प्रथमा-भडुवचन वज्र मानी छे. (नाडीलो के “‘प्रार्थना’” शब्द प्रथमा-भडुवचन अने द्वितीया-भडुवचन बनेमां ऐस समानज रहेश अर्थात् “‘प्रार्थना’” वज्र रहेश. परंतु बने परिस्थितिमां तेनां अर्थ अवश्य भद्रतार्थ जशे. द्वितीयाभां अर्थ करवाथी वाक्य बनशे “‘प्रार्थनाने करवी वर्जित छे’” अने प्रथमा ना अर्धमां वाक्य बनशे “‘प्रार्थना पश न करवी लेईये’”. टीकाकार उहे छे के श्री रघुनाथले ने प्रथमा वालो अर्थ मान्य छे, तेथी अर्थ ऐ थेथो के, “‘अन्य देवताओने प्रार्थना पश न करवी लेईये’”). विष्णुधर्मी शंकरगीतामां कहेला, “‘जे भगवानाने पूर्णयां वग्र कोई पश डियानो आरंभ नथी करतो, तेवी आर्थमर्यादा नो भंग न करवावाणा व्यक्तिनी उियाथी देशव संतुष्ट थाय छे’”, आ वाक्यानुसार “‘प्रार्थना’” नो अर्थ केवल प्रभुने विज्ञापन करी देवुं (बतावी देवुं) छे- आ श्रीरघुनाथले नो आशय छे. आ प्रकारे तेमनुं भन्तव्य पूर्वग्रन्थोनी विज्ञु पश नथी वज्र, तेथी तेमाले आनी धुक्ततर वज्र व्याख्या करी छे.

श्रीरघुनाथचरणों ने तो “‘प्रार्थना’” शब्द को द्वितीया-बहुवचन न मान कर प्रथमा-बहुवचन ही माना है । जानना चाहिए कि “‘प्रार्थना’” शब्द प्रथमा-बहुवचन एवं द्वितीया-बहुवचन दोनों में एकसमान ही रहेगा अर्थात् “‘प्रार्थना’” ही रहेगा । परंतु दोनों परिस्थिति में इसके अर्थ अवश्य बदल जायेंगे । द्वितीया में अर्थ करने से वाक्य बनेगा “‘प्रार्थना को करना वर्जित है’” और प्रथमा के अर्थ में वाक्य बनेगा-“‘प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिए’” । टीकाकार कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी को प्रथमा वाला अर्थ मान्य है, अतः अर्थ यह हुआ कि - “‘अन्य देवताओं से प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिए’” । विष्णुधर्मीय शंकरगीता में कहे “‘जो भगवान से पूछे विना किसी भी क्रिया का आरंभ नहीं करता, ऐसे आर्थमर्यादा को भंग न करने वाले व्यक्ति की क्रिया से केशव संतुष्ट होते हैं’” इस वाक्यानुसार “‘प्रार्थना’” का अर्थ केवल प्रभु को विज्ञापन कर देना बता देना है- यह श्री रघुनाथजी का आशय है । इस प्रकार उनका मन्तव्य पूर्वग्रन्थों से विरुद्ध भी नहीं जाता, अतः उन्होंने इसकी युक्तर ही व्याख्या की है ।

याचनव्यवहारासाधारणकारणीभूतः कायादिव्यापारारोयं ददात्वित्यभिसन्विष्मृको वा सः प्रार्थना । तदकारणमनभिसंहितं स्वज्ञातवस्तुस्वरूपमात्रकथनं विज्ञापनमिति तयोः स्त्रःस्तप्तेदादुवितं चैतत् । स्वाम्यधीनत्वदार्ढेन विकेतोपष्टमात् । आज्ञाया विलम्बे धैर्यस्याप्युष्टम्भादाश्रयदाहृत्यैन तथ्य शीघ्रं स्वकार्यक्षमत्वसिद्धेन्निति । तथान्यत्र विवर्जयेत् । यथा भगवति सकृतार्थेन सर्वविज्ञापनश्च, तथेतरेषु विशेषणं वर्जयेत्, तदुभयमपि सर्वथा न कुर्यादित्यर्थः । मनसाव्यविचारणं वर्जने विशेषः । एवं कार्यक्रमुपादिष्टम् ॥ १४ ॥

प्रार्थना करवी तो तेने कहे छे, ज्यां हाथ लेडीने याचना कराय अथवा तो “‘मने आपो’” आ प्रकारे मांगवामां आवे. अने ज्यां आ प्रकारे याचना न करवामां आये अने पोतानी लालोली वस्तुनुं केवल स्वत्रृप कही देवामा आवे, तेने विज्ञापन कहे छे. आ प्रकारे प्रार्थना अने विज्ञापन ना स्वत्रृपमां लेद छे, तेथी तेमाले जे विवरण कर्तुं छे ते उचित वज्र छे. ज्यारे ज्यने स्वामी-प्रभु प्रत्ये पोतानी अधीनतानी भावना दृढ थर्त अथ छे, त्यारे ते विवेक नथी खोतो अने ते प्रकारे तेमनाथी प्रार्थनाओ नथी करतो. आ प्रकारे ज्यारे ज्यव सभस्त कार्योनो आरंभ करता फेलां भगवानी आज्ञा दे छे अने भगवद-ईश्वरा ज्यावामां ज्यारे ऐने विलंब थाय छे तो ऐना धैर्यनी परीक्षा थर्त ज्य छे अने ऐनाथी धैर्य सुदृढ थतो ज्य छे. अने आ व्याधी ऐनो भगवदाश्रय दृढ थाय छे अने ते पोताना कार्योने शीघ्र वज्र सिद्ध करवामां सक्षम बने छे. हुवे “‘तथान्यत्र विवर्जयेत्’” शब्दोनी व्याख्या करी रह्या छे. आनो अर्थ ऐ छे के लेड “‘आपाणा भगवानी अधीनतानी भेक्षयार प्रार्थना करी पश लीधी तो कोई हानि नथी’”, आ भतावधामां आव्युं अने ऐ पश भतावधामां आव्युं के आपाणां सभस्त कार्यों नो आरंभ करता फेलां तेमने विज्ञापित करी देवा लेईये, तेवुं बीज्ञ देवताओनी जेडे तो क्यारेय न करवुं लेईये, तेने विशेषज्ञपथी वर्जित करवुं लेईये. तेमनाथी न तो प्रार्थना करवी लेईये अने न तो विज्ञापन, आ अर्थ छे. “‘विवर्जयेत्’” शब्दमां “‘विं” उपसर्गीयी ऐ अर्थ बने छे के शरीरथी तो ठीक परंतु मन थी पश ऐवो विचार न करवो लेईये. आ प्रकारे अहीं शरीर द्वारा आश्रय करवानो उपदेश देवामां आव्यो ॥ १४ ॥

प्रार्थना करना तो उसे कहते हैं, जहाँ हाथ जोडकर याचना की जाय अथवा तो ‘मुझे दीजिपु’ इस प्रकार से माँगा जाय । और जहाँ इस प्रकार से याचना न की जाय और अपनी जानी हुई वस्तु का केवल स्वरूप कह दिया, उसे विज्ञापन कहते हैं । इस प्रकार प्रार्थना एवं विज्ञापन के स्वरूप में भेद है अतः उन्होंने जो विकारण किया है, वह उचित ही है । जब जीव को स्वामी-प्रभु के प्रति अपनी अधीनता की भावना दृढ हो जाती है, तब वह विवेक नहीं खोता और इस प्रकार से उनसे प्रार्थनाएँ नहीं करता । इसी प्रकार जब जीव समस्त कार्यों को आरंभ करने से पूर्व भगवान की आज्ञा लेता है और भगवद-इच्छा जानने में जब उसे विलंब होता है तो उसके धैर्य की परीक्षा हो जाती

है और इससे धैर्य सुदृढ़ होता चला जाता है। और इन सबसे उसका भगवदाश्रय दृढ़ होता है और वह अपने कार्यों को शीघ्र ही सिद्ध करने में सक्षम बनता है। अब तथान्यन्त्र विवर्जयेत् शब्दों की व्याख्या करते हैं। इनका अर्थ यह है कि जैसे 'हुमारे भगवान से एक बार प्रार्थना कर भी तो तो कोई हानि नहीं', यह बताया गया और यह भी बताया गया कि, अपने समस्त कार्य आरंभ करने से पहले उन्हें विज्ञापित कर देने चाहिए, वैसे दूसरे देवताओं के संग तो कदापि नहीं करना चाहिए, उसे विशेषरूप से वर्जित करना चाहिए। उनसे तो न प्रार्थना करनी चाहिए और न ही विज्ञापन, यह अर्थ है। 'विवर्जयै' शब्द में 'वि' उपर्या से अर्थ यह बनता है कि शरीर से तो ठीक परंतु मन से भी ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ शरीर द्वारा आश्रय करने का उपदेश दिया गया ॥ १४ ॥

अतः परमेतत्सर्वसिद्धर्थ्य बाधकत्यागोवरयं वक्तव्यस्तमाहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

"मदुक्तावि" ति शेषः । "आश्रय" इति वा । सर्वथेति, स्वरूपतः फलतश्च । तु पूर्वपक्षनिरासकः । "यस्य स्यादद्वा न विचिकित्सास्ती" ति श्रुतिम्, "अङ्गश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनशयती" त्यादिस्मृतिश्च प्रमाणत्वेनाक्षिपति । तहि तत्त्विकर्त्तनायोपायो वक्तव्य इत्यत आहुः ब्रह्मसे त्यादि । ब्रह्मास्त्रं ताकश्चेत्युद्धी अविश्वासस्य बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथा यथं भाव्यौ चिन्तनीयौ, तयोर्वृत्तान्तः स्मर्तव्य इत्यर्थः । यथा लङ्घायां राक्षसैर्ब्रह्माद्वेषं हनुमान् बद्धस्ततस्तं बद्धं निश्चेष्टमालोक्य तै रज्जुभिर्बध्युमारव्यस्तदा तेषां विश्वासाऽभावं दद्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतं, हनुमान्मुक्तवन्यनो रज्जुबन्धनानि बभञ्ज । तेन तेषां प्रयोगप्रयासां वर्योऽभूत् । तथात्राविश्वासे भगवानपि त्यजित भक्तिमार्गं शरणमार्गं च प्रवृत्तिपी वृथा भवतीत्यविश्वासे दृष्टान्तः ।

हुवे आना पछी विवेक-धैर्य-आश्रयने सिद्ध करवामां जे-जे वस्तुओ बाधक है, तेमनो त्याग करवानु अवश्य कथनीय छे तेथी ते बाधकोने "अविश्वासः" वगेरे शब्दोद्धी आचार्यरङ्गो कही रह्या छे.

आ श्लोक द्वारा आचार्यरङ्गो आ आशा करी रह्या छे के, अभारा कह्या पर अविश्वास न करवो ज्ञेर्हये केमडे ते सर्वथा बाधक है, अथवा आ श्लोकोनो अर्थ ओम करी लहीचे के भगवद्-आश्रयनां सामर्थ्य पर क्यारेय पशु अविश्वास न करवो ज्ञेर्हये केमडे ते सर्वथा बाधक है, "सर्वथा" बाधक है-ये कहेवानो अर्थ ए छे के, अविश्वासनु स्वदृप पशु बाधक है तेथी अविश्वासथी ग्राम थवावाणु इण पशु बाधक है, "तु" शब्द "अविश्वास सर्वथा बाधक ज है, एमां कोई सदैह नथी" आ अर्थो धोतक है, केमडे, "वे व्यक्ति भगवानना विषयमां सदैहरुहित है, पछी तेने कोई सहायतानी आवश्यकता नथी (छा. ३/१४/४)", आ श्रुति अने, "मूर्ख, शाक्षोंमां श्रद्धा न राप्या वाणा अने संशय करवावाणा व्यक्तिनु पतन थैज ज्य छे (भ. गी. ४/४०)", ईत्यादि वाक्योद्धी आ वात प्रभाशसिद्ध है, आटलु कहेवा छतां पशु आचार्यरङ्गोने ए विचार आव्यो ते अविश्वासना विषयमां हुलु पशु कुर्हकुरु ज्ञेर्हये, त्यारे हुवे श्रीआचार्यरङ्गो अविश्वासने दूर कर्वा भाटे भ्रह्मास्त्र वगेरे शब्दोद्धी दृष्टांत आपी रह्यां छे, तेथो आशा करे छे के, अविश्वास बाधक है ते "भ्रह्मास्त्र" ना दृष्टांतथी समजे अने विश्वास फूलसाधक है ते चातकना उदाहरणशी समलु आ बंने वृत्तांतेनु स्मरण करो, आ अर्थ छे, केम लंकामां राक्षसोंचे हनुमानलुने बांधातो भरां, परंतु बांध्या पछी तेमने निश्चेष्ट ज्ञेर्हने तेमणे एक रस्सीधी फूरीधी बांधवानु चालु कुर्हु, त्यारे हनुमानलु तेमनो भ्रह्मास्त्र उपर पूर्ण विश्वास न ज्ञेर्ह भ्रह्मास्त्रने तोडीने निकली गया अने रस्सीने पशु तोडीने भुक्त थैज गया, तेथी राक्षसोंना सभस्त प्रयोग, सभस्त प्रयास वर्थं थैज श्या, तेज प्रकारे अहीं पशु अविश्वास करवा पर भगवान पशु भक्तनो त्याग करी है छे अने त्यारे अनी भक्तिमार्गामां अने शरणमार्गामां प्रवृत्ति पशु वृथा थैज ज्य छे, आ प्रकारे आचार्यरङ्गो आ "भ्रह्मास्त्र" ना संदर्भ द्वारा अविश्वासमां दृष्टांत आभूत्, हुवे विश्वासमां "चातकपक्षी" नु दृष्टांत आपी रह्या छे.

अब इसके पश्चात् विवेक-धैर्य-आश्रय को सिद्ध करने के लिए जो-जो वस्तुपै बाधक हैं, उनका त्याग करना अवश्य कथनीय है अतः उन बाधकों को अविश्वासः इत्यादि शब्दों से आचार्यरचरण कह रहे हैं ।

इस श्लोक द्वारा आचार्यरचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, मेरे कहे पर अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सर्वथा बाधक है। अथवा इस श्लोक का अर्थ यों कर लें कि, भगवद्-आश्रय की सामर्थ्य पर कभी भी अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सर्वथा बाधक है। सर्वथा बाधक है- यह कहने का अर्थ यह है कि, अविश्वास का स्वरूप भी बाधक है एवं अविश्वास करने से प्राप्त होने वाला फल भी बाधक है। 'तु' शब्द "अविश्वास सर्वथा बाधक ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है" इस अर्थ का धोतक है। क्योंकि "जो व्यक्ति भगवान के विषय में संदेहहित है, फिर उसे किसी सहायता की आवश्यकता नहीं है" (छा. ३/१४/४) इस श्रुति एवं "मूर्ख, शाक्षों में श्रद्धा न रखने वाले एवं संशय करने

वाले व्यक्ति का पतन हो जाता है (भ. गी. ४/८०)" इन्यादि वाक्यों से यह बात प्रमाणसिद्ध है। इतना कहने के बाद भी आचार्यचरणों का विचार आया कि अविश्वास के संदर्भ में कुछ और भी कहना चाहिए। अतः वे अविश्वास को दूर करने के लिए ब्रह्माश इन्यादि शब्दों से दृष्टांत दे रहे हैं। वे आज्ञा करते हैं कि अविश्वास आधारक है, यह 'ब्रह्माश' के दृष्टांत से समझें और विश्वास फलसाधारक है, यह चातक के उदाहरण से समझकर इन दोनों वृत्तांतों का समरण करें, यह अर्थ है। जैसे लंका में राक्षसों ने हनुमान जी को बोधा तो सही परंतु वृथांते के पश्चात् उन्हें निष्ठेष देखकर उन्होंने एक सरसी से और वाँधना आरंभ किया। तब हनुमानजी उनका ब्रह्माश पर पूर्ण विश्वास न देखकर ब्रह्माश को नोड वर निकल गये और सरसी को भी तोड़ कर मुक्त हो गये। अतः राक्षसों के समस्त प्रयोग, समस्त प्रयास वर्य हो गये। उपरी प्रकार यहाँ भी अविश्वास करने पर भगवान् भी भक्त का न्याय कर देते हैं और तब उसकी भक्तिर्मार्ग में और शरणार्थी में प्रवृत्ति भी बुधा हो जाती है। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने इस 'ब्रह्माश' के संदर्भ द्वारा अविश्वास में दृष्टांत दिया। अब विश्वास में 'चातकपक्षी' का दृष्टांत दे रहे हैं।

चातकः पक्षिविशेषः; स च स्वातिविन्दुमासाद्या-वर्षपर्यन्तं, विश्वासेन तिष्ठति, तेन तस्य क्षेमं निर्बहति, पुनश्च स्वातौ पर्जन्यो वर्षत्येव। तथात्र श्रीमदाचार्योत्तौ विश्वासे, तथा भगवति मार्मां च विश्वासे सर्वं सिद्ध्यतीति विश्वासे दृष्टान्तः। तथा चाविश्वासं परित्यज्य विश्वासं कृत्वा प्राप्तं सेवेत निर्ममः, लौकिके ममतां परित्यज्य यहृष्यत्या प्राप्तं सुखं वा दुःखं वा तत्साधनं बाऽनुभवेत् तु तत्राभिनिवेशेतत्यर्थः ॥ १५ ॥

चातक ऐक विशेष प्रकारनु पक्षी होय छे, जे स्वातिष्ठलनी ऐक बूँद भाटे विश्वासपूर्वक वर्षभर प्रतीक्षारत रहे छे। आज विश्वासस्थी अनुं कल्याण थाय छे केंगेप ऐसी स्वाति-नक्षत्रमां गेध वृद्धि करे ज्ञ छे। आज शीते अहीं पछु श्रीमदाचार्यरथरणोना कह्या पर विश्वास करवाथी अने तेज रीते भगवान् पर अने आ भगवद्भार्गा पर विश्वास करवाथी बधुंज सिद्ध थाय छे। आ प्रकारे अहीं विश्वास भां "चातक" पक्षी नुं दृष्टांत देवामां आधुं, तेथी अविश्वासनो त्याग करीने विश्वास राखीने सांसारिक वस्तुओं पर भवता न राखता भगवद्देवता कर्त्तव्यी लेईये। लौकिक भां भवतानो परित्याग करीने सुख के दुःख भगवद्दिष्ठाथी वे ग्राम थाय छे, तेनो अनुभव करता रहीने लुवं लेईये, तेभानामां आसक्त न थर्थ ज्वं लेईये, आ अर्थ छे ॥ १५ ॥

चातक एक विशेष प्रकार का पक्षी होता है, जो स्वानिजल व्री एक वृँढ के लिए विश्वासपूर्वक वर्षभर प्रतीक्षारत रहता है। इसी विश्वास मे उसका कल्याण होता है क्योंकि बाद में स्वानि-नक्षत्र में मध्य वर्षा करता ही है। इसी प्रकार यहाँ भी श्रीमदाचार्यचरणों के कहे पर विश्वास करने से और इसी प्रकार भगवान् पर एवं इस भगवद्-मार्ग पर विश्वास करने से सभी कुछ सिद्ध होता है। इस प्रकार से वहाँ विश्वास में 'चातक' पक्षी का दृष्टांत दिया गया। अतः अविश्वास का न्याय करके विश्वास रुक्षर मांसारिक वस्तुओं पर ममता न रखते हुए भगवद्देवता करती चाहिए। लौकिक में ममता का परित्याग करके सुख या दुःख भगवदिन्द्वारा से जो ग्राम होता है, उसका अनुभव करते हुए रहना चाहिए, उनमें आसक्त नहीं हो जाना चाहिए, यह अर्थ है ॥ १५ ॥

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाह्यप्रकारमादुर्यथा कथञ्चिदित्यादि ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्वरिम् ॥ १६ ॥

उच्चानि सेवार्थानि, अबचानि लौकिकार्थानि, उभयान्युभयविधानि वा यथा कथञ्चित् कुर्यात् नतु कृणादिना, नापि लौकिकसम्भ्रामेणत्यर्थः। एवमपि कथञ्चिन्वन्ध्यसम्भवे तत्रायुषायमाहु किं वेत्यादि। बहुना प्रोक्तेन किं, न हि यावन्तः प्रकाराः कालकर्मस्वभावसङ्गदेशादिनिवन्धना आनन्द्याद्रुकुं शक्यन्ते। तस्माद्विमात्रेणोक्तेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वमुक्तस्तमेव सर्वत्रानुनान्दध्यादित्याशयेनानुवदन्ति शरणं भावयेद्वरिमिति। "सर्वधर्मान्परित्यज्ये"त्यत्र "तस्मात्त्वमुद्धवे"त्यत्र च भगवता तथैव निष्प्रारितत्वाच्छरणागतेषु तेनैव निर्बाह्यस्य ब्रजस्येषु सत्यत्रतस्तस्यांदिषु दर्शनाच्चत्यर्थः। एतेनाङ्गाभावेष्याश्रयस्यासहायशूरता निर्दर्शिता ॥ १६ ॥

परंतु आ प्रकारे आसङ्गितरहित थर्थने लौकिक वगेरे कार्योंनो निर्वाह केवी रीते करवो? आ "यथा कथञ्चित्" वगेरे शब्दो द्वारा श्रीआचार्यरथरणो कही रह्या छे।

"उच्चानि" नो अर्थ छे - भगवद्देवता कथञ्चित् कार्यो; "अबचानि" ऐटेसे लौकिकी संबंधित कार्यो; आ बने प्रकारना कार्योंने येनकेन प्रकारेण करी देवा लेईये, न तो देवुं करीने अने न तो लौकिक कर्थ सभल्ने परंतु भगवान्नी ईच्छा भानीने करी देवां लेईये, आ अर्थ छे। आटलुं कर्या पछी पशु ले कोई प्रकारथी कोई भाष्क उपस्थित थर्थ ज्य, तो तेनो उपाय

“‘किंवा’” वगेरे शब्दोंथी कही रह्या छे. “‘बहुना प्रोक्तेन क्षि’” वगेरे शब्दोंथी आचार्यरचरणो ए आज्ञा करी रह्या छे के, काल-कर्म-स्वभाव-संग-देश वगेरेथी थवावाणा बंधनो तो अनंत छे, क्यां सुधी कहीअे ? तेथी आचार्यरचरणोअे आ बंधनो ना उपायोनी दिशामात्र प्रदर्शित करी दीधी छे. बधी परिस्थितिओमां आज उपायो नुं अनुसंधान करता रहेवु लेर्हाये, तेने फ्रीथी “‘शरणं भावयेद्विरिभू’” शब्दोंथी आचार्यरचरणो कही रह्या छे. भगवाने पाण, “‘समस्त धर्मोनो परित्याग करीने एकमात्र भारी शरणमां आवी ज्ञ (श्री. भ. गी. १८/६६)”, “‘तेथी हे उद्घव ! समस्त विषयोनो परित्याग करीने डेवण भारी शरणमां आवी ज्ञ (श्री. भा. ११/१२/१४)”, वगेरे वाक्यो द्वारा आज निर्धारित क्षुं छे. तेथी प्रबल्भक्तो, सत्यप्रत अने समझियो वेवा शरणागतोना लुवनमां पाण आज प्रकार देखाई आवे छे, आ अर्थ छे. (राज सत्यप्रत अने सम-ऋषिओनी कथा श्री. भा. ८/२४/१०.....५६ मां जुओ). आ प्रकार उपर्युक्त विवेचनोथी विवेक-धैर्य वगेरे अंगो वगर पाण भगवद्-आश्रय बधुंज इवतामां समर्थ छे, आ निर्धारित थाय छे ॥ १६ ॥

इस प्रकार से आसक्तिरहित होकर तौकिक-आदि कार्यों का निर्वाह कैसे करना ? यह यथा कथश्चित् इत्यादि शब्दों द्वारा वता रहे हैं ।

उच्चानि का अर्थ है- भगवत्सेवा से संबंधित कार्य; अवचानि अर्थान् तौकिक से संबंधित कार्य; इन दोनों प्रकार के कार्यों को येनकेन प्रकारेण कर लेना चाहिए, न तो ऋण-आदि लेकर और न ही इहें लौकिक-कार्य समझ कर अपिनु भगवान की इच्छा मानते हुए कर लेने चाहिए, यह अर्थ है । इतना करने पर भी यदि किसी प्रकार से कोई वाधक उपस्थित हो जाय, तो उसका उपाय किं वा इन्यादि शब्दों से कह रहे हैं । बहुना प्रोक्तेन किं इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, काल-कर्म-स्वभाव-संग-देश आदि से होनेवाले बंधन तो अनंत हैं, कहां तक कहें ? अतः आचार्यःचरणों ने इन बंधनों के उपायों की दिशामात्र प्रदर्शित कर दी है । सभी परिस्थितियों में इन्हीं उपायों का अनुसंधान करते रहना चाहिए, इसे पुनः वे शरणं भावयेद्विरिभू शब्दों से कह रहे हैं । भगवान ने भी ‘समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में आ जा (भ. गी. १८/६६)’ एवं “‘इसलिए हे उद्घव ! समस्त विषयों का परित्याग करके मात्र मेरी शरण में आ जाओ (श्री. भा. ११/१२/१४)’” इत्यादि वाक्यों द्वारा यही निर्धारित किया है अतः ब्रजभक्त, सत्यव्रत एवं समकृष्ण जैसे शरणागतों की जीवनी में भी यही प्रकार दिखाई देता है, यह अर्थ है । राजा सत्यव्रत एवं सम-ऋषियों की कथा श्री. भा. ८/२४/१०.....५६ में देखें । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों से विवेक-धैर्य आदि अंगों के बिना भी भगवद्-आश्रय सभी कुछ करने में समर्थ है, यह निर्धारित होता है ॥ १६ ॥

एवंमार्गमुपदिश्योपसंहरन्त्येवमित्यादि ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

एवंमुक्तप्रकारेण आश्रयणं मार्गरूपं प्रोक्तं, प्रकर्पणं विवेकवैर्यसाहित्येन कैवल्येन चोक्तम् । तदिदं सर्वेषां वर्णाश्रमयुक्तानां तद्रहितानां च सर्वदाऽस्मिन्युगे युगान्तरे च सम्पदापक्ताले च द्वितम् यथाधिकारमुक्तमफलजनकम्,

आ प्रकारथी विवेक-धैर्य-आश्रयथी युक्त पुष्टिभक्तिभाग्नो उपदेश करीने आचार्यरचरणो हवे “‘अेवं’” वगेरे शब्दोंथी उपसंहार-समाप्ति करी रह्या छे.

“‘अेवम्’” शब्दनो अर्थ छे- पाछलां सोण म्लोकीमां कहेला प्रकारथी; “‘आश्रयणं’” नो अर्थ छे-भगवद्-आश्रयत्तपी पुष्टिभाग्न; अने “‘प्राक्तं’” शब्दमां लेडापेला “‘प्र’” उपसर्गनो अर्थ ए छे के, आचार्यरचरणो आश्रय ना स्वप्नपे स्वतंत्रङ्गपथी अने विवेक-धैर्यनी जेडे पाण सुचङ्ग रीते निःप्रित क्षुं छे. आ भगवद्-आश्रय वर्ण अने आश्रम (“‘वर्णः’” एटेले भ्राह्मण, क्षनिय, वैश्य, शूद्र अने “‘आश्रम’” एटेले भ्रह्मर्थ, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) थी युक्ता अने तेभनाथी रहित समस्त लुप्तो माटे “‘सर्वदा’” अर्थात् आ युगमां अने आववावाणा युगोमां सारा-भराब बने सभयोमां तेभना अविकार अनुसार उत्तम इण आपवावाणो छे.

इस प्रकार से विवेक-धैर्य-आश्रय से युक्त पुष्टिभक्तिभाग का उपदेश करके आचार्यचरण अब एवं इत्यादि शब्दों से उपसंहार समाप्ति कर रहे हैं ।

एवम् शब्द का अर्थ है - पिछले सोलह श्लोकों में कहे गये प्रकार से; आश्रयण का अर्थ है - भगवद्-आश्रयरूपी पुष्टिभाग्न; और प्रोक्तं शब्द में जुडे हुए ‘प्र’ उपसर्ग का अर्थ यह है कि, आचार्यचरणों ने आश्रय के स्वरूप को स्वतंत्ररूप से एवं विवेक-धैर्य के सहित

भी भर्तीभाँति से निरूपित किया है। यह भगवद्-आश्रय वर्ण एवं आश्रम 'वर्ण' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं 'आश्रम' अर्थात् ग्रहसचर्य, मुहूर्ष्य, वानप्रस्थ, संन्यास से युक्त और इनसे रहत समरत जीवों के लिए सर्वदा अर्थात् इस युग में और आनेवाले युगों में अच्छे-बुरे दोनों समयों में उनके अधिकार के अनुसार उत्तम फल देने वाला है।

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य," "किरातहूणाञ्चे" त्यादिवाक्येषु तथैव निर्झारात्। ननु तर्हि भगवता "योगास्थ" इत्प्रत्र त्रय एव किमित्युक्तः। पृथमायं कुत उक्त इत्पत आहुः कलावित्यादि। तेषां साधनसापेक्षत्वादेकक्षोटावुक्तः, अयं तनिरपेक्षोऽनुकल्परूपत्रेत्पतो भिन्नतयोक्तः। एतं भैंगवदाशयमहं जानामीत्याहुर्मैतिरिति। तथा चैतद्रूप्यं मदाङ्गारूपमनुसन्धायाश्रयं कुर्वतां सर्वथा भगवानाश्रयं ददातीत्याशयः।

भगवद्गीता ना "हे अर्जुन ! अनन्यभावथी भने शरणागत थईने भग्ना परमगतिने प्राप्त थाथ छे (६/३२) अने श्रीभद्रभागवतना "डिरात-हूण-आन्ध्र वगेरे नीथ ज्ञातियो पाणि जेभना शरणागत भक्तोनुं व शरण ग्रहण करवाथी पवित्र थई ज्य छे, ते भगवानने नमस्कार छे (२/४/१८)" , वगेरे वाक्योथी पाणि आजू निर्धारित थाय छे. परंतु अहीं प्रक्ष ए थाय छे के ज्ञे भगवाननो आश्रय करवाथीज खंडुंज सिद्ध थाय छे तो पछी स्वयं भगवाने श्रीभद्रभागवतमां, "हे उद्घव ! मनुष्यानुं कल्याण करवा माटे मे व ज्ञानयोग, कर्मयोग अने भक्तियोगनो उपदेश झों छे. परम कल्याण माटे आ नरेय सिवाय हवे कोई उपाय नथी (११/२०/६)" , आ वाक्यद्वारा आ नरेय योगो ने सर्वश्रेष्ठ उपायो केम कह्या ? तेथी आपश्री आ नरेयने छोटीने अलगायी "आश्रय" व रवानुं केम कही रह्या छे ? आ आचार्यचरणो "कलौ" वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. अहीं ए समझ लो के उपर्युक्त नरेय योगो साधनेनी अपेक्षा राखे छे तेथी एक कोटिनी अंतर्गत कहेवाभां आव्यां छे एटेके के कर्मयोग कर्मनी, ज्ञानयोग ज्ञाननी, अने भक्तियोग भक्तिनी तो अपेक्षा राख्यो व परंतु भगवदाश्रयमां आभांथी कशांयनी पश अपेक्षा नथी अने ते आ नरेनो अनुकल्प पश छे तेथी अलग थी कह्यो गयो छे. आचार्यचरणो आज्ञा करे छे के, "भगवान ना आ आश्रय ने हुं जाणुं छुं" तेथी तेओ "मे भति:" कही रह्या छे. (अर्थात् आचार्यचरणो कही रह्या छे के, भगवाने त्यां एकादश-स्कंधमां नश योगोनी वात क्या आश्रयथी कही छे अने विजे अनन्य शरणागति नी वात क्या आश्रयथी कही छे, ते तेओ ज्ञाने छे तेथी तेओ "मे भति:" अर्थात् "आ भारो भत छे" एम कही रह्यां छे), तेथी तेओ आज्ञा करे छे के, आ ग्रथमां कहेला उपेदेशोने भारी आज्ञा समझने व भगवाननो/(आचार्यचरणोनो) आश्रय करशे, तेने भगवान अवश्य "आश्रय" सिद्ध करावी देशे, आ आश्रय छे.

भगवद् गीता के "हे अर्जुन ! अनन्य भाव से मेरे शरणागत होकर सभी परमगति को प्राप्त होते हैं (९/३२) एवं श्रीमद्-भागवत के "किरात-हूण-आन्ध्र आदि नीच जातियाँ भी जिनके शरणागत भक्तों की ही शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाती हैं, उन भगवान को नमस्कार है। (२/४/१८)" इत्यादि वाक्यों से भी यही निर्धारित होता है। परंतु यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि भगवान का आश्रय करने से ही सभी कुछ सिद्ध होता है तो फिर स्वयं भगवान ने श्रीमद्-भागवत में "हे उद्घव ! मनुष्य का कल्याण करने के लिए मैंने ही ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग का उपदेश किया है। परम कल्याण के लिए इन तीनों के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है (११/२०/६)" इस वाक्य द्वारा इन तीनों योगों को सर्वश्रेष्ठ उपाय क्यों कहा ? अतः आपश्री इन तीनों को छोड़कर अगल से 'आश्रय' ही करना क्यों कह रहे हैं, यह वे कलौ इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। यहाँ यह समझ लीजिए कि उपर्युक्त तीनों योग साधनों की अपेक्षा रखते हैं अतः एक कोटि के अंतर्गत कह दिए गये हैं। अर्थात् कर्मयोग कर्म व्री, ज्ञानयोग ज्ञान की एवं भक्तियोग भक्ति की तो अपेक्षा रखेगा ही परंतु भगवदाश्रय में इनमें से किसी की भी अपेक्षा नहीं है और यह इन तीनों का अनुकल्प भी है अतः अलग से कहा गया है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, "भगवान के इस आश्रय को मैं जानता हूँ" अतः वे मे मति: कह रहे हैं। अर्थात् आचार्यचरण कह रहे हैं कि, भगवान ने वहाँ एकादश-स्कंध में तीन योग की बात किस आश्रय से कही है और अन्यत्र अनन्य शरणागति की बात किस आश्रय से कही है, वे वे जानते हैं अतः वे मे मति: अर्थात् 'यह मेरा भत है' यों कह रहे हैं। अतः वे आज्ञा करते हैं कि, इस ग्रंथ में कहे उपदेशों को मेरी आज्ञा समझकर जो भगवान फंका/आचार्यचरणों का आश्रय करेगा, उसे भगवान अवश्य 'आश्रय' सिद्ध करा देंगे, यह आश्रय है।

स्वरूपा तिरस्कृतपयोदशविं यमुनातटे रचितवेषुरवर्म् ।

ब्रजनायकं रुचिररासकरं सततं विभावय मदीयमनः ॥ १ ॥

१ "भगवदाश्रयम्" इति पाठः हस्ताक्षरे। अन्यपुस्तकेषु यथा स्त्रीकृतसत्या समीक्षीयो भावति।

विवेकधैर्याश्रयः

विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिस्तु यथामति ।

कृता तेन प्रसीदन्तु स्वाचार्याः सततं महि ॥ २ ॥

त्वदीयत्वशाद्वाद्याध्याद्यितिं मयात्र तत् ।

भूयात्स्वाचार्यमोदय बालधौत्यं यथा पितुः ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणैकतानश्चिरामलसुतश्रीब्रजराजविरचिता

विवेकधैर्याश्रयविवृतिः संपूर्णा ।

सम्पूर्णोयं ग्रन्थः ।

स्वकांतिथी भेद्धकांतिने पाणि क्षीण करनार,

यमुनातटे वेशुरव करनार,

मनोहर रास करनार-ब्रजनाथक,

‘श्रीकृष्ण’ नुँ हे भाइ भन, तु कर सतत चिंतन ॥ १ ॥

मुज भति अनुसार,

करी “विवेकधैर्याश्रय” विवृति,

तेनाथी निजभाचार्यचरणो,

सदा रहे मुज पर प्रसन्न ॥ २ ॥

मुजने त्वदीयमानी,

धृष्टाथी भे ने लघ्युं,

तेनाथी मुज आचार्यलु प्रसन्नथाभ्यो मुज पर,

लेम डोई पिता थाय भाण नी धूर्तता पर ॥ ३ ॥

आ श्रीमदाचार्यचरणोभां एकनिष्ठ श्री श्यामलसुत “श्रीब्रजराज” द्वारा विरचित “विवेकधैर्याश्रय” नी विवृति संपूर्ण थई.

अपनी कांति से मेघ की कांति को भी क्षीण कर देने वाले, यमुनातट पर वेणुगूडन करने वाले,

मनोहर रास करने वाले, ब्रजनाथक ‘श्रीकृष्ण’ का हे मेरे मन ! तू सतत चिंतन कर ॥ ? ॥

मैंने अपनी तुद्धि के अनुसार ‘विवेकधैर्याश्रय’ की विवृति की है,

इससे मेरे आचार्यचरण मुज पर सदा प्रसन्न रहें ॥ २ ॥

स्वयं को त्वदीय मानकर मैंने धृष्टाथी से यहाँ जो कुछ लिखा है; उससे मेरे आचार्यचरण मुज पर प्रसन्न हों।

जैसे पिता अपने बालक की धूर्तता पर प्रसन्न होता है ॥ ? ॥

यह श्रीमदाचार्यचरणों में एकनिष्ठ श्रीश्यामलसुत ‘श्रीब्रजराज’ द्वारा विरचित ‘विवेकधैर्याश्रय’ की विवृति संपूर्ण हुई ।

